

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष: १, अंक: 12, अप्रैल-जून 2017

मुक्ताचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...

डॉ. रघुवंश

सांस्कृतिक मूल्य-प्रक्रिया का सबसे अधिक सर्जनात्मक स्वरूप भाषा में व्यंजित होता है, अर्थात् मानवीय सर्वोत्कृष्ट अनुभव वे चाहे समाज, राजनीति, धर्म, दर्शन अथवा साधना आदि किसी क्षेत्र के हों, भाषा के चिह्नों, संकेतों, प्रतीकों, उपमानों, बिम्बों या भाषिक संरचना में उपार्जित या व्यंजित होते हैं। दूसरी ओर साहित्य का समस्त व्यंजित अनुभव अपनी सघनता, जटिलता, सम्पन्नता में भाषिक संरचना है; चिह्न, संकेत, प्रतीक, उपमान और बिम्ब आदि उसी में अन्तर्भुक्त हैं। अन्य कलाओं की तुलना में भाषा को साहित्य का माध्यम कहा गया है, उसके उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है। परंतु भाषा को साहित्य का माध्यम या उपकरण कहना भ्रामक है। भाषा अपने विशिष्ट संरचनात्मक स्तर पर साहित्य है। यही कारण है कि जिस प्रकार भाषा को मानवीय मूल्य-संदर्भों से अलग नहीं किया जा सकता और वह सांस्कृतिक मूल्य-प्रक्रिया का अभिन्न अंग है, उसी प्रकार साहित्य-चिंतन से न तो मानवीय मूल्य-संदर्भों को अलग रखा जा सकता है और न ही संस्कृति की मूल्य-प्रक्रिया को समझे बिना किसी रचना के अनुभव-विस्तार को ग्रहण किया जा सकता है।

शुक्लोत्तर समीक्षा (शुक्लोत्तर समीक्षा: सांस्कृतिक नव्यालोचन)

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-4, अंक- 12, अप्रैल-जून 2017

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया
कला संपादक : शुभांगता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति

अमरत पद अथैतनिक

व्यवस्थापन :

प्रियंका सिंह, जीवन सिंह, परमजीत कुमार पंडित

विशेष सहयोग :

डॉ. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
डॉ. इतु सिंह : खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता
निशांत : मानकर कॉलेज, बर्द्धमान
सुलेखा कुमारी : विद्यासागर कॉलेज, कोलकाता
डॉ. पुनीत कुमार राय : शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल

मुक्तांचल A/c- 50200014076551
HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09748322234
Email : anand87prasad@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

आलोचना केंद्रित-अंक

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षा	08 देवनाथ सिंह आनंद गौतम :	आलोचना का संकट: दशा और दिशा
	19 डॉ. अमरनाथ :	शुक्लपूर्व हिंदी आलोचना: पुनर्पाठ की जरूरत
पुनर्पाठ	29 नचिकेता :	शिवकुमार मिश्र की यथार्थवादी आलोचन-दृष्टि
	38 डॉ. हरेराम पाठक :	उत्तर-आधुनिकतावाद एवं आलोचना की अवधारणा
सृजन	अनुशीलन	
	42 पूनम सिंह:	नेहरू युग की कविता
संसार	विमर्श	
	48-डॉ. कमल किशोर गोयनका :	प्रेमचंद: शोध की नई दिशाएँ
संसार	54 डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	प्रेमचंद और आलोचना की चुनौतियाँ
	पुनर्पाठ	
संसार	65 रमेश कुंतल मेघ :	स्वीकार करनी होगी तुलसी की समसामयिकता भी!!
	गवेषणा	
संसार	71 प्रो. अवधेश नारायण मिश्र एवं राजीव रंजन प्रसाद :	हिंदी जन-शोध: अर्थ एवं अर्थात् की खोज
	प्रतिलेखन/प्रतिलेख	
संसार	84 श्रीनिवास :—	‘मुक्तांचल’ का उपन्यास-केंद्रित अंक
	शोधार्थी की कलम से	
संसार	86 अमृत कुमार :—	रीतिकाल के संदर्भ में
	कविता	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि
संसार	90 नबल :	रात है, तुमने मेरे पथरीले घर में कदम रखा, दिन ख्वाबों को राहत देने के लिए बना, कड़ी धूप में बादल के एक टुकड़े के नीचे, समझो, फास, मैंने सोचा है

शोध	92 शिवकुमार अर्चनः	कविता
	93 अनूप अशेषः	काँच भरे दिन, मछुआरों के जालों, हम हुए छोटे
	94 आनंद गुप्ताः	वसंत एक उम्मीद का नाम है, तुम्हारी आँखों में उतर आया है चाँद, सृष्टि में प्रेम, प्रेम में रेत होना, शीर्षकहीन
समीक्षण	96 घनश्याम कुमार देवांशः	नौकरी एक जूता, मालिक का इंतजार, बातूनी लड़की, जादुई घोड़ा और जिराफ पैसे पर चलता है आदमी, सैलरी, तड़प गज़ल
	98 मिथिलेश कुमारः	
	99 डॉ. वेद मित्र शुक्लः	
	सरगम के सुर साधे	
	100—अशोक बाजपेयी :	कविता की जिद पर
सृजन	नई पहल नया कदम	
	105 राजकुमारः	उस तरफ से कभी कोई कुछ नहीं बोलेगा, संसार स्याह मोती—सा जगमग, देश
	कहानी	
	106—रंजना श्रीवास्तव :	उसे मैंने मारा है
	112 डॉ. पंकज साहा :	संस्कार
संचार	पिछले पन्ने से	
	116 प्रकाश मनु :	डॉ. रामविलास शर्मा से बातचीत
	भाषान्तर	
	133 आर. शांता सुंदरी :	माँ, बाप और कॉलेज का एक लड़का (तेलुगु कहानी)
	साक्षात्कार	मूल कथाकारः वाराणासी नागलक्ष्मी
संचार	141 शशिभूषण शीतांशु :	रामदरश मिश्र से बातचीत
	पुस्तकायन	
	147—डॉ. अर्चना पाण्डेयः	हिंदी आलोचना और उसके आर-पार : डॉ. 'शीतांशु' से साक्षात्कारः प्रदीर्घ चिंतन की मंजूषा
	154 आरती :	हलालाः स्त्री-शोषण का आख्यान
	अभिमत	

संस्कृति

आज का समय प्रचार पीड़ित है। द्रुत संचार ने प्रचार को अपना निशाना बनाया है। समाज और उसको बिम्बित करनेवाला साहित्य, कला और संस्कृति सब कुछ उसके चपेट में है। प्रचार का बड़ा हौवा हमारे सामने मुँह बाये खड़ा है और हम बरबस भाग रहे हैं। अपने में नहीं, अपने से बाहर कृत्रिम मुहावरों को धक्का-मुक्की हमें आगे ठेल रही है मालूम नहीं कहाँ जाकर गिरना होगा। सदियों पार के साहित्य में जो 'सीख' थी अब वही 'सनसनी' बन गई है। समाज को दृश्यत करने वाली साहित्य जब तक हैरतअंगेज और सनसनीखेज न हो तब तक आस्वाद योग्य नहीं होता। मान्यता न सही व्यावहारिकता यही बतला रही है। दर-असल इन स्थितियों-परिस्थितियों के पीछे सामाजिक-राजनीतिक प्रदूषण ही है जिसने सामान्यतः रुचि-बोध को अपरिष्कृत किया है। 'फिल्टराइजेशन' की उम्मीद नामालूम सी है। इस घोर-घनघोर समय में हमारी, आपकी, उसकी, इसकी सभी की मनुष्यता खण्ड-खण्ड हो रही है। ऐसे में अपना पक्ष सब पर हावी है। अविश्वास और अनैतिकता चारों तरह लहरा रही है। इसी क्रम में हमारी शिक्षण संस्थाएँ वर्चस्ववाद, मनमानापन, भेदभाव, गुटपरस्ती एवं नीतिहीनता की शिकार होती रही हैं। उखाड़-पछाड़ के दौर ने संस्थाओं को सदा हलाकान किया है जिसके सबसे बड़े भुक्तभोगी विद्यार्थी एवं शोधार्थी रहे हैं। उच्च शिक्षा संस्थाओं का माहौल कारखाने जैसा हो गया है। तनाव और विद्वेष से परिपूर्ण जिसमें गम्भीर चिंतन-मनन, विचार-विमर्श एवं शोध-अनुसंधान के लिए परिवेश ही नहीं है।

कुछ ऐसे ही स्थितियों में साहित्य गढ़ने, पढ़ने और पढ़ाने वालों के बीच एक वातावरण को तैयार करने की गुंजायश की मंशा से 'विद्यार्थी मंच' की बैठकें शुरू हुईं। लगभग पाँच वर्षों से मंच सक्रिय है। लोग जुटते हैं, टूटते हैं फिर-फिर जुड़ते हैं और हम पहले 'अभिव्यंजना' और फिर 'मुक्तांचल' जैसी अकादमिक पत्रिका के चौदहवें पायदान पर खड़े हैं। चलने की शुरुआत हुई है तो चलते ही रहेंगे ऐसी आशा ही नहीं विश्वास भी है। मंच से जुड़े ऐसे सारे गढ़ने पढ़ने और पढ़ाने वाले लोग, रचनाकार, पत्रकार, संस्कृतकर्मी, विद्यार्थी, शोधार्थी, अध्यापक, प्राध्यापक मनीषी एवं चिंतक मुक्तांचल से जुड़े हैं- बगैर किसी रंग और छाप के नदी की पानी की तरह प्रवहमान और निर्विकार मगर संपूर्ण सकारात्मकता के साथ।

शोध और समीक्षण 'मुक्तांचल' का प्रमुख उद्घोष है। हर बार प्रत्येक अंक में आलोचना के नये-पुराने मूल्यों एवं मानों को खंगालने की कोशिश की जाती है। 'मुक्तांचल' के जनवरी-मार्च २०१७ के अंक में आलोचना के विविध तेवर की परीक्षा-निरीक्षा की गई है। प्रस्तुत अंक भी उसी क्रम में उससे आगे आलोचना के कुछ महत्वपूर्ण कोणों पर संवलित किया गया है। इसी तरह अगला अंक अर्थात् 'मुक्तांचल' जुलाई-सितम्बर २०१७ में भी इसी क्रम की कुछ महत्वपूर्ण कड़ियाँ जुड़ेंगी। हमने अपने पिछले अंकों में भी विविध साहित्य विधाओं पर आलोचनात्मक पाठ की पहल की थी। यथा कथालोचना अंक (जून २०१५), उपन्यास

केन्द्रित आलोचना अंक (जून २०१६) और कविता केन्द्रित आलोचना अंक (सितम्बर २०१६)। इनके अतिरिक्त मुक्तिबोध पर विशेष अंक (दिसम्बर २०१४) एवं प्रसाद केन्द्रित अंक (मार्च २०१५) की भी विशेष चर्चा रही है। 'मुक्तांचल' का आगामी अंक नाट्य आलोचना से संवलित होगा। आज दृश्य-साहित्य के विविध रूप विकसित हो रहे हैं जिनमें सिनेमा एवं डिजिटल दृश्यावलियाँ भी शामिल हैं। परफार्मिंग आर्ट से जुड़े विद्वानों से भी अनुरोध है कि वे सम्बद्ध अध्ययन को संप्रेषित करें। नाटक का जगत बहुत बड़े आकार का है- शास्त्रीय परंपरा से लेकर लोक-नाट्य की विविध शैलियाँ भी अध्ययन एवं शोध का विषय हो सकती हैं जिन्हें हम अपने अनुशीलन में शामिल कर सकते हैं। हमारे प्रयास की प्रशंसा साहित्य गढ़ने वालों से अधिक पढ़ने वालों ने की है। ज़ाहिर है अगर पढ़ेंगे ही नहीं तो अच्छी या बुरी कोई भी प्रतिक्रिया कहाँ से आयेगी। साहित्य केवल स्वादन नहीं है गम्भीर सोच भी है जो निरंतर समझ तैयार करने की प्रक्रिया में तत्पर रहती है। सारा रोना इसी 'सोच' को लेकर है क्योंकि हम सोच को किसी न किसी खूँटे से बाँधने में तत्पर रहते हैं और उसे समझ की हरियाली तक पहुँचने ही नहीं देते। बेचारी सोच मुक्त धरती और आजाद आकाश से दूर कुन्द होती रहती है।

'मुक्तांचल' के माध्यम से 'विद्यार्थी मंच' शोध एवं अनुसंधान, आलोचना एवं विश्लेषण, समीक्षण एवं विवेचन को एक ईमानदार मुकाम तक पहुँचाने के लिए प्रयास-रत है। साहित्य में कुछ न कुछ कर ले जाना किसी को कहीं गलियारे में डाल देना तो किसी को ताक पर सजा देने की जो साजिशें चलती रहती हैं उन्हें नाकाम करने की शक्ति जरूरत है। 'मुक्तांचल' में संचार के अंतर्गत विविध साहित्यिक गतिविधियों को संचारित करने का प्रावधान तो है परंतु वैसी गतिविधियों की रपट प्राप्त ही नहीं हो पाती। अभी पिछले मार्च तक महाविद्यालयों, विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं ने 'मुक्तिबोध' पर जी भर कर सेमिनार करवाये। फूलों से मंच सजे-गुलदस्ते और फाइलें बँटी- खाना-पीना जश्न मनाना- छवियाँ मनोहारी, परंतु रपट केवल आभासी दुनिया और स्थानीय अखबार तक ही सीमित रहे। अकादमिक हासिल शून्य आर्थिक हासिल हजारों-लाखों में। प्रचार पीड़ित समय में मुक्तिबोध की आत्मा ने कितनी पीड़ा झेली होगी। जन्मशताब्दी वर्ष में मुक्तिबोध-साहित्य के मूल्यांकन की कौन सी नई दिशाएँ खुलीं? कौन सा महत्व आज का समय सहचर हुआ? एक शिकार के सिवा कुछ भी नज़र नहीं आता। इन परिस्थितियों में इस बार के लिए मैंने गतिविधियों के स्तंभ को बंद रखा है। अगर अगली बार से हमारे विद्वान सहयोगी सही ढंग से गतिविधियों की रपट भेजेंगे तो मैं उन्हें अवश्य शामिल करूँगी। गतिविधियों का संबंध सिर्फ साहित्यिक गतिविधियों से होना चाहिए। किसी प्रकार के जुटाव और संगठन को मैं साहित्य से सम्बद्ध गतिविधि नहीं मानती। अतः ऐसी गतिविधि से 'मुक्तांचल' परहेज रखता है। आप साहित्य से सम्बद्ध सेमिनार अथवा कार्यशाला आयोजित करें, प्रदर्शनी करें या गोष्ठी ऐसी सारी गतिविधियाँ साहित्यिक मूल्य को स्थापित करती हैं अतः उनकी रपट प्रसारित करना आवश्यक है। अपने प्रबुद्ध पाठकों से मैं यह अनुरोध करती हूँ कि मुक्तांचल को आत्म प्रचार का माध्यम नहीं बल्कि साहित्य प्रसार का माध्यम बनायें- जुड़ें और जोड़ें- संवाद कायम करें।



संपादक

आलोचना का संकट : दशा और दिशा

देवनाथ सिंह आनंद गौतम

आज हिंदी आलोचना पर संकट उपस्थित है, उसके अनेक कारणों में से मुझे आज खास कारण जो दिखता है, उसे आज से हजारों साल पूर्व राजर्षि भृंहरि के शब्दों में कहना चाहूँगा—
बौद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मय दूषिताः।

अबोधोपहृताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितः॥ (भृंहरिः नीतिशतकम् ११२)

(बुद्धिजीवियों का हृदय ईर्ष्या से, प्रभुवर्ग का अभिमान से मलिन है, बाकी जन अज्ञान से आहत हैं, यों कवि का अच्छा कथन उसके विशीर्ण हृदय में रह जाता है।)

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में तो आज ऐसे बुद्धिजीवियों का अभाव नहीं है, जो किसी रचना या रचनाकार को एक झटके में खारिज करने का फतवा जारी कर देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि सबको देखना ही देखना है। आलोचना में लुच/रुच का अर्थ है प्रकाशित होना है और प्रकाशित करना भी है। लोचन (आँख), आलोचना का अर्थ है अच्छी तरह देखकर विवेचन करना। इस संबंध में प्रो. आदित्य प्रताप सिंह ने पते की बात कही है— “यों खेमारखूटों की संकीर्णताजन्य फाँसी पर चढ़ी हिंदी कविता घुट रही है! कविता लिखने वाले लिखते हैं, पढ़ने-सुनने वाले नहीं रह गए हैं। कवि भी अपनी कविता सभाओं में सुनाकर चल देते हैं, औरों की नहीं सुनते हैं। कविता पर गंभीर चर्चा नहीं होती। साहित्य में राजनीति करने वाले महाबली अपनी उठापटक को ही समीक्षा कहते फिरते हैं।” (उड़ते हंस पर) कविकुल कालिदास ने सही कहा है कि “रत्न किसी को खोजने नहीं जाता अपितु लोग ही उसे खोजते फिरते हैं— “न रत्न भन्विष्यति मृग्यते हि तत्” (कुमार संभव, ४.४५)

आज इस अन्वेषणशील प्रवृत्ति में बड़ी गिरावट आ गई है, आलोचना का संकट जो उपस्थित है, उसका एक कारण यह भी है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि साहित्य में शब्द और अर्थ ‘साहित्य’ होते हैं। दोनों ही समान महत्त्व रखते हैं, भाषा और भाषा में निहित संदेश। साहित्य में कवि और सहृदय (समालोचक) दोनों साथ-साथ रहते हैं। आलोचना के लिए देखने वाली आँखें चाहिए— तटस्थ, निर्मल और निश्छल। रचना को पहली बार पढ़ने पर एक जिज्ञासु पाठक के लिए, कहीं कोई ऐसी बात हो जाती है कि व्यक्ति पूरी किताब पढ़ता है, तभी रचना का अर्थ खुलता है। इस संबंध में मुझे हिंदी साहित्यकार, विमर्शकार सुधीश पचौरी की एक टिप्पणी याद आती है— “साहित्य के तीन गुण प्रसाद, माधुर्य और ओज हैं। लेकिन चौथा और असली गुण है ‘सुषुप्तन’ यानी सुलाना। यह सिद्धांत मुझे अकादमी के सौजन्य से ही मिला है आदि अनेक बातें ‘ठण्डा-ठण्डा कूल कूल’ शीर्षक से प्रकाशित हुई हैं— (दैनिक हिंदुस्तान, वाराणसी, १० मई २०१५)। पचौरी जी का उक्त कथन ‘आज की हिंदी आलोचना की दशा और दिशा’

का स्पष्ट संकेत भी दे रही है, यद्यपि उक्त टिप्पणी लेखक ने आज की कविता की बोरियत के संदर्भ में कही है। साहित्यिक कृतियों में अर्थ आलोच्य एवं भाष्य होता है, यह प्रायः निर्विवाद है। आज इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में यद्यपि इसकी शुरुआत पहले से ही रही है, आलोचना को संकट का सामना करना पड़ रहा है। साहित्य की पद्यात्मक और गद्यात्मक विधाओं में केवल आलोचना ही एक ऐसी स्वतंत्र ईकाई है, जिसे बार-बार संकट का सामना करना पड़ रहा है, ऐसा क्यों? प्रस्तुत आलेख में मेरा अभिप्राय साहित्य, रचना और आलोचना की साक्षेपता का प्रतिपादन है। साहित्य का स्वारस्य आखिर क्या है? 'उपजहि अनत अनत छवि लहहीं?' 'हम सबमें, सब हममें हम फिर बहुरि अकेला। यह अकेलापन एक सच्चे साहित्यकार के लिए किसी मरुभूमि में खोना नहीं है, तो मैं इसे वरदान ही मानता हूँ।

मेरा विश्वास है कि कविता कभी परिभाषित नहीं होती जैसे जीवन। जीवन को हमेशा समझने की कोशिश होती है, जैसे कविता को। जागरुक आलोचक हर अच्छी और सार्थक कविता के सामने आते ही अपनी निर्धारित कविता का विस्तार करता है। कविता का वेग जीवन की वेग की तरह निरंतर है। श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं को 'उशना' कहा है- "कवीनां उशना कविः"। अब प्रश्न यह उठता है कविता से क्या अपेक्षा की जाय? संस्कृत साहित्य में कवि को म्रष्टा कहा गया है। यह है कवि के बारे में भारतीय अवधारणा। किंतु कविता को पूरा होने के लिए एक की नहीं, दो की जरूरत होती है। संस्कृत में कविता के एक सच्चे पाठक को 'सहृदय' कहा गया है। 'सहृदय' का अर्थ है 'समान' या 'एक जैसा'। 'साहित्य अकादमी' संवत्सर व्याख्यान माला के अन्तर्गत विद्यानिवास मिश्र का 'सहृदय विषय' पर व्याख्यान हुआ था वर्ष १९९३ में। उनका कहना रहा है कि- 'सरस्वती वस्तुतः सहृदय व्यापार की ही देवता है। जो सहृदय होता है उसके भीतर सघन स्मृति होती है और उसमें ध्यान योग होता है, धी होती है, रचयित्री और भावयित्री प्रतिभा का तीक्ष्ण प्रकाश होता है। सहृदयता एक सामाजिक तैयारी है। सहृदयता कालिदास के शब्दों में पर्युत्सुकी भाव है। वक्रोक्ति जीवितकार ने

सहृदय का अर्थ किया है- काव्यार्थविद्। उन्होंने काव्यार्थ को स्वपरिस्पंद सुंदर कहा है। एक साथ कई तार छिड़ जाते हैं, तब सबके संवाद से ही अर्थ परिस्फुटित होता है सहृदय।"

अतः कवि का पूरक होता है सहृदय। लोचनकार (अभिनव भारती) के शब्दों में- "वे सहृदय हैं, जिनका हृदय-दर्पण काव्य के गहन अनुशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया है और इसलिए उस हृदय दर्पण में वर्णनीय विषय के साथ तन्मय होने की क्षमता आ गई है। वे ही काव्यार्थ के साथ अपने हृदय का संवाद स्थापित करने वाले सहृदय हैं- 'योऽर्थो हृदय संवादो तस्य भावो रसोद्भवः' अतएव कवि द्वारा वर्णित पूरी स्थिति को अपने मस्तिष्क में कल्पना द्वारा पुनरुत्पादित करने का प्रयत्न पाठक (सहृदय) के लिए अनिवार्य हो जाता है। इस तरह रसानुभव पुनस्मृति से अधिक पुनर्रचना का परिणाम है। यह पूरा सिद्धांत कवि और पाठक के प्रवृत्ति के बीच सामीप्य या सादृश्य के स्वीकार पर आधारित है। अतएव कविता का आस्वादन और उसका सृजन मूलतः एक ही है। (ध्वन्यालोक : आनंदवर्धन)।

आनंदवर्धन (९वीं सदी) जिनका ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' एक नवीनयुग का उत्पादक ग्रंथ है, का कविता के बारे में कहना है-

"कविता की अंतहीन दुनिया में, केवल कवि ही स्वामी है,
उसके इशारे पर, पूरी दुनिया चलती है
यदि कवि प्रेम के बारे में लिखता है
पूरी दुनिया प्रेम की खुशबू से भर जाती है
यदि वह उदासीन हो जाता है, सबका रंग फीका पड़ जाता है।
एक सच्चा कवि सजीव को निर्जीव और निर्जीव को
सजीव मान सकता है,
सब गुणों का वही अकेला स्वामी है,
वह जो चाहे सो देता है और जो चाहे सो लेता है।"

अतएव रचना और रचनाकार के लिए मेरा कहना और मानना यही है कि अच्छे कवियों को पढ़ना यानी उस समय को पढ़ना है। एक संस्कृत श्लोक में लिखा है-

"अगर आप सर्वोत्कृष्ट कवियों, कविराजों- के संपर्क में नहीं है तो कैसे आप कविता लिखने का प्रयोजन रखते

हैं? और अगर आप हैं तो आपको कविता लिखनी ही क्यों चाहिए?

तुलसीदास ने भी कहा है- 'उपजहिं अनत अनत सुख लहहीं। (अन्यत्र उपजते हैं, अन्यत्र शोभा पाते हैं, रचता कोई है, पर रचना ग्राहक को अच्छी लगती है, तभी शोभा पाती है। तुलसीदास की बात हर रचना पर लागू होती है।)

कविता का पाठ ही स्वयं में एक साध्य है, कविता किसी अन्य चीज को उपलब्ध करने का कोई साधन भर नहीं है। रस की अवधारणा में यही अंतर्निहित सत्य है। बहते समय के प्रवाह में कोई स्थिर बिंदु नहीं होता। समय ही शब्द का जनक है, परम्परा का स्रष्टा है। हमारे समय को बहुत से लोगों ने उत्तर-आधुनिक समय कहा है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी आज के समय की दो शक्तिशाली आवश्यकताएँ हैं। पर ध्यान रहे समय कला और कला को भी रूप प्रदान करता है, उसका अंतःस्वर निर्धारित करता है। शब्दों के जरिए वह संस्कृति से स्वयं को जोड़ लेता है, दोनों को अर्थपूर्ण बनाता है।' (शब्द, समय और संस्कृति' निबंध -सीताकांत महापात्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन प्र. स. १९९८ 'दो शब्द' से)

अभी हमें आलोचना की प्राचीन मान्यताओं पर थोड़ी दृष्टि और रख लेनी उपादेय है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृत-साहित्य में वाल्मीकि रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत को उपजीव्य कहा गया है। वाल्मीकि रामायण में सर्जक और आलोचक की दो अलग श्रेणियाँ गिनाई गई हैं। रामायण में रचना के दूसरे उपादान 'आलोचना' को 'क्रिया-कल्प' कहा गया है, जो आज भी किसी भी दृष्टि में अप्रासंगिक नहीं कहे जा सकते। (रामायण के उत्तरकांड अध्याय ९४) में 'क्रिया-कल्प' शब्द आया है। वास्तव में रचना अपने आप में एक क्रिया है। कोई भी आलोचक इस 'क्रिया' को दृष्टि में रखकर 'कल्पना-दायित्व' करता है, अतएव आलोचक को वहाँ 'कल्पक' कहा गया है। कवि के वास्तविक स्वरूप की झलक आलोचकों को वाल्मीकि के दृष्टांत से ही मिली। कवि की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का मंजुल-सामरस्य रहता है। "काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है- यह आदिकवि की आलोचना-जगत में महती देन है।" (संस्कृत साहित्य का

इतिहास- पं. बलदेव उपाध्याय पृ. ३३)

साहित्य और आलोचना से संबद्ध अनेक प्राचीन ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें 'रचना' और 'आलोचना' को सृजन तथा समीक्षा की अलग-अलग ईकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य-परंपरा को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रस्थानप्रवर्तक तथा प्रस्थानुयायी। प्रस्थान प्रवर्तक आचार्यों में ऐतरेय महीदास, भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनंदवर्धन, कुंतक, राजशेखर, अभिनव गुप्त, भोज तथा पंडितराज जगन्नाथ- ये आचार्य आते हैं। इस अध्ययन हेतु डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी का ग्रंथ 'भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परंपरा' देखा जा सकता है। इन दोनों आचार्य परंपराओं पर कुछ भी प्रकाश डालने का प्रयास, आलेख के कलेवर में वृद्धि करनी है, जो यहाँ मेरे लिए नितान्त संभव नहीं है।

हिंदी आलोचना : यहाँ हिंदी में आलोचना पर विचार करते समय हिंदी में प्रचलित कुछ पर्यायवाची शब्दों पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

आलोचना- आलोचना का अर्थ है देखना अर्थात् विवेकपूर्ण दृष्टि से काव्य के गुण और दोषों की व्याख्या करना। 'आलोचना' में 'आ' एक उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह उपसर्ग अर्थमान है। 'लोच्' धातु देखने, निरीक्षण करने, विचार करने, वस्तु को प्रत्यक्षीभूत एवम् उसका विमर्श करने के संश्लिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होती है।

समालोचना- समालोचना का शब्दार्थ है- 'सम्यक् रूप से देखना' सम + लोच + टाप्। साहित्यिक रचना का भली-भाँति परीक्षण, विश्लेषण आदि पर तत्सम भी सम्मति या निर्णय देना ही समालोचना है।

अतएव 'आलोचना' और 'समालोचना' का हिंदी में एक ही अर्थ में प्रयोग होता है।

पर्यालोचना- पर्यालोचना का अर्थ है चारों ओर से देखना, समीक्षा आदि। इस शब्द का प्रयोग भी 'आलोचना' या समीक्षा के पर्याय के रूप में होता है, किंतु बहुत कम। 'पर्यालोचना' शब्द का प्रयोग 'रिव्यू' या 'पुस्तक-समीक्षा' के लिए भी होता है।

प्रत्यालोचना- आलोचना की आलोचना को 'प्रत्यालोचना' कहते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रत्यालोचना करते समय

पर्याप्त सर्तकता की जरूरत है, अन्यथा प्रत्यालोचक का पथ-भ्रष्ट हो जाना संभव है। अतः यह जरूरी है कि स्वस्थ प्रत्यालोचना द्वारा प्रवर्तित वाद-विवाद से उपयोगी निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यही वाद-विवाद-सम्वाद का रूप है। हिंदी में देव और बिहारी को लेकर आलोचना-प्रत्यालोचना का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

विवेचना-‘विवेचन’ या ‘विवेचना’ का शब्दार्थ है- भली-बुरी वस्तु का ज्ञान अर्थात् भली-भाँति परीक्षा करना। किसी निकष के विभिन्न तत्त्व समझने-आलोचना का ही अंग होगा। जब हम विभिन्न तत्त्व समझने का प्रयत्न करते हैं, तब हमारी आलोचना विवेचनात्मक होगी। किंतु यहाँ भी हमारा अवधान रहे- विवेचना करने के पूर्व कृति के भीतर पैठना आवश्यक है, साथ ही पूर्वाग्रह से रहित होकर तथा सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा, ताकि हम कलात्मक कृति के संबंध में निर्णय दे सकें। यही विवेचना का मूल कार्य है। इस संबंध में यहाँ पर यह कहना समीचीन होगा कि “कविता की भाषा विशेष भाषा का ही विशेष रूप है जो सर्जनात्मक अनुभूति की त्वचा है। (डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी) “भारतीय काव्य-शास्त्र के नए क्षितिज।)

समीक्षा- समीक्षा का अर्थ है- सम्यक् ईक्षा या ईक्षणम अर्थात् अच्छी तरह से देखना, जाँच करना ‘समीक्षा’ है। किसी वस्तु या निकष के संबंध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्त्व का विवेचन करना ‘समीक्षा’ है। भारतवर्ष में राजशेखर ने अपने ग्रंथ ‘काव्य-मीमांसा’ में साहित्य-समीक्षा का सूत्रपात किया तथा औचित्यवादियों ने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। डॉ. ब्रह्मदेव मिश्र ने भी कहा है- ‘समीक्षा का केन्द्र कृति है और कृति भाषा-विशेष होने के कारण समीक्षा का सबसे बड़ा प्रतिमान है। (पंचधारा: विमर्श-ब्रह्मदेव मिश्र आमुख से।)

हिंदी आलोचना का उद्गम एवं विकास : हिंदी आलोचना का मूल स्रोत प्राचीन आचार्यों के मतों और सिद्धांतों में मिलता है जिसका संकेत पूर्व में किया जा चुका है। हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने इन्हीं प्राचीनों का अनुकरण और अनुसरण किया। आधुनिक हिंदी आलोचना का आर्विभाव तब हुआ, जब हिंदी गद्य का स्वरूप स्पष्ट होकर प्रकट हुआ क्योंकि सम्यक् व्याख्या के लिए गद्य का

माध्यम आवश्यक है। आधुनिक युग, भारतेंदु युग काल में समीक्षा-सिद्धांतों में नया मोड़ आया। नवीन व्यावहारिक ‘पुस्तक-समीक्षा’ का सूत्रपात भारतेंदु द्वारा सम्पादित ‘कविवचन सुधा’ (१८६८ई.) तथा ‘हरिश्चंद्र चंद्रिका’ (१८७३ई.) से माना गया है। आधुनिक काल में द्विवेदी युग को हिंदी समीक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूपों का विकास तथा उत्कर्ष कहा गया है। यह द्वितीय युग (१९००-१९२०) तक रहा। बाबू श्याम सुंदर दास तथा मिश्र बंधुओं ने इस काल में ऐतिहासिक एवं गवेषणात्मक आलोचना की। किंतु, समीक्षा के क्षेत्र में सबसे बड़ी सफलता आचार्य रामचंद्र शुक्ल को मिली। नवीन-समीक्षा सिद्धांतों की स्थापना में उनका ऐतिहासिक योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने चिंतामणि (भाग १ और २) में मौलिक सिद्धांतों की स्थापना की। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में “शुक्ल जी ने संस्कृत-काव्य-शास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों को अपने अनुरूप ढालकर हिंदी के लिए एक समन्वित आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया।” (अनुसंधान और आलोचना, डॉ. नगेन्द्र, पृ. ७८) आज आलोचना के संदर्भ में प्रश्न उठाया जाता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पद्धति क्या आज भी प्रासंगिक है? कुछ समीक्षकों की दृष्टि में रामचंद्र शुक्ल के बाद किसी नई आलोचना पद्धति का प्रवर्तन नहीं हुआ है। शैली विज्ञान, देरिदा का विखण्डन आदि में सब आलोचना पद्धतियाँ नहीं हैं। इसीलिए इन्होंने अब तक हिंदी आलोचना में कोई महत्वपूर्ण आलोचना कार्य नहीं किया है। हिंदी-आलोचना कैसे समृद्ध हो, इसके लिए हमें आलोचना-विकास के नए सोपान गढ़ने के लिए व्याकुल रहना होगा, जैसा कि जयशंकर प्रसाद जी ने कहा था-

“इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्ति भवन में टिक रहना। किंतु पहुँचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं।

इसके अतिरिक्त हमें निराला जी के संकल्प को भी याद रखना होगा-

‘करना होगा यह तिमिर पार

देखना सत्य का मिहिर द्वार।।”

यों तो समीक्ष्य की नयी प्रवृत्तियों के अध्येता समालोचक अनेक हुए हैं किंतु हिंदी में प्रकाशित आलोचना संबंधी

साहित्य में जहाँ 'आलोचक का दायित्व' (डॉ. रामचंद्र तिवारी) की पुस्तक हमें कुछ सोचने विचारने का अवसर देती है, वहीं डॉ. बच्चन सिंह की तीन पुस्तकें- 'आधुनिक आलोचना के बीज शब्द', 'आलोचक और आलोचना' तथा 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' भी पठनीय एवं विचारणीय ग्रंथ हैं। बच्चन सिंह ने कहा है- 'आलोचना भी दो शिविरों में बंट गई है- 'समाजशास्त्र का शिविर' और 'भाषाशास्त्र का शिविर'। दोनों शिविर समय-समय पर एक दूसरे पर हमला करते हैं। आलोचना का संकट यह है कि क्या उसे हर हालत में शिविरबद्ध होकर ही रहना पड़ेगा।' (साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद की भूमिका- आलोचना का संकट)

'हिंदी का गद्य साहित्य' में डॉ. रामचंद्र तिवारी ने आज हिंदी में प्रचलित किसिम किसिम की आलोचनात्मक पद्धतियों का उल्लेख किया है- १. प्रभाववादी आलोचना २. मनोवैज्ञानिक या अन्तश्चेतनावादी आलोचना ३. ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना ४. शास्त्रीय समीक्षा ५. अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना ६. मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना ७. मार्क्सवादी समीक्षा बनाम समाजशास्त्रीय समीक्षा (साहित्य का समाजशास्त्र)। हमारे पाठक किसी न किसी रूप में इन सबसे परिचित हैं। अतएव हमें इस संबंध में कुछ और कहने की जरूरत नहीं है और हमारे लिए यह भी संभव नहीं है कि आलेख का कलेवर हम कुछ और बढ़ने दें। अब आइए हम थोड़ा पश्चिमी आलोचना शास्त्र पर विचार कर लें क्योंकि हिंदी आलोचना भारतीय और पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों का अद्भुत समन्वय है।

पश्चिमी आलोचना शास्त्र- पश्चिम में काव्य-चिंतन की परंपरा का आरंभ ई. पू. चौथी शताब्दी के आसपास हुआ। आचार्य प्लेटो (ई. पू. ४२७-३४७) से प्रारंभ होकर निरंतर चली आती इस परंपरा में अनेक मोड़ आए, कुछ अंतराल भी आए, पर गति भंग नहीं हुई, ऐसी हर परंपरा का देश कालातीत महत्त्व होता है। 'पश्चिमी आलोचना शास्त्र' नाम से डॉ. लक्ष्मी सागर वाष्णीय की पुस्तक हिंदी समिति सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश लखनऊ का प्रथम संस्करण १९६५ में निकला। यह एक उपादेय पुस्तक सिद्ध हुई। कालांतर में पश्चिमी आलोचनशास्त्र पर और

भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अभी एक दशक पूर्वक डॉ. निर्मला जैन कृत 'काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा' प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक भी उपादेय है, जिसमें पश्चिमी काव्य चिंतन की परंपरा का सम्यक् आकलन करने का प्रयास किया गया है। यह पुस्तक वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

साहित्य के मूल्यांकन में आलोचना का बहुत अधिक महत्त्व होता है, क्योंकि उसी के माध्यम से साहित्य का परीक्षण और विश्लेषण होता है। पश्चिमी आलोचना में कहा गया है कि 'निष्कृत कवि की अपेक्षा निष्कृत आलोचक कहीं अधिक खतरनाक होता है। (प्रो. सेंट स्वरी)

कहा जाता है कि रचना की तुलना में आलोचना का काम द्वितीयक है, क्या यह सही है? आज से लगभग सात दशक पूर्व अमरीकी समीक्षक हेनरी पियरे की पुस्तक 'राइटर्स एण्ड देयर क्रिटिक: ए स्टडी इन मिस अंडर स्टैंडिंग' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसमें कवि कलाकार आदि से अलग आलोचकों की भिन्न ईकाई मानी गई थी। अपने ग्रंथ की प्रस्तावना में वह लिखता है- 'आलोचना सृजनशील साहित्य के समकक्ष नहीं मानी जा सकती, उसे द्वितीयक ही कहा जा सकता। यही नहीं उसने तो यहाँ तक कह दिया कि 'आलोचना सृजन की दासी है, और उसे दासी की तरह विनम्रता से पेश आना चाहिए।' (The failure of criticism), पृ. ११, अनु. राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, सन् १९९०)। यहाँ यह विचारणीय है कि आलोचना को एक स्वतंत्र ईकाई मानने की अवधारणा से भारतीय साहित्यकार भी सहमत हो सकते हैं, परंतु सृजन तथा आलोचना में 'स्वामित्व और दासत्व' के पूँजीवादी विचारों का समर्थन कदापि नहीं कर सकते। रचना और आलोचना के विषय में डॉ. शंभुनाथ का विचार है- 'आलोचन भी साहित्यिक उत्पादन है। उसकी भी वही नियति है, जो पूरे साहित्य की। रचना और आलोचना एक दूसरे को सम्यक् करती है। अतः दोनों के बीच अंतर्शुभता हो ही नहीं सकती। हर रचना एक आलोचना है तथा हर आलोचना एक रचना। आलोचना और रचना के संबंध में चर्चा करते समय एक ओर यह ध्यान में रखना चाहिए कि आलोचना का काम जहाँ समकालीनता से सामना करना है, वहीं वह बार-बार

परंपरा से टकराती भी है। दूसरी ओर यह नहीं भूलना चाहिए कि आज की आलोचना सामाजिक समस्याओं के सृजनात्मक विश्लेषण से तटस्थ नहीं रह सकती। जिन सामाजिक समस्याओं के सृजनात्मक विश्लेषण से तटस्थ नहीं रह सकती। जिन सामाजिक यथार्थों से रचनाकार टकराता है, उनसे अपने स्तर पर आलोचक भी टकराता है तथा इस प्रक्रिया में उसके हाथ रचना से बंधे नहीं होते हैं।' (दूसरे नवजागरण की ओर- शंभूनाथ-भूमिका- (VII)

कथाकार काशीनाथ सिंह के एक आलोचनात्मक ग्रंथ का नाम ही है- 'आलोचना भी रचना है' किंतु यह विचारणीय है, जैसा कि वे ग्रंथ के 'निवेदन' में लिखते हैं- "इस किताब में मेरी कुछ आलोचनानुमा रचनाएँ या रचनानुमा आलोचनाएँ हैं। ...इसलिए इस किताब को पढ़ें तो यह सोचकर कि इसका लेखक आलोचक नहीं, बुनियादी तौर पर एक रचनाकार है, जो अलग मुद्दों के बहाने अपने दौर को समझने और सुलझाने की कोशिश करता रहा है।" (आलोचना भी रचना है, काशीनाथ सिंह, प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद)।

'आलोचना एक प्रकाश है, जिससे रचनाएँ प्रतिफलित होती हैं। यदि ऐसा कोई आलोचक सोचता है तो वह भ्रांति में है। गीता में ऐसे ही भ्रांतिमान वालों के लिए कहा गया है- संशयात्मा विनश्यति।' श्री सुमित्रानंदन के अनुसार 'कविता की गतिविधि को आलोचक निर्धारित नहीं कर सकते, वह स्वयं अपनी अबाधता से संचालित होती है, काव्य की गति अंतः प्रेरित गति है, वह अपने कूल बनाने में समर्थ है।' (शिल्प और दर्शन, सु.न. पंत, प्र. सं. १९६१, पृ. ३३५) 'पल्लव' की भूमिका में भी आलोचना का संकट पहचाना था पंत जी ने तभी तो कहा था- "हिंदी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है।"

अब आइए, हम पुनः पश्चिमी आलोचकों की ओर लौटें। टी.एस. इलियट- स्वयं एक कवि और बहुत बड़ा आलोचक था। उसने कहा था कि आलोचना में 'सेंस ऑफ फैक्ट' होना चाहिए? और यह सेंस ऑफ फैक्ट है क्या? यही है एक कविता पढ़कर खूब अच्छी तरह पढ़कर यह पता लगाओ कि पूरी कविता की जान किस पंक्ति या कभी-कभी किस शब्द में बसती है।' एजरा पाउण्ड ने

कहा है कि 'किसी भी लेख की पहचान हेतु सबसे पहला और आसान तरीका यह देखना है कि उसकी रचना में कितने ऐसे शब्द हैं जो सुस्त और व्यर्थ हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग लेखक की अक्षमता का सूचक है। अतः भाषा रचनाकार के लिए सदैव चुनौती दे रहा है। निःसंदेह शब्द भी दर्पण है क्योंकि मानवीय भावनाएँ अमूर्त होती हैं। किंतु उनसे हमारी पहचान शब्दों के आइने में ही होती है। 'शब्द-शक्ति' के विषय में पूरब हो या पश्चिम दोनों ने इसके महत्त्व को पहचाना है, अतएव अब हम पश्चिमी आलोचनाशास्त्र पर विराम देते हैं।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिन्हें विश्व- कवि का सम्मान प्राप्त है, उन्होंने यूरोपीय आचार्यों के स्वर में स्वर मिलाकर यह कहा था कि साहित्य का लक्ष्य मानव-समाज है। अतः साहित्य और कला का जितना महत्त्व, रचयिता के लिए है, उतना ही पाठक के लिए। यही साहित्य और कला की नैतिकता है। रवीन्द्र ने यह भी कहा था- भाव, विषय और तत्त्व साधारण मनुष्यों के होते हैं, उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता तो कालक्रम से दूसरा करेगा। किंतु रचना लेखक की सम्पूर्ण रूप से अपनी होती है। वह एक मनुष्य की जैसी होती, दूसरे की वैसी नहीं होगी। इसीलिए रचना के अंदर ही लेखक यथार्थ रूप से जीवित रहता है, भावों और विषय के अंदर नहीं।" विश्व-कवि का संकेत साहित्य द्वारा व्यक्तित्व प्रकाशन की ओर है। (रवीन्द्रनाथ टैगोर :परसनाल्टी)। साहित्य तो खड्ग हि खानी है, जिसकी एक दिशा आग और दूसरी दिशा पानी है। (जायसी :पद्मावत)। मध्यकाल की मणिमाला के मध्यमणि सुमेरू तुलसीदास के समय में पाखण्ड या विवाद क्या कुछ कम थे। उन्होंने मानस के किष्किंधा कांड में लिखा है-

"हरितभूमि तून संकुल समुझे परहिं नहिं पंथ।

जिमि पाखण्ड बाद ते लुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥

आज वही समय आ गया है। आज कोई मार्क्सवादी है, कोई आधुनिकतावादी और कोई उत्तर आधुनिकतावादी आदि आलोचना खेमे बंदियों में बँट गई है, जो अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग अलाप रहे हैं।

आज लेखक और पाठक के बीच एक खाई है, जो बढ़ती जा रही है। निकटता की दूरी होती जा रही है। संवाद

के समस्त साधनों के रहते संवाद की स्थिति का अभाव होता जा रहा है। इस संबंध में मुझे अपने एक सम्मानित बुजुर्ग साहित्यकार पं. रामदरश मिश्र का एक संस्मरण याद आ रहा है, उन्होंने १९५४ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से 'हिंदी आलोचना की प्रवृत्तियाँ और उसकी आधार भूमि' विषय पर शोध कार्य किया था, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में वे लिखते हैं कि गुरुवर हजारी प्रसाद द्विवेदी को जब भी अपनी पुस्तकें भेजता था, वे पढ़ते थे और तुरंत चिट्ठी लिखते थे। उनका कहना और मानना रहा है कि पत्रों के रूप में अर्थवान समीक्षाएँ लिखी जा सकती हैं। इस संबंध में मुझे सार्त्र का एक कथन याद आता है, जिसका शीर्षक 'क्यों लिखे?' सार्त्र ने अपनी आत्मकथा 'शक' में लिखा है- "चूँकि रचना की सार्थकता उसके पढ़े जाने में है, चूँकि कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि जिस काम को उसने प्रारंभ किया है, उसे आगे बढ़ाने के लिए दूसरों को सौंप दे, चूँकि वह पाठक के अन्तर्बोध के माध्यम से ही अपने को अपनी रचना के प्रति सार्थक बना सकता है, अतः हर साहित्यिक कृति मूलतः एक अपील है। एक किताब किसी का नुकसान नहीं करती, अगर अच्छी तरह लिखी गई है।" (सार्त्र 'शब्द' पृ. ६३)

हिंदी के पथीकृत समीक्षक- हिंदी के पथीकृत समीक्षक आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. राम विलास शर्मा, डॉ. नगेन्द्र तथा नामवर सिंह कहे जाने चाहिए, इसीलिए भी हमने इन पर कुछ लिखने का साहस किया है। आज इन आलोचकों से बढ़कर हिंदी में कोई दूसरा नहीं है। इन सबने आस्वादपरक आलोचना लिखी है और साहित्य को मनुष्य की चेतना या अनुभूति का लिपिबद्ध रूप माना है। आस्वादपरक आलोचना का उद्देश्य पाठक को रचना की ओर उन्मुख करना है।

हिंदी के पथीकृत समीक्षक रामचंद्र शुक्ल ने पश्चिमी देशों में साहित्यिक रचनाओं से भिन्न आलोचना के अलग अस्तित्व का उल्लेख किया है। उन्होंने हिंदी आलोचना के संदर्भ में लिखा था- 'किसी पुस्तक या कवि के गुण-दोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखलाने के लिए एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी। यूरोप में इसकी चाल खूब चली। यहाँ समालोचना काव्य-सिद्धांत निरूपण

से स्वतंत्र एक निकष ही हो गया।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. ५०३) आचार्य शुक्ल 'साहित्य और आलोचना की प्राचीन अवधारणा से परिचित थे। उन्हें 'प्राचीन' को नवीन करने की प्रविधि ज्ञात थी, इसीलिए उन्होंने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' को समालोचना का भी प्राविधिक ग्रंथ बनाया। अपने समय की रचना और आलोचना में पाश्चात्य-प्रवृत्ति की प्रधानता को देखकर आचार्य शुक्ल ने कहा था

"आजकल पाश्चात्यवाद वृक्षों के बहुत से पत्ते कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर पाए हुए- यहाँ परिजात पुष्प की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिनसे साहित्य उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँख खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है, जिनके वे पत्ते हैं। (हिंदी साहित्य का इतिहास)। ऐसे आलोचकों को परोपजीवी कहा गया है। शुक्ल जी के उक्त अभिकथन पत्र पर विचार करते हुए प्रो. मैनेजर पाण्डेय का कथन है कि- 'आचार्य शुक्ल की यह चेतावनी अब भी बहुत काम की है। विचार के क्षेत्र में बिना परख या पहचान के संग्रह और त्याग का काम खतरनाक हो सकता है।' (शब्द और कर्म- मैनेजर पाण्डेय, प्र. स. १९८१, पृ. ६४)। आलोचना के सूत्र में अपनी परंपरा और विदेशी चिंतन का सार्थक उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह हम आचार्य शुक्ल से सीख सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने भारतीय साहित्य कला और दर्शन की चिंतन-परंपरा का विवेकपूर्ण मूल्यांकन किया था और योरोपिय साहित्य कला और दर्शन संबंधी नए पुराने चिंतन की सार्थकता-निरर्थकता की सम्यक परीक्षा करते हुए उन्हें स्वीकार या अस्वीकार किया था। अपने समय के समाज और साहित्य की प्राप्ति के संदर्भ में उपयोगी विचारों को ही उन्होंने अपनाया।' (शब्द और कर्म- मैनेजर पाण्डेय पृ. ६४)

अतएव नवीन समीक्षा सिद्धांतों की स्थापना में आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक भूमिका एवं योगदान श्लाघ्य एवं महत्त्वपूर्ण है। इसे उनके 'चिंतामणि' (भाग १ और २) में देखा जा सकता है। शुक्ल जी काव्य को ज्ञान साधना के समकक्ष रखकर उसे हृदय की मुक्तावस्था का साधन माना। अतः हम डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में कहना चाहेंगे कि-

“शुक्ल जी ने संस्कृत-काव्य-शास्त्र का पुनराख्यान कर और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धांतों को अपने अनुरूप ढालकर हिंदी के लिए एक समन्वित आलोचना शास्त्र का निर्माण किया।” (अनुसंधान और आलोचना, डॉ. नगेन्द्र, पृ. ७८) नवलेखन के आलोचक के रूप में अपनी पहचान बनाने वाले प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ‘हिंदी काव्य संवेदना का विकास’ लिखा, जिनका प्रकाशन उनके निधन (२४ जुलाई २००३) के बाद हुआ है। इसे विद्वानों ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ को आगे बढ़ाने वाला साहित्येतिहास कहा है। विलक्षण काव्य मर्मज्ञ पं. विष्णुकान्त शास्त्री के अनुसार, ‘आलोचना का क्षेत्र ही ऐसा है, जिसमें दूसरों के मतों से टकराना पड़ता है। रामस्वरूप जी ने भी पुराने-नए कई आलोचकों से अपनी असहमति व्यक्त की है, किंतु उनकी शालीनता ने कभी लेखनी को कटु नहीं होने दिया। अपने मत के समर्थन में बराबर दृढ़ रहे, किंतु दूसरे को अपमानित करने का प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया।’ शास्त्री जी का यह कथन प्रत्येक समालोचक के लिए उपादेय है ऐसा मैं सोचता हूँ क्योंकि आज मानवीय सम्पर्कों में कोमलता लुप्त होती जा रही है, द्वंद्व-संघर्ष तो दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के भीष्म पितामह थे। उन्होंने वर्षों तक ‘सरस्वती’ जैसी उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया था। उन्होंने भी इस ओर हमें आगाह किया था। सृजन और चिंतन दोनों ही भाषा के माध्यम में होते हैं, वाणी से अविच्छेद्य रूप से जुड़े हैं शब्दानुबद्ध हैं। वाणी के अमर पुत्र आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, दूसरे पथीकृत समीक्षक हैं, जिनके लिए नामवर सिंह ने ‘दूसरी परंपरा की खोज’ पुस्तक लिखी है। द्विवेदी जी की आलोचनाओं- हिंदी साहित्य की भूमिका (१९४०), कबीर (१९४२) एवं हिंदी साहित्य का आदिकाल (१९५२) में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आलोचना का आदर्श रूप प्रस्फुटित हुआ। ‘साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव-जीवन है।’ आधुनिक साहित्य पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने उक्त बात कही है। (साहित्य सहचर, पृ. ११) उनका कहना और मानना है- “समीक्षा में जो एक बात विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है, वह है

जीवन के प्रति दृष्टिकोण में सतत परिवर्तन। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने रचना और समीक्षा के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। भारतीय आचार्यों की प्राचीन समीक्षा-पद्धति को हम कूड़े की टोकरी में यह कहकर नहीं फेंक सकते कि यह अरुचिकर और व्यर्थ हो गई है। वह तो वर्तमान समीक्षा की आधारशिला है। अभिनव समीक्षा पद्धति में जो नवीनता की होड़ मची है, वह उतनी स्वास्थ्यकर भी नहीं। रचना और समीक्षा का एक ही लक्ष्य है- “वसुधैव कुटुम्बकम्।” जीवन मूल्यों में चाहे जितने परिवर्तन हों, भारतीय जीवन का मूलमंत्र आसानी से मिटने वाला नहीं है-

“सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामया

सर्वे भद्राणि पश्यतु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।”

इस प्रकार मानव कल्याण की कामना का भाव सर्वत्र प्रदर्शित गया किया है। ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ में भी जीवन को सब प्रकार से सुखी बनाने की कामना व्यक्त की गई है। ‘शिव’ और ‘सुंदर’ जहाँ विद्यमान हैं, सत्य की वहीं पराकाष्ठा है। भारतीय साहित्य में यही जीवन की दृष्टि निर्धारित की गई है।” ये कुछ बातें हमने आचार्य श्री के विविध निबंध संग्रहों साहित्य-सहचर, अशोक के फूल, विचार और वितर्क से संकलित की हैं, जिससे रचना और आलोचना के बीच आज जो संवाद विहीनता तथा तनाव की स्थिति पैदा हो गई है, उसे गहरी दृष्टि से समझने में सहायक हो सके।

‘दूसरी परंपरा की खोज’ में नामवर सिंह लिखते हैं-

“हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम कबीर के साथ उसी तरह जुड़ा है, जैसे तुलसीदास के साथ रामचंद्र शुक्ल का। हिंदी में द्विवेदी जी पहले आदमी, जिन्होंने यह घोषणा करने का साहस किया कि “हिंदी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास।” (कबीर, पृ. २२) कबीरदास बहुत कुछ अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। (पृ.७) तो ‘कबीर’ के हजारी प्रसाद में भी यह साहस कम नहीं है।’ (दूसरी परंपरा की खोज, पृ. ४२)

आचार्य द्विवेदी के ‘समीक्षा में संतुलन का प्रश्न’ शीर्षक लेख का यह अंश प्रासंगिक है: ‘मेरा मत है कि संतुलित

दृष्टि वह नहीं है, जो अतिवादियों के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। संतुलित दृष्टि सत्यान्वेषी दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करने को प्रस्तुत रहती है। वही सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विवादों को ग्रहण करने की दृष्टि है। (विचार और वितर्क, तृतीय वृत्ति, १९६९, पृ. २८९-२९०)

आचार्य द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के प्रति अपनी श्रद्धा देने में कोई कमी नहीं दिखायी। श्रद्धा का प्रमाण स्वयं 'हिंदी साहित्य की भूमिका' का यह वाक्य 'भारतीय आलोचना शास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक से नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ। 'यह घोषणा १९४० की है। आचार्य शुक्ल के निधन से ठीक पहले।

आचार्य शुक्ल के महत्त्व के बारे में द्विवेदी जी के ये वाक्य एक तरफ और सारी पोथियाँ एक तरफ- यह उक्ति उन सब पर भारी पड़ती है। आचार्य द्विवेदी के पहले किसी ने आचार्य शुक्ल की प्रतिष्ठा इतनी उच्च भूमि पर की है, इसकी जानकारी मुझे नहीं है।" (दूसरी परंपरा की खोज, पृ. ३९)

हिंदी साहित्य में हिंदी-आलोचना के विकास में रामविलास शर्मा प्रगतिवादी समीक्षक कहे गये हैं, जो अपनी प्रखरता और प्रतिबद्धता के लिए प्रख्यात रहे। डॉ. शर्मा की समीक्षा पद्धति पर आचार्य शुक्ल का व्यापक प्रभाव है। आपने आचार्य शुक्ल की परंपरा को सही माने में विकसित किया। १९४१ ई. से प्रारंभ करके २००० ई. तक आपकी लेखनी ने कभी पलभर के लिए विराम नहीं लिया। १९५५ में 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' पुस्तक लिखने की आवश्यकता यह बतलायी गई है कि 'पिछले वर्षों में शुक्ल जी पर तरह-तरह के आक्षेप किए गए थे।

डॉ. शर्मा का कथन है- "जो महत्त्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परंपरा का है।" (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. ९) डॉ. शर्मा की दो टूक शब्दों में उनकी समीक्षा-शैली का एक उदाहरण देखें- 'इस क्षणभंगुर संसार में कविता भी क्षणभंगुर हो, यह आवश्यक नहीं। अमर न हो, कुछ समय के लिए टिकाऊ तो हो।' (नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ. ७८)। नमूने के लिए शर्मा ने अज्ञेय की कविता के लिए कहा है- 'अज्ञेय की कविता जड़ाऊ है, टिकाऊ भी।'

डॉ. शर्मा के मन में आदर्श समीक्षा का जो रूप विद्यमान था, वह बहुत कुछ आचार्य शुक्ल की समीक्षा में मूर्त है। यहाँ एक दृष्टान्त देना पर्याप्त है- 'शुक्ल जी की आलोचना गंभीर है, इसलिए कि उसका आधार वस्तुवादी है। शुक्ल की गंभीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क और चिंतन-पद्धति है। ... (आचार्य शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ. २२२) कवि-समीक्षक रामविलास जी अंतिम दिनों में ऋषि कहे जाने लगे थे अपनी साहित्य-साधना के कारण। मैं उन्हें इस वैदिक ऋचा के साथ सिर झुकाता हूँ- 'नमः ऋषिभ्यः पूर्वजे भय।' (षट्क १०/१०/१५)।

डॉ. नगेन्द्र: हिंदी के विवेकशील पाठकों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट करने वाले रहे हैं। यह सत्य है कि डॉ. नगेन्द्र ने अंग्रेजी साहित्य के संस्कारों को आत्मसात् करके हिंदी-साहित्य में प्रवेश किया था, फलस्वरूप साहित्य के संबंध में उनकी धारणाओं का मूल आधार अंग्रेजी साहित्य के कवियों और आलोचकों की मान्यताओं से प्रेरित है। उनके शब्दों में- 'काव्य-मूल का अर्थ है वह गुण या गुण-समवाय, जिसके द्वारा काव्य की सिद्धि का निर्धारण किया जाता है। इस दृष्टि से मूल का आधार अंततः प्रयोजन ही सिद्ध होता है। काव्य का प्रयोजन जब रस या आस्वाद है, तो उसका मूल्य हुआ 'आस्वाद्यत्व'। जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा।" (आलोचक की आस्था, पृ. ५) काव्य के तीन तत्त्वों- 'भाव, कल्पना और बुद्धि- में डॉ. नगेन्द्र भाव को ही मुख्य माना है। कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद ही 'रस' है। इसलिए काव्य के आस्वाद का आनंद रसानुभूति का ही

आनंद है। यही काव्य का प्रयोजन भी है तथा इसी के साथ मूल्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। डॉ. नगेन्द्र के आलोचना का मानदण्ड: रस-सिद्धांत है। उन्होंने 'रस-सिद्धांत' नामक एक वृहद काव्य समीक्षा-ग्रंथ लिखा। आचार्य शुक्ल की भाँति डॉ. नगेन्द्र भी रस की स्थिति मनोमय कोश ही मानते हैं। रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति ही है। 'रस-सिद्धांत (पृ. ३४६-३४७)। नई समीक्षा: नए संदर्भ' में उन्होंने पते की बातें की हैं- 'सहृदय समीक्षक जहाँ अपने संस्कार और प्रातिभ ज्ञान के बल पर अनायास ही काव्य के मोती निकाल लाता था, वहाँ नया समीक्षक, इलियट के शब्दों में, नीबू और उसकी घूँछ को निचोड़ रहा है।' अंत में हम यही कहेंगे डॉ. नगेन्द्र की आलोचना-पद्धति को आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक पद्धति का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार- '-जीवन में यह भी परंपरा रही है कि 'छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति' को प्रश्रय न दिया जाय। और यदि किसी के 'गुण' हैं तो उसकी व्यापक प्रशंसा की जाय। साहित्य में भी इन तथ्यों की स्थापना निश्चित रूप से हुई है। समीक्षा के क्षेत्र में मूल्यांकन की पद्धति में 'छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति कभी भी स्वस्थ नहीं हो सकती, समीक्षा से समीक्षक की आत्माभिष्विक्त अपेक्षित है, अर्थात् उसमें आलोचक की रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन एक सूत्र है।' (विचार और अनुभूति, डॉ. नगेन्द्र, पृ. ४८)

डॉ. नामवर सिंह: डॉ. नामवर सिंह हमारे समय के सबसे बड़े संवादक रहे हैं। उनकी किताब 'बात बात में बात' इसी का साक्ष्य प्रस्तुत करती है, जो वस्तुतः संवादों की पुस्तक है तो १९८९ ई. में प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने समकालीन भाषा, साहित्य और आलोचना-कर्म की बुनियादी चिंताओं पर अत्यंत बारीकी से विचार किया है। 'वाद-विवाद संवाद' की भूमिका से स्पष्ट है कि इसमें संग्रहीत अपने समीक्षात्मक निबंधों को 'विच्छिन्न चिंतन' ही माना है। नामवर रामविलास शर्मा की तरह प्रगतिवादी समीक्षा के आधार-स्तंभ हैं। 'कविता के नए प्रतिमान' (१९६८) में 'नई कविता' की समीक्षा की गई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि १९५२ ई. से लेकर आज तक हिंदी-साहित्य के पूरे विकास को सतर्क दृष्टि से देखते हुए,

उन्होंने एक सच्चे समीक्षक का दायित्व निभाया है। 'आलोचना' पत्रिका के संपादक के रूप में नामवर सिंह ने हिंदी की प्रगतिशील आलोचना को निश्चित रूप से एक नई दिशा तथा नया मूल्य स्तर प्रदान किया है। वे हिंदी आलोचना में हृद और बेहद तजकर चलने वाले अपने ढंग के अकेले आलोचक हैं। हिंदी आलोचना में रामचंद्र शुक्ल के बाद चर्चित और उल्लेखनीय आलोचक कोई दूसरा नहीं है, सच पूछो तो वे अखिल भारतीय आलोचक हैं, ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता और उनमें होने वाले विमर्शों से वे भली-भाँति परिचित हैं। उनकी वाग्मिता और भाषण कला से कौन नहीं अभिभूत हुआ है, पर जब भी और जहाँ भी वे बोलते हैं और लिखते हैं कोई-न-कोई विवाद उठकर खड़ा हो जाता है। पर उनमें विनम्रता भी कुछ कम नहीं है- ...मैं कोई प्रवर्तक या प्रतिपादक नहीं हूँ। मैं तो अपने आपको मानता हूँ' हों पंडितन का पिछलग्गू' तो मैं तो पण्डितों का पिछलग्गू अपने को मानता हूँ। फिर जब मैंने कहा कि भारतीय रचनात्मकता स्वस्थ, समृद्ध है और उसकी तुलना में भारतीय आलोचना कमजोर है, तो उसका तात्पर्य यह है कि इसे स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है। सच तो यह है कि आलोचना वही सशक्त होती है जहाँ विचार और दर्शन विकसित होता है। जब प्राचीन काल में संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास १५०० वर्षों में हुआ, तब भारतीय दर्शन, भारतीय तर्कशास्त्र और भाषा विज्ञान अपने शीर्ष पर थे।'' (आलोचना त्रैमासिक सहस्राब्दी अंक ५१ अक्टूबर-दिसम्बर २०१३, पृ. १३७)

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नगेन्द्र और नामवर सिंह- ये पाँचों हिंदी के सर्वाधिक प्रभावशाली, समर्थ आलोचक कहे गए हैं। इनके आलोचना या सिद्धांत को हमें अपने रचनात्मक अनुभव से जोड़ना होगा। ये सभी आलोचनात्मक प्रतिभाएँ सृजनात्मकता में बेजोड़ हैं, इन्होंने समीक्षा के नए पथ निर्मित किए हैं जो आज भी उपादेय हैं, पर बिना विवेक या बिना दृष्टि के हम क्या करेंगे? पाँचों पथीकृत समीक्षक हमारे अक्षयवट हैं। अक्षयवट अक्षय क्यों है? क्यों कहलाता है? शिष्य के आचार्य से प्रश्न

करने पर आचार्य ने कहा था कि अक्षय वह होता है जो अपना विस्तार करता है। वटवृक्ष एक ऐसा वृक्ष है, जिसकी हर शाखा कालांतर में वृक्ष का रूप ले लेती है। ऐसा वृक्ष कभी नष्ट नहीं होता, मूल न भी रहे तो उसकी शाखाएँ मूलवत् हो जाती हैं और उसका अविराम विस्तार होता रहता है। एकोहम् बहुस्याम् का अर्थ मूलतः यही है, एक से अनेक होना महत्त्वपूर्ण है, अनेक में भी एक की सत्ता बनी रहती है। ये 'पंचजन'- हमारे प्रणाम के अधिकारी हैं। इन सुधी विचारकों द्वारा जो सोचा गया या रचा गया एक बार वह आगामी काल में भी नए अर्थों को प्रस्तुत करेगा तथा अर्थ-सृजन की प्रेरणा देता रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। ये समीक्षक वाग्देवी के प्रसाद से खुले आकाश की सृष्टि करते हैं, जो मानव के चेतना-क्षेत्र को फैलाव देते हैं। इन्हें मैं पुनः प्रणाम करता हूँ।

आज आलोचना का संकट क्यों है? उसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि आज आलोचना खेमों-खूटों में बँटी हुई है, फलस्वरूप झाँसा पट्टी वाले समीक्षक और ठस्स किस्म के आलोचक पैदा हो गए हैं, जो बाजारू और प्रचारू हैं, कहीं से भी जुझारू प्रकृति के नहीं हैं। 'फैज' ने पते की बात कही- "वही बात उन्हें नागवार गुजरी है, जिसका जिक् मेरे असरार में नहीं।"

यायावर राजशेखर ने आज से हजार साल पूर्व चार प्रकार के आलोचक बतलाए हैं- १. अरोचकी २. सतृणाम्यवहारी ३. मत्सरी ४. तत्त्वाभिनवेशी। अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हें किसी की अच्छी-से-अच्छी रचना भी नहीं जँचती। सतृणाम्यवहारी आलोचक वे होते हैं, जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओं पर वाह-वाह कर उठते हैं। मत्सरी वे होते हैं, जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसंद नहीं करते और कुछ-न-कुछ दोष निदर्शन करने की चेष्टा करते रहते हैं। तथा तत्त्वाभिनवेशी वे हैं, जो निष्पक्ष और सच्चे समालोचक हैं। हमने पूर्व में जिन पाँच समालोचकों - आचार्य शुक्ल, द्विवेदी, शर्मा, नगेन्द्र और नामवर के विषय में कुछ वर्णित किए हैं, वे सभी तत्त्वाभिनवेशी समालोचक हैं और वे ही निष्पक्ष और

सच्चे समालोचक हैं।

यह सत्य है कि, आज हम अभिरुचि के संकट (क्राइसेस ऑफ टेस्ट) से गुजर रहे हैं। ऐसा क्यों है? आज के औद्योगिक वैज्ञानिक और मशीनी दबाव के कारण हमारी कल्पना शक्ति और भाव प्रवणता कुंठित और बौनी हो रही है। इसका प्रभाव रचना और आलोचना- दोनों पर पड़ना स्वाभाविक है। साहित्य का मूल उपादान संवेदना है, जिसके बिना रचना और आलोचना दोनों ही निर्जीव हो जाती है। सर्जक हो या आलोचक उसका तात्कालिक निकष पाठक होता है और दीर्घकालिक निकष 'समय' होता है। ('दुःख सबको माँजता है'- अज्ञेय) इसमें कहीं-न-कहीं 'दुःख संवेदनानैव रामे चैतन्यमर्षितम्' की अनुगूँज है। भवभूति अपने पाठक वर्ग से गंभीर अर्थ में निराश थे और उन्होंने बड़ी व्यथा और गहरे आत्मविश्वास के साथ लिखा- ये नाम कवि दिह न प्रथमन्त्यवज्ञा/ जानानान्ति ते किमपि तान्प्रतिनैष यत्रः।/ उत्पत्त्यायेस्ति मम तुकोषि समानधर्मा/ कालो ह्यमं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।"

(जो लोग मेरे काव्य का अनादर करते हैं, इसका कारण उन्हें ही मालूम होगा, उसके लिए मैंने प्रयत्न भी नहीं किया है। समय का अंत नहीं है, पृथ्वी का विस्तार भी कम नहीं है। इसमें जो कोई समानधर्मा है या कभी होगा उसके लिए यह नाट्य रचना का रूप यत्र समझना चाहिए।)

अंत में मैं आचार्य विद्यानिवास मिश्र के शब्द उधार लेकर कुछ कहना चाहूँगा- "लेखक की ओर से, लेखक तो लिखकर कहीं गुम हो जाता है। व्यक्ति की ओर से यह निवेदन है पाठकों से, आलोचकों से नहीं, आलोचकों से तो कोई संवाद संभव ही नहीं, वे एकालाप ही अधिकतर करते हैं या अधिक से अधिक 'जनन्त्रिके' (कनफूसी वह भी अपने गोल के लोगों से) से ही भाषण करते हैं। रचना से वे विशेष रूप से कतराते हैं, हाँ व्यक्ति को जरूर-गाहे-बगाहे ललकारते हैं। उनसे कुछ कहना-सुनना 'बेमतलब' है। पाठकों से निवेदन का विशेष अभिप्राय है। (व्यक्ति व्यंजना- विद्यानिवास मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र. स. २०००, पृ. ६)

संपर्क : उदयाचल निलयम्, खालिसपुर, मिर्जामुराद, वाराणसी- 221307, मो. 9452075517

शुक्लपूर्व हिंदी आलोचना: पुनर्पाठ की जरूरत

डॉ. अमरनाथ

पूर्व आचार्य, हिंदी विभाग

कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

एक सामान्य अवधारणा है कि हिंदी आलोचना का विकास आधुनिक काल में गद्य के विकास के साथ हुआ। प्रश्न यह है कि हिंदी साहित्य की रचना तो नवीं-दसवीं सदी से ही होने लगी थी। हम उसके इतिहास का अध्ययन नवीं सदी से ही आरंभ कर देते हैं। फिर आलोचना का विकास अठारहवीं सदी से क्यों? क्या हजार साल तक सिर्फ रचनाएँ होती रहीं और उन पर प्रतिक्रियाएँ नहीं होती थीं? यदि रचना के साथ-साथ ही आलोचना का विकास भी होता है तो क्या हिंदी साहित्य के आदि काल से आधुनिक काल के भारतेंदु युग तक लोग सिर्फ रचनाएँ पढ़ते और सुनते रहे हैं और उन पर प्रतिक्रियाएँ देने से परहेज करते रहे हैं? भला ऐसा कैसे संभव है?

दरअसल, आलोचना का विकास रचना के साथ ही होता है। रचना पर संतुलित प्रतिक्रिया ही आलोचना होती है। इसलिए जिस समय से हम हिंदी साहित्य का अध्ययन आरंभ करते हैं उसी समय से उसकी आलोचना का अध्ययन भी करना होगा। खेद है कि उसका व्यवस्थित अध्ययन अब तक नहीं हुआ है और हम मानते चले आ रहे हैं कि हिंदी आलोचना का विकास आधुनिक काल में गद्य के विकास के साथ हुआ। यह गलत धारणा है। सच्चाई यह है कि हिंदी साहित्य के इतिहास के साथ ही हिंदी आलोचना के विकास का इतिहास भी जुड़ा हुआ है और आलोचना की परंपरा भी हिंदी के रचनात्मक साहित्य की तरह ही समृद्ध है। आज उसके विस्तृत अध्ययन और उसके कारणों के विश्लेषण की जरूरत है।

हिंदी आलोचना की विरासत संस्कृत में निहित है। हमारा संस्कृत साहित्य जितना समृद्ध है उतना ही समृद्ध संस्कृत साहित्य का आलोचना शास्त्र है। लगभग डेढ़ हजार वर्षों के संस्कृत साहित्य के मूल्यांकन के लिए आचार्यों द्वारा जो सिद्धांत प्रतिष्ठित और विकसित किए गए उनमें रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य प्रमुख हैं। इनमें रीति, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे सिद्धांतों का महत्व तो धीरे-धीरे क्षीण होता गया और हिंदी में इनकी नोटिस कम ली गई किंतु रस, अलंकार और ध्वनि सिद्धांत का महत्व आज भी बना हुआ है। इसलिए हिंदी

के आलोचना शास्त्र को समझने के लिए संस्कृत की अपनी इस महान विरासत को समझना और सहेजना बहुत जरूरी है।

संस्कृत की व्यावहारिक समीक्षा भी बहुत समृद्ध है और सैद्धांतिक मानदंडों पर ही आधारित है। इसकी मुख्यतः तीन पद्धतियाँ हैं पहली, व्याख्यात्मक आलोचना अथवा टीका पद्धति दूसरी, सूक्तियों के रूप में की जाने वाली कवियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ और तीसरी, काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में अपनी स्थापनाओं की पुष्टि में आचार्यों द्वारा उद्धृत कवियों की उक्तियाँ। जिनके साहित्य का आस्वाद, सुबुद्ध और सहृदय पाठकों को तभी मिला जब उनके व्याख्याकारों ने उन पर भाष्य लिखे। कालिदास के भाष्यकार मल्लिनाथ ने तो कहा ही है कि कालिदास की वाणी बिना भाष्य के 'दुर्व्याख्याविषमूर्छिता' हो गई थी। मल्लिनाथ ने उसका भाष्य लिखकर उसे सहृदय पाठकों के लिए सुगम बनाया। इसी तरह आनंदवर्धन के महान ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' की महत्ता से लोग लगभग एक सौ साल तक अपरिचित ही रहे। लोगों को इस ग्रंथ का महत्त्व तब समझ में आया जब अभिनव गुप्त ने उसकी 'ध्वन्यालोकलोचन' नाम से टीका लिखी।

सूक्तियों के रूप में भी आलोचना की समृद्ध परंपरा संस्कृत में प्रचलित रही है। कहने के लिए तो कवियों के ऊपर कही गई ये सामान्य सूक्तियाँ लगती हैं। किंतु इन एक एक पंक्तियों की सूक्तियों के पीछे संबंधित रचना और रचनाकार के विषय में सूक्तिकार की कितनी गहन साधना शामिल है इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्/ दंडिनः पदलालित्यं माघे संति त्रयो गुणाः", "मेघे माघे गंतं वयः", "श्लेषकेचनशब्दगुणविषये केचिद् रसे चापरेऽलंकारे कदिचित् सदर्थं विषये चान्ये कथावर्णने, / आसर्वत्रगंभीरधीर कविताविन्ध्याटवीचातुरी संचारी कविकुंभिकुंभभिदुरो वाणस्तु पंचाननः" आदि सूक्तियों अथवा सूक्तियों जैसे आलोचनात्मक श्लोकों में सूक्तिकार के अध्ययन विश्लेषण और उसके बाद की उसकी निर्णयात्मक आलोचना दृष्टि की पूरी मीमांसा देखी जा सकती है। संस्कृत साहित्य में आलोचना की यह अत्यंत समृद्ध परंपरा रही है जिसका अभी तक ठीक से अध्ययन नहीं हुआ है।

व्यावहारिक आलोचना की तीसरी परंपरा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में लक्षणों की पुष्टि के लिए प्रमाण स्वरूप कवियों की उक्तियों को उद्धृत करने की है। संस्कृत में काव्यशास्त्रीय ग्रंथ खूब लिखे गए। इन ग्रंथों में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के भेदों उपभेदों के लक्षण दिए जाते रहे और उनकी पुष्टि में कविताओं या साहित्य की अन्य विधाओं से भरपूर उद्धरण दिए गए। इन उद्धरणों में कभी-कभी तो काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ के प्रणेताओं द्वारा स्वरचित उद्धरण दिए गए और कभी-कभी उन्होंने अन्य रचनाकारों की कृतियों से उद्धरण चयनित करके दिए, जहाँ आचार्यों ने अन्य रचनाकारों की कृतियों से उद्धरण चयनित करके दिए हैं वहाँ सहज ही रचना के बारे में उनकी टिप्पणियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। ये टिप्पणियाँ वस्तुतः रचना का मूल्यांकन करने वाली आलोचनात्मक टिप्पणियाँ ही हैं। व्यावहारिक आलोचना की उपर्युक्त तीनों परंपराएं हिंदी आलोचना में भी यथावत् चलती रहीं।

आधुनिक काल से पूर्व हिंदी में आलोचना के जो रूप प्रचलित थे उसका श्रेय संस्कृत साहित्य को है। संस्कृत में सैद्धांतिक आलोचना के जो छः सिद्धांत प्रचलित थे उनमें से हिंदी में रस, ध्वनि और अलंकार का विशेष प्रचलन हुआ।

मध्यकाल में लक्षण ग्रंथों के प्रणयन की एक समृद्ध परंपरा मिलती है जिसका क्रम संस्कृत साहित्य से चला आ रहा था। इन लक्षण ग्रंथों के माध्यम से अलंकारों आदि का लक्षण और उनका उदाहरण प्रस्तुत करना कवि-आचार्यों का प्रमुख उद्देश्य रहता था। लक्षण ग्रंथों का यह रूप सैद्धांतिक था। उस काल की यह एक अत्यंत परिपुष्ट पद्धति बन चुकी थी। इस परंपरा में कृपाराम, ब्रह्म (बीरबल) गंग, बलभद्र मिश्र, केशवदास, रहीम, मुबारक आदि का नाम लिया जा सकता है जो संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा को ही हिंदी में आगे बढ़ाने वाले आचार्य हैं। इनकी मौजूदगी हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में मिलती है।

रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों की रचना की एक परिपाटी ही चल पड़ी। इसमें कवियों ने भी बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया। सेनापति का प्रसिद्ध ग्रंथ 'कवित्त रत्नाकर' (१६४९ई.) इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इस ग्रंथ से रीतिकालीन कवि आचार्यों को बहुत प्रेरणा मिली थी। बिहारी, मतिराम,

भूषण, देव आदि रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा को आगे बढ़ाया। रीतिकाल में पहला लक्षण ग्रंथ संभवतः कृपाराम कृत 'हित तरंगिणी' (१५४१ई.) है। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' को आधार बनाकर लिखा गया यह ग्रंथ पांच तरंगों में विभक्त है। इसके पश्चात् मोहनलाल मिश्र के 'शृंगार सागर' (१५४९ ई.) का नाम लिया जा सकता है जिसमें नायिका भेद का विस्तृत वर्णन है। इसी के समकालीन नंददास की कृति 'रसमंजरी' भी है। इसके बाद केशवदास का क्रम आता है। केशवदास (१५५०-१६१०ई.) के प्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ हैं 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'। केशव मूलतः अलंकारवादी थे। महाकाव्य होने के बावजूद उनकी 'रामचंद्रिका' में विविध छंदों का जो प्रयोग हुआ है उससे एक लक्षण ग्रंथ के रूप में भी उसका उल्लेख किया जा सकता है। चिंतामणि त्रिपाठी की गणना रीतिकाल के श्रेष्ठ आचार्य के रूप में की जाती है। उनके द्वारा प्रणीत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'पिंगल', 'शृंगारमंजरी' और 'कवि-कुल-कल्पतरु' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'कवि-कुल-कल्पतरु' में संस्कृत के 'दशरूपक', 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' आदि ग्रंथों के आधार पर रस, अलंकार, गुण, दोष आदि का विवेचन किया गया है। पद्माकर रीतिकाल के अंतिम अलंकारवादी आचार्य हैं जिनकी ख्याति कवि के रूप में अधिक है। रीतिकाल के रसवादी आचार्यों में तोष तथा मतिराम विशेष उल्लेखनीय हैं। तोष का ग्रंथ 'सुधानिधि' (१६३७ई.) है, जिसे उन्होंने रस के लिए प्रचुर मात्रा में उपयुक्त उदाहरणों से समृद्ध किया है। मतिराम की पुस्तक 'रसराम' (१६१७) है जिसमें नायक-नायिका भेद खास तौर पर वर्णित है, इस ग्रंथ को भी प्रचुर मात्रा में सरस उदाहरणों से समृद्ध किया गया है।

ध्वनिवादी आचार्यों में कुलपति मिश्र का नाम पहले स्थान पर रखा जा सकता है। उनकी कृति 'रस-रहस्य' (१६७०ई.) है। भिखारीदास भी रीतिकाल के श्रेष्ठ आचार्य हैं। इनका रचनाकाल अठारहवीं सदी का तीसरा, चौथा और पांचवा दशक है। उन्होंने ध्वनि, रस, अलंकार सभी पर लक्षण ग्रंथ लिखे। उनके ग्रंथों में 'रससारांश', 'छन्दोर्णवपिंगल', 'काव्यनिर्णय' और 'शृंगारनिर्णय' प्रमुख

हैं। इसमें 'काव्यनिर्णय' सबसे उत्कृष्ट है जिसमें ध्वनि, रस, अलंकार, गुण, दोष आदि सबका विवेचन है।

समीक्षा के लिए दूसरी महत्वपूर्ण परंपरा टीका पद्धति थी। यह पद्धति भी संस्कृत साहित्य से चली आ रही थी। वास्तव में रचना को सहृदय पाठकों के लिए बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से ही टीकाएँ लिखी जाती थीं जो आलोचना का ही एक विशिष्ट रूप थीं। इतना ही नहीं, टीकाकार काव्य की टीका करते-करते कवियों के विषय में भी आलोचनात्मक उक्तियाँ कह दिया करते थे। इस प्रकार की आलोचना हिंदी में 'रामचरितमानस' और 'बिहारी सतसई' की टीकाओं, कुलपति, श्रीपति, चिन्तामणि और सोमनाथ द्वारा लिखी गई वचनिका-वार्ता, तिलक आदि के रूप में मिलती हैं। मध्यकालीन भक्ति और रीतिकाव्य पर ब्रजभाषा गद्य में अनेक टीकाएँ मिलती हैं। जैसे 'चौरासी' और 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' पर गुसाई हरिराय की 'भाव प्रकाश' टीका, साहित्य लहरी पर सरदार कवि कृत टीका, भक्तमाल पर प्रियादास की टीका, हित हरिवंश के चौरासी पद पर तथा बिहारी सतसई पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। रामचरितमानस पर भी अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। रीतिकाल के अंतिम चरण में सरदार कवि कृत 'मानस रहस्य' को रीतिकालीन व्यावहारिक आलोचना में टीका पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण स्वीकार किया जा सकता है। इसमें काव्यांगों के लक्षण, उन लक्षणों के अनुसार मानस से उदाहरण और अंत में उन स्थलों की गद्य में व्याख्या देकर सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत साहित्य में प्रचलित सूक्तियों के आधार पर ही हिंदी में भी 'सूर सूर तुलसी ससी उड्गन केसवदास/ अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास', 'तुलसी गंग दुओ भए सुकविन के सरदार, उनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार', 'और कवि गढ़िया नंददास जड़िया'। आदि सूक्तियाँ भक्तिकालीन आलोचना का एक रूप प्रस्तुत करती हैं। इन सूक्तियों में कवियों के काव्य सौंदर्य का शास्त्रीय तत्त्वों की दृष्टि से निर्देश मात्र अधिक मिलता है। ये प्रायः तुलनात्मक समीक्षा के उदाहरण हैं। इनमें वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य अधिक है।

इस प्रकार भारतेंदु काल के आरंभ में हमें हिंदी आलोचना के निम्नलिखित तीन रूप प्राप्त होते हैं। ये तीनों रूप हिंदी को संस्कृत से विरासत में मिले हैं और हिंदी साहित्य के आरंभिक समय से ही प्राप्त होते हैं—

१. लक्षण ग्रंथों की रचना और उनके आधार पर अलंकार आदि का उदाहरण प्रस्तुत करना।

२. टीका पद्धति और उसमें कवि के विषय में प्रशंसात्मक उक्तियाँ

३. सूक्तियों के रूप में कवियों से संबंधित उक्तियाँ।

हिंदी में शुद्ध व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात भारतेंदु युग में गद्य के विकास के साथ प्राप्त होता है। भारतेंदु के आगमन से हिंदी में जो नवयुग का सूत्रपात हुआ, उसमें पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति के संपर्क से नवीन विचारों का अभ्युदय और उसके प्रकाशन के माध्यम के रूप में गद्य का आविर्भाव हुआ। वैज्ञानिक अनुसंधान, औद्योगिक क्रांति, राष्ट्रीय चेतना, जनतांत्रिक मूल्य, जीवन के प्रति बौद्धिक एवं उपयोगितावादी दृष्टि, विचार स्वातंत्र्य आदि नये मूल्यों से हिंदी के साहित्यकार परिचित और प्रभावित हुए। हमारे पुराने साहित्यिक संस्कार बदलने लगे। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस नवजागरण के केन्द्रीय व्यक्तित्व के रूप में उभरे। हिंदी आलोचना भी इससे गहरे प्रभावित हुई।

बहरहाल, भारतेंदु युग में हिंदी आलोचना के परंपरागत तीनों रूप चलते रहे अर्थात् लक्षण या सिद्धांत ग्रंथों की रचना होती रही, टीकाएँ लिखी जाती रहीं और उनमें कवियों के वैशिष्ट्य को संकेतित किया जाता रहा तथा सूक्तियों के रूप में कवियों के मूल्यांकन का क्रम भी चलता रहा तथा इन तीनों परंपराओं के साथ इस युग में हिंदी आलोचना के दो नए रूप सामने आए—

१. पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के रूप में की जाने वाली आलोचना।

२. इतिहास ग्रंथों में कवि-परिचय के साथ उनके महत्त्व का प्रतिपादन करने वाली आलोचना।

उपर्युक्त सभी पद्धतियों में सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण पद्धति टीका पद्धति है। टीकाओं को व्यावहारिक आलोचना का उत्कृष्ट रूप कहा जा सकता है। एक आदर्श टीका लिखने के लिए टीकाकार को इतिहास, दर्शन, धर्म, नीति,

काव्यशास्त्र, लोक-रीति, काव्य-रूढ़ि, भाषा विज्ञान आदि की समुचित जानकारी के अलावा विषय के विश्लेषण की गहरी समझ और रसग्राहिका शक्ति भी होनी चाहिए। टीकाओं के अनेक नाम और रूप संस्कृत में प्रचलित थे जैसे तिलक, लोचन, भाष्य, कारिका, फक्किका आदि। टीकाओं में काव्य विषय की व्याख्या के साथ ही काव्य सौंदर्य का उद्घाटन भी किया जाता था। और दोष का निरूपण भी। टीकाएँ गद्य और पद्य दोनों में की जाती थीं। संस्कृत की तरह ही हिंदी में भी लगातार टीकाएँ लिखी जाती रहीं। रामचरितमानस, रामचंद्रिका, कविप्रिया और बिहारी सतसई पर सर्वाधिक टीकाएँ लिखी गईं। स्वयं भारतेंदु ने बिहारी सतसई और सूर के कूट पदों पर टीकाएँ लिखी थीं। लाला भगवान दीन ने केशव कौमुदी, प्रिया प्रकाश, मानस की टीका, बिहारी बोधिनी, दोहावली, कवितावली और छत्रसाल दशक आदि टीका ग्रंथों की रचना करके मध्यकालीन कवियों के काव्य की व्याख्या की और उनके काव्य सौंदर्य का उद्घाटन किया। हिंदी की टीकाओं के क्षेत्र में दो नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं— सरदार कवि जिन्होंने केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की टीकाएँ लिखी तथा लल्लूलाल, जिन्होंने बिहारी सतसई की टीका 'लाल चन्द्रिका' नाम से लिखी। यह टीका भारतेंदु काल से कुछ पूर्व लिखी गई थी किंतु भारतेंदु युग में इसका पुनः परिष्कार हुआ और यह परिष्कार पंडित सुधाकर द्विवेदी और जार्ज ग्रियर्सन ने मिलकर किया। बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने बिहारी रत्नाकर नाम से बिहारी सतसई की मार्मिक टीका लिखी। वियोगी हरि ने विनय पत्रिका की टीका लिखी जो अपने विशद व्याख्या और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन के लिए विख्यात है। प्रसाद की कामायनी पर शैदा की लिखी गई टीका का भी विशिष्ट स्थान है।

इधर टीका लिखने की प्रवृत्ति तेजी से घटी है क्योंकि इसमें श्रम अधिक लगता है और उसकी तुलना में प्रतिष्ठा कम मिलती है। अब आलोचकों को कम समय में आलोचना लिखक रचनाकार को प्रतिष्ठित करने और उसके हृदय में जगह बनाने की जल्दी भी रहती है।

यद्यपि इन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन में परंपरागत रीतिकालीन दृष्टि केन्द्र में रही और उनमें रचनात्मकता एवं

सैद्धांतिकता दोनों दृष्टियों से शास्त्रीयता का आग्रह प्रबल था, किंतु इनकी दृष्टि में नयापन अवश्य था। इनकी समसामयिक आधुनिकता ने रचनात्मक साहित्य की दिशा को तेजी से प्रभावित किया। राष्ट्रीय जागरण, रेल तथा संचार के साधनों के विकास और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से परंपरागत शास्त्रीयता के स्थान पर व्यावहारिक समीक्षा की नवीन परंपरा का सूत्रपात हो चुका था।

इतिहास ग्रंथों में कविपरिचय के साथ प्राप्त होने वाली आलोचना का सूत्रपात शिवसिंह सरोज (१८७९) से हुआ। शिवसिंह ने कवियों के इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए उनकी श्रेष्ठ रचनाओं को भी उद्धृत किया और उनके संबंध में प्रशंसात्मक उक्तियाँ कहीं।

इस काल में शुद्ध व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात समकालीन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ हुआ। इन पत्रों में 'कविवचन सुधा' (१८६८), 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' (१८७३), 'हिंदी प्रदीप' (१८७७) 'ब्राह्मण' (१८८३) 'भारत मित्र' (१८७७), सारसुधानिधि' (१८७८), 'आनंद कादंबिनी' (१८८१) आदि मुख्य हैं। इन पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित की जाती थीं। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के मुख पृष्ठ पर पत्रिका में प्रकाशित होने वाले विषयों की सूची के अंत में 'और आलोचना संभूषिता' लिखा हुआ होना यह प्रमाणित करता है कि उसमें समालोचनात्मक रचनाओं को स्थान देने के भी प्रयत्न हुए हैं और भारतेंदु ने ही इसका आरंभ किया। 'कविवचन सुधा' (१८७२) में 'हिंदी कविता' नाम से पहला आलोचनात्मक निबंध भी उन्होंने लिखा। १८८० ई. के पूर्व इन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली आलोचनाएँ पुस्तक परिचय मात्र होती थीं। होता यह था कि पुस्तक प्राप्त होने की सूचना के साथ कुछ टिप्पणियाँ छाप दी जाती थीं। क्रमशः १८८० के बाद आलोचना का स्तर गंभीर होता गया।

इन पुस्तक समीक्षाओं की अपेक्षा वास्तव में आलोचनात्मक निबंधों में हमें सच्ची व्यावहारिक आलोचना के दर्शन होते हैं और इस तरह की आलोचना का आरंभ पंडित बालकृष्ण भट्ट और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' से प्राप्त होता है। इन दोनों ने १८८५ में लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना अपने-अपने पत्रों क्रमशः 'हिंदी

प्रदीप' और 'आनंद कादंबिनी' में की थी। 'आनंद कादंबिनी' की आलोचना में आलोच्य कृति की त्रुटियों की ओर संकेत करने के साथ-साथ स्वाभाविकता और गंभीरता की रक्षा का प्रयत्न परिलक्षित होता है। भट्ट जी द्वारा संपादित 'हिंदी प्रदीप' इस दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध माना जा सकता है। उन्होंने स्वयं लगभग ३० वर्षों तक व्यंग्यात्मक निबंध और पुस्तक समीक्षाएँ लिखीं। उनकी आलोचना शैली मुख्यतः व्यंग्यात्मक थी। तात्पर्य यह है कि इस युग में एक ओर पारंपरिक समीक्षा शैलियों का विकास हुआ तो दूसरी ओर नवीन शैली की व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। भारतेंदु के इस नये युग की विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अधिकांश में विलक्षण है। इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंब करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता है।" (भारतेंदु समग्र, पृ. ५५९) जाहिर है, जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सूत्रपात हो चुका था।

इस युग के प्रमुख समीक्षकों में भारतेंदु के अलावा बालकृष्ण भट्ट, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' और प्रताप नारायण मिश्र प्रमुख हैं। संस्कृत से चली आ रही काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के लेखन की परंपरा आधुनिक काल में पूरी तरह बंद नहीं हो गई बल्कि अपने बदले हुए रूप में वह शुक्लोत्तर काल में भी जारी रही।

इन काव्य सिद्धांतों पर नवीन दृष्टि से विचार करने वालों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अलावा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू श्यामसुंदर दास, बाबू गुलाब राय, डॉ. नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'रसज्ञ रंजन' नामक ग्रंथ में विषय के अनुकूल छंद योजना, नवीन छंदों के ग्रहण, शुद्ध और सरल भाषा के प्रयोग, अर्थ सौरस्य आदि के महत्त्व और उसके प्रयोग पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनका विचार है कि अलंकार और रस विवेचन के झगड़ों से हमें बचना चाहिए। अनावश्यक शास्त्रीय जटिलताओं के वे विरोधी हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि हेला भाव का लक्षण और उसका चित्र देखने से क्या लाभ? अथवा दीपक अलंकार व उसके

सूक्ष्म से सूक्ष्म भेदों को जानने का क्या उपयोग? हिंदी में ऐसे कितने काव्य हैं जिनमें ये भेद पाए जाते हैं? इस तरह द्विवेदी जी तत्कालीन काव्य रचना और समीक्षा सिद्धांत विवेचन के अंतराल को मिटाकर नवीन सिद्धांतों की स्थापना करना चाहते थे। इसी तरह बाबू श्यामसुंदर दास ने 'साहित्यालोचन', बाबू गुलाब राय ने 'सिद्धांत और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' आदि के द्वारा नवीन, उपयोगी तथा समसामयिक काव्य कृतियों को अनुप्राणित करने वाले सिद्धांतों की स्थापना पर बल दिया।

हिंदी की शास्त्रीय समीक्षा की एक विशेषता यह है कि एक ओर संस्कृत के मूल सिद्धांत ग्रंथों जैसे 'काव्यादर्श', 'काव्यालंकार सूत्र', 'ध्वन्यालोक', 'वक्रोक्तिजीवित', 'काव्यमीमांसा', 'औचित्यविचार चर्चा', 'काव्य प्रकाश', 'अभिनव भारती' आदि के हिंदी में भाष्य के साथ प्रामाणिक संस्करण उत्साह के साथ प्रस्तुत किए गए तो दूसरी ओर अंग्रेजी के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का भी बड़ी संख्या में हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुए। हिंदी अनुसंधान परिषद् दिल्ली ने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथों अरस्तू के काव्य शास्त्र, लांजाइनस के 'द सब्लाइम' तथा होरेस के 'आर्स पोयटिका' के हिंदी अनुवाद कराए। इस तरह हिंदी की शास्त्रीय समीक्षा बहुत समृद्ध हुई।

शास्त्रीय व व्याख्यात्मक आलोचकों की परंपरा में मैंने जिन आलोचकों को सम्मिलित किया है उन्हें आम तौर पर शुक्लानुवर्ती आलोचकों की श्रेणी में रखा जाता है। मुझे यह वर्गीकरण उचित नहीं लगा क्योंकि शुक्लानुवर्ती आलोचक तो उन्हें कहेंगे जिन्होंने आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक मान्यताओं को पूरी तरह स्वीकार करने के साथ ही उस परंपरा को आगे बढ़ाया हो, उसका विकास किया हो। किंतु उन आलोचकों को शुक्लानुवर्ती आलोचक भला कैसे कहा जा सकता है जिन्होंने पहले से चली आ रही आलोचना की शास्त्रीय पद्धतियों मसलन् रस, अलंकार, ध्वनि आदि को ही साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी माना हो और उन्हीं कसौटियों पर साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते रहे हों, अथवा कृतियों की टीकाएं लिखते रहे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि टीकाएं लिखने वाले आलोचकों का महत्त्व मैं कम करके आंक रहा हूँ। निश्चित रूप से किसी महान कृति

का टीका लिखना महान कार्य है और इसकी तुलना अन्य किसी काम से नहीं की जा सकती। किंतु आचार्य शुक्ल की महानता टीका लिखने के कारण नहीं, अपितु, दूसरे बहुत सी मौलिक उद्भावनाओं के कारण है। मेरी धारणा यह है कि शुक्ल जी के काम को आगे बढ़ाने वालों में रामविलास शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिवकुमार मिश्र आदि माने जाएंगे जिन्होंने आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति का विकास किया है। कई कारणों से आचार्य शुक्ल ने छायावाद के साथ न्याय नहीं किया तो आचार्य वाजपेयी ने उसे प्रतिष्ठित किया, आचार्य शुक्ल ने कबीर की भी संतुलित आलोचना नहीं की तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक लिखकर उन्हें उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया। रामविलास शर्मा ने उनकी भौतिकवादी दृष्टि की विस्तृत व्याख्या करके उन्हें प्रगतिशीलों के लिए सर्वथा ग्रहणीय बनाया परंतु इनमें से किसी ने भी आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का खंडन या विरोध नहीं किया है। सभी ने उनके महत्त्व को श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। इसलिए हमारी दृष्टि में ये ही सही अर्थों में शुक्लानुवर्ती आलोचक कहे जाएंगे। आगे की आलोचना वस्तुतः आचार्य शुक्ल की आलोचना का ही अगला विकास है। आचार्य शुक्ल की आलोचना दृष्टि भौतिकवादी है। जबकि जिन्हें शुक्लानुवर्ती समीक्षक कहा गया है उनमें से किसी की भी दृष्टि भौतिकवादी नहीं है, ऐसी दशा में हमें इन्हें शास्त्रीय आलोचकों की श्रेणी में ही रखना उचित है। शुक्लोत्तर पीढ़ी के शास्त्रीय समीक्षकों में लाला भगवान दास, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, रामशंकर शुक्ल रसाल, दीनदयालु गुप्त, ब्रजेश्वर वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, कृपाशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख, गिरिजादत्त गिरीश, केशरीनारायण शुक्ल, भगवती प्रसाद सिंह, उदयभानु सिंह, बासुदेव पोद्दार, रामचंद्र तिवारी, राममूर्ति त्रिपाठी, आनंद प्रकाश दीक्षित आदि प्रमुख हैं।

हिंदी में अनुसंधानात्मक आलोचना की परंपरा का आरंभ एक विदेशी जिज्ञासु 'गार्सा द तासी' ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से सामाजिक दायित्व निभाने के लिए किया था। १८३९ में फ्रेंच में "इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐंडुई ऐंडुस्तानी" तथा इसके आठ वर्ष बाद इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ

था। इसकी उपलब्धियाँ तथा गुणवत्ता विवादास्पद हो सकती है किंतु, इसमें हिंदी उर्दू के कवियों का परिचय, नवीन तथ्य एवं सूचनाएँ अनुसंधानपरक दृष्टि की परिचायक हैं। यह एक व्यक्ति का उपाधिनिरपेक्ष निजी प्रयास है। हिंदी अनुसंधान के विकास में यह एक महत्वपूर्ण बिंदु है। उन्यासी वर्ष के बाद एक दूसरे विदेशी विद्वान ने लंदन विश्वविद्यालय से उपाधि सापेक्ष अनुसंधानकार्य किया। वे थे जे. एन. कारपेन्टर और उनका विषय था 'थियोलॉजी ऑफ तुलसीदास'। इस शोध कार्य पर उन्हें १९१८ ई. में शोध उपाधि प्राप्त हुई।

भारतेंदु और उनके मंडल के लेखक निरंतर बंगाल के संपर्क में रहे। इन सबके परिणामस्वरूप हिंदी भाषी क्षेत्रों के बुद्धिजीवी भी हिंदी साहित्य की समृद्ध परंपरा के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त हुए। इस अनुसंधान कार्य में विदेशियों ने भी पर्याप्त भूमिका निभाई। सर जार्ज ग्रियर्सन (मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान), एफ.ई.के. (ए हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर) जैसी कृतियाँ इसी काल खण्ड में आई। बाद में 'कविवचन सुधा' (१८६८), 'हिंदी प्रदीप' (१८७७), ब्राह्मण (१८८३) आदि प्रत्रिकाओं में विभिन्न नवीन विषयों पर अनुसंधानपरक लेख प्रकाशित होने लगे। स्वयं भारतेंदु ने कालिदास, जयदेव, सूरदास तथा पुष्पदंताचार्य की चरितावली लिखी। पुरातत्व और भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर अनुसंधानपरक निबंध लिखे। 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य' शीर्षक उनका महत्वपूर्ण सिद्धांतनिरूपक निबंध अनुसंधान-दृष्टि का सूचक है।

अनुसंधानपरक आलोचना का व्यवस्थित रूप द्विवेदी युग में सामने आया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'नैषधचरित चर्चा' में अनुसंधानपरक समीक्षा का उन्नत स्वरूप ढलता हुआ दिखाई देता है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७ई.) में बाबू राधाकृष्णदास का 'नागरीदास का जीवन चरित्र', बाबू श्यामसुंदर दास का 'बीसलदेव रासो', किशोरीलाल गोस्वामी का 'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'पद्मपुराण', चंद्रधर शर्मा गुलेरी का 'विक्रमोर्वशी की मूल कथा' आदि अनेक गंभीर एवं गवेषणापूर्ण आलोचनात्मक निबंध सन् १८९९ई. और १९००ई. के बीच प्रकाशित हुए।

१९१३ ई. में भारत के विभिन्न स्थानों में विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव पारित हुआ और देश के प्रमुख शहरों

जैसे लखनऊ, आगरा, नागपुर आदि में विश्वविद्यालय खुलने लगे। यद्यपि सन् १८५७ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय खुल चुका था और १९१८ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिंदी में स्नातकोत्तर की कक्षाएँ प्रारंभ हो गई थीं, किंतु शोध का कार्य कुछ वर्ष बाद ही आरंभ हो सका। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में १९२१ई. में बाबू श्यामसुंदर दास की नियुक्ति हिंदी के अध्ययन और विकास को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से की गई और यहां भी एम.ए. के पाठ्यक्रम में हिंदी को स्थान दिया गया। इसके बाद शोधपरक समीक्षा का समुचित विकास होना संभव हुआ।

प्रातिष्ठानिक आधार पर भारत में हुए अनुसंधान-कार्य की परंपरा के विकास में १९३१ई. महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष प्रयाग विश्वविद्यालय से बाबूराम सक्सेना को उनके 'अवधी का विकास' अनुसंधान कार्य पर डी.लिट. की उपाधि मिली। १९३४ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पीताम्बर दत्त बड़थवाल को 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' पर डी.लिट. की उपाधि मिली। भारत में हिंदी भाषा पर भाषावैज्ञानिक अनुसंधान कार्य से भाषानुसंधान परंपरा का आरंभ हुआ और कुछ वर्ष के भीतर ही साहित्य के विभिन्न पक्षों पर अनुसंधान कार्य सामने आने लगे और इस तरह अनुसंधान के विषयों में तेजी से विस्तार होने लगा।

इसी अवधि में स्वैच्छिक साहित्यिक संस्थाओं की प्रकाशन योजना में, उनकी सहायता से वैयक्तिक स्तर पर हो रहे अनुसंधानकार्य भी सामने आने लगे।

शोध, समीक्षा नहीं है किंतु समीक्षा के बगैर शोध संभव नहीं है। शोध में जब तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है तब उसका मूल्यांकन भी किया जाता है। इस तरह शोध में समीक्षा का समावेश अनिवार्य हो जाता है। आलोचना में आलोचक का आलोच्य कृति या कृतिकार के प्रति तटस्थता अनिवार्य नहीं होती जबकि अनुसंधानपरक आलोचना में तटस्थता अनिवार्य होती है। शुद्ध अनुसंधान और अनुसंधानपरक आलोचना में भी फर्क हो सकता है। अनुसंधान में परियोजना का प्रस्तुतीकरण विशिष्ट प्रविधि के अनुरूप होता है, किंतु अनुसंधानपरक आलोचना में प्रस्तुतीकरण की कोई निर्दिष्ट प्रविधि नहीं होती। प्रत्येक

आलोचक अपने ढंग से उसे प्रस्तुत करने के लिए स्वतंत्र है।

अनुसंधानपरक आलोचना में अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान होता है। इसलिए यह कार्य कोई भी व्यक्ति किसी संस्था से जुड़कर आसानी से कर सकता है। किसी संस्था से जुड़े बिना अनुसंधान कार्य करना कठिन होता है। इसीलिए विश्वविद्यालयों के खुलने के बाद अनुसंधानपरक आलोचना के क्षेत्र में तेजी से विकास हुआ यद्यपि गुणवत्ता में उतनी ही तेजी से गिरावट भी आई। इस आलोचना का व्यवस्थित अध्ययन अभी बाकी है।

सही अर्थों में आलोचना की एक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण पद्धति पाठालोचन भी है, जिसने हिंदी साहित्य के भंडार को समृद्ध करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। श्रमसाध्य होने के कारण आलोचकों द्वारा इस पद्धति की भरपूर उपेक्षा की गई और इसे आलोचना कहने में भी कोताही बरती गई ताकि प्रचलित अर्थ में जो आलोचक कहे जा रहे हैं उन्हें प्रतिष्ठा मिलने में सुविधा हो।

हमारे देश का प्राचीन साहित्य अलिखित था और श्रुति-परंपरा से पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होता रहता था क्योंकि लिपियों का विकास बहुत बाद में हुआ। इतना ही नहीं, लिपियों के विकास के बाद भी छापाखाना न होने के कारण तथा लेखन सामग्री अर्थात् कागज आदि के न होने के कारण भी रचनाओं को लिपिबद्ध करना आसान कार्य न था और न तो सामान्य लोगों के बस की बात ही थी। समर्थ और सक्षम लोग ही प्रतिष्ठित रचनाओं की प्रतिलिपि लिपिकारों द्वारा कराते थे। कभी-कभी रचनाकार स्वयं अपनी कृतियों का ही संशोधन कर मूल प्रति तैयार कर लेते थे। राजशेखर ने अपने 'काव्य मीमांसा' में लिखा है कि कवियों को काव्यों की सुरक्षा के लिए उनकी कई प्रतिलिपियां तैयार करा लेनी चाहिए। अतः निश्चित रूप से रचनाकार के जीवन काल में ही अच्छे-अच्छे ग्रंथ कई व्यक्तियों द्वारा लिखे जाते रहे होंगे और पुस्तकालयों में संग्रहीत होने पर पुस्तकालयाध्यक्ष भी उनकी प्रतिलिपि कराते रहे होंगे।

हिंदी में पाठानुसंधान की परंपरा का उल्लेख करते हुए डॉ. कन्हैया सिंह ने 'पृथ्वीराज रासो' की एक पुरानी प्रति

का उल्लेख किया है जिसे सन् १८६१ ई. में उदयपुर के महाराज ने आगरा कालेज को भेंट की थी, जिसका उल्लेख २ सितंबर सन् १८६१ ई. को कॉलेज के तत्कालीन प्राचार्य पीटर्सन ने उक्त प्रति के मुख पृष्ठ पर किया है। (हिंदी पाठानुसंधान, पृ. १७) संप्रति यह प्रति नेशनल गैलरी ऑफ़ माडर्न आर्ट, भारत सरकार के पास सुरक्षित है। उक्त प्रति का पाठानुसंधान कक्का नामक कवि ने चित्रकूट के राणा अमरेश (अमरसिंह) की आज्ञा से किया था। राणा अमरसिंह का राज्यकाल सन् १५९६ ई. से १६१९ई. तक था। निश्चित रूप से इसी बीच यह पाठानुसंधान कार्य हुआ होगा। इतने प्राचीन काल में पाठालोचन की प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण है कि हमारे देश में पाठानुसंधान की परंपरा काफी पुरानी है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि संत कवियों की रचनाओं के बहुत से संग्रह ग्रंथ मिलते हैं। 'गुरुग्रंथ साहब' ऐसा ही संग्रह ग्रंथ है जिसमें कबीर आदि संतों की बानियां भी संग्रहीत हैं। इसी तरह दादू पंथ में 'पंचवाणी' नाम के संग्रह का खूब प्रचलन है जिसमें दादू के साथ ही कबीर, नामदेव, रैदास और हरिदास की बानियां संग्रहीत हैं। जाहिर है, संतों की इन बानियों का संग्रह, पाठ संपादन के बाद ही किया गया होगा भले ही पाठ संपादन की वह पद्धति वैज्ञानिक न रही हो, क्योंकि इनमें से ज्यादातर संत आज के अर्थों में पढ़े लिखे नहीं थे और उनकी बानियां मौखिक परंपरा में ही प्रचलित थीं। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इनका पाठ संपादन एक बड़ी चुनौती भरा कार्य रहा होगा।

उल्लेखनीय है कि प्रारंभ में पुस्तकों का मुद्रण लीथो प्रेस में होता था। लीथो में हाथ से पत्थर की पट्टी पर अक्षर उत्कीर्ण किए जाते थे और उसी हस्तलिपि में मशीन से वांछित संख्या में पन्ने छाप लिए जाते थे। इसी क्रम में पूरी की पूरी पुस्तक छप जाती थी। लीथो की छपी पुस्तकों में हस्तलेखों की ही भांति अक्षर एक-दूसरे से मिलाकर लिखे जाते थे, इसीलिए इनका महत्व हस्तलिखित पुस्तकों जैसा ही होता था।

लेखक द्वारा लिपिबद्ध रचना ही मूल रचना कहलाती है। उसकी नकल प्रति और प्रतिलिपियां कहलाती हैं। पाठालोचन का कार्य वहीं से प्रारंभ होता है जहां हमें कवि की मूल कृति

उपलब्ध नहीं होती है। प्रतिलिपियों की भी दो श्रेणियां होती हैं, एक को 'प्रति' और दूसरी को 'प्रतिलिपि' कहना अधिक समीचीन है। प्रति मूल ग्रंथ की मूल नकल होती है और प्रतिलिपि प्रथम प्रति की नकल, मुद्रण कला के आविष्कार से पहले रचनाओं का प्रचार-प्रसार इसी प्रकार होता था।

प्रतिलिपिकार प्रत्येक बार अपनी आदर्श प्रति की हूबहू नकल नहीं करा पाता। कभी-कभी लिपिकार दृष्टि-भ्रम अथवा मति-भ्रम से भी आदर्श प्रति को ठीक-ठीक लिपिबद्ध नहीं कर पाता। ऐसी दशा में मूल लेखक का पाठ निर्धारण एक चुनौती बन जाता है। पाठ से तात्पर्य रचयिता के स्वहस्तलिखित ग्रंथ या रचना से है। पाठालोचित रचना को मूल रचना का पुनरुद्धार नहीं कहा जा सकता। उसे अधिक से अधिक सन्निकट समझकर संतोष करना पड़ता है।

पाठालोचन की दो प्रक्रियाएँ हैं—वैज्ञानिक और कलात्मक। शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' नीति का अनुसरण करती है। कलात्मक पद्धति प्रतिलिपियों में जिन स्थलों पर एकरूपता नहीं मिलती, वहां प्रसंगानुकूल सार्थक शब्द रखने में संकोच नहीं करती। वैसे कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से हिंदी के किसी ग्रंथ का ठीक-ठीक संपादन नहीं हो सकता। उसके लिए साहित्यिक संपादन की पद्धति ही श्रेयस्कर है। वैज्ञानिक पद्धति के नियम का एक सीमा तक ही उपयोग हो सकता है। वास्तव में दोनों पद्धतियों के संयोजन से ही सर्वोत्तम कार्य हो सकने की अधिक संभावना है।

कृतियों के पाठालोचन की जरूरत एकाधिक बार पड़ती है। जिन मध्ययुगीन कवियों की कृतियों का पाठ संपादन हो चुका है, यदि संयोगवश उन कृतियों की अशोधित पांडुलिपियां पुनः उपलब्ध हो जायें तो इनका पुनः पाठालोचन हो सकता है। जायसी के 'पद्मावत' का पाठालोचन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कलात्मक पद्धति से किया था। उसके बाद डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने वैज्ञानिक ढंग से उसका पाठालोचन किया। इतना ही नहीं, गुप्त जी के पश्चात डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल को नयी सामग्री प्राप्त होने पर उन्होंने भी उसका कला तथा वैज्ञानिक पद्धति से पाठालोचन प्रस्तुत किया। 'रामचरितमानस' के लगभग एक दर्जन पाठालोचित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नागरी

प्रचारिणी संस्करण बहुत समय तक आदर्श माना जाता रहा। उसके पश्चात गीताप्रेस ने अपना संस्करण प्रकाशित किया। इसके बावजूद अभी भी प्राचीन तथा मध्यकालीन कृतियों के प्रामाणिक संस्करणों की आवश्यकता बनी हुई है। इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य होना बाकी है। इस कष्ट साध्य कार्य को हाथ में लेने की हिम्मत कम लोग कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि किसी ग्रंथ का पाठालोचन करने के लिए सर्वप्रथम उसकी पाठ प्रक्रिया से परिचित होना पड़ता है। इसके पश्चात आलोच्य-ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतियों को प्राप्त करने में जिस श्रम, साहस और धैर्य की अपेक्षा होती है वह विरले अध्ययताओं के पास होती है।

इस क्षेत्र में जो भी महत्वपूर्ण कार्य हुआ है वह उपाधिनिरपेक्ष द्वारा ही हुआ है। ऐसे लोग न केवल भाषा के तत्कालीन रूप से परिचित थे, वरन् वे लिपियों तथा इतिहासों से भी परिचित थे। प्राचीन हस्तलेख को पढ़ना भी एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता चाहता है। हिंदी की अधिकांश पांडुलिपियाँ तो नागरी लिपि में ही हैं पर काल भेद से कुछ वर्षों के लेखन में कुछ न कुछ अंतर अवश्य दिखायी देता है। सूफी संतों के हिंदी ग्रंथ फारसी लिपि में हैं। तंजौर (आंध्र), चेन्नई, केरल, उड़ीसा आदि जगहों पर उपलब्ध हिंदी ग्रंथ वहां की स्थानीय लिपियों में मिलते हैं। अतः जब तक आलोच्य ग्रंथ की लिपि का ज्ञान न हो, उसका पाठालोचन संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में पाठालोचक अन्य व्यक्ति की भी सहायता ले सकता है, पर उसके पाठ निर्धारण पर पूरी तरह विश्वास कर पाना संभव नहीं होता।

साहित्यालोचन और पाठालोचन में अंतर होता है। पाठालोचक का कार्य केवल रचना के मूल रूप को विशेष प्रक्रिया द्वारा निर्धारित करना होता है। जबकि साहित्यालोचक रचना की पुनर्निर्मिति के पश्चात उसके साहित्यिक मूल्य का निर्धारण करता है। तात्पर्य यह है कि साहित्यालोचक का कार्य तभी शुरू हो पाता है जब पाठालोचन का कार्य समाप्त हो जाता है।

हिंदी साहित्य में आधुनिक काल के पूर्व का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सब पाठानुसंधान के बाद संभव हुआ है। इस दिशा में नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी और हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का अप्रतिम योगदान है।

बाद में हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, भारतीय हिंदी परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय आदि संस्थाओं ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। इसके बावजूद हिंदी में आज भी हस्तलिखित ग्रंथों की हजारों पाण्डुलिपियाँ अपने उद्धार की बाट जोह रही हैं। उदाहरण के लिए आज भी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणासी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, आदि संस्थाओं ने अपने यहां संरक्षित हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियाँ प्रकाशित की हैं। राजस्थान के जैन मंदिरों में हस्तलिखित ग्रंथों का विशाल भंडार है। हैदराबाद का सालारजंग पुस्तकालय, तंजावर (आंध्र) ग्रंथागार, खुदाबख्श लाइब्रेरी पटना, नेशनल लाइब्रेरी कोलकाता, मैनुस्क्रिप्ट रिसोर्स सेंटर, कलकत्ता विश्वविद्यालय कोलकाता, कलकत्ता विश्वविद्यालय केंद्रीय ग्रंथालय, एशियाटिक सोसाइटी कोलकाता, राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान के कोटा, उदयपुर, अलवर, जयपुर, टोंक

और चित्तौड़ की शाखाओं तथा राजस्थान की अनेक देशी रियासतों के ग्रंथालयों में असंख्य पाण्डुलिपियाँ आज भी मौजूद हैं जिनके उद्धार की ओर अब किसी का ध्यान नहीं है। इन पाण्डुलिपियों में अनेक महान साहित्यकार दबे हो सकते हैं।

जिन लोगों ने पाठालोचन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है उनमें माताप्रसाद गुप्त, जार्ज ग्रियर्सन, राहुल सांकृत्यायन, भगवत दास छत्री, जगन्नाथ दास रत्नाकर, मुनि जिनविजय, किशोरीदास वाजपेयी, बाबूराम सक्सेना, शंभुनारायण चौबे, चंद्रबली पांडेय, उमाशंकर शुक्ल, पारसनाथ तिवारी, ब्रजरत्न दास, वासुदेव शरण अग्रवाल, रामवृक्ष बेनीपुरी, पीताम्बरदत्त बड़थवाल, प्रभुदयाल मीतल आदि प्रमुख हैं।

इस तरह शुक्लपूर्व हिंदी आलोचना के अनेक क्षेत्र हैं जिनके गंभीर अध्ययन और मूल्यांकन की महती आवश्यकता बनी हुई है।

संपर्क:

ईई- 164/402, सेक्टर-2, साल्टलेक,
कोलकाता-700091, मो. 9433009898

शिवाकुमार मिश्र की यथार्थवादी आलोचना-दृष्टि नचिकेता

“मौलिकता नए विचारों के सृजन में ही नहीं है, बल्कि महान विचारकों के उपयुक्त कथनों के चयन और ग्रहण में भी है।”

-अन्तोनियो ग्राम्शा

कला-साहित्य के सामाजिक संदर्भों की पहचान और पड़ताल तथा सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की सार्थक भूमिका की जाँच-पड़ताल करने और साहित्य एवं पाठक (समाज) के साथ संवाद स्थापित करने में आलोचना एक सेतु का काम करती है। व्यापक अर्थ में साहित्य (रचना) सभ्यता की आलोचना ही है और आलोचना भी रचना है। प्रेमचंद के शब्दों में साहित्य (रचना) जीवन की आलोचना है और आलोचना उस आलोचना की आलोचना है। जहाँ रचना में अनुभूति, संवेग, भाव और सर्जनात्मक अंतःप्रज्ञा की प्रधान भूमिका होती है वहाँ आलोचना भाष्य, व्याख्या, विवेचन, विश्लेषण और मूल्य निर्धारण की दिशा में सदैव सचेष्ट रहती है। जिससे साहित्य अगर भावाश्रित होता है तो आलोचना विचाराश्रित यानी एक भावनात्मक है तो दूसरी बौद्धिक। इसके बावजूद रचना और आलोचना अन्योन्याश्रित रूप से एक दूसरे पर अवलंबित दिखाई देती हैं। यह ठीक है कि हर आलोचना अंततः रचना पर ही निर्भर होती है तो सर्जनात्मक आलोचना के अभाव में रचना पर अराजक और असामाजिक होने का खतरा सदैव मँडराता रहता है। अतएव हर सर्जनात्मक आलोचना का दायित्व है कि वह रचना में अंतर्निहित अर्थ की खोज, उसकी सार्थकता की पहचान और उसकी समाज-सापेक्ष प्रभावोत्पादकता की खोज-बीन करे। उत्तर-आधुनिक आलोचक अन्टोनी वर्गेश तो यहाँ तक मानते हैं कि सच्ची आलोचना रचना में उन तत्त्वों की खोज में सफल हो जाती है जिनकी भनक तक रचनाकार को नहीं मिलती। जबकि मैनेजर पाण्डेय मानते हैं कि “आलोचनात्मक चेतना के निर्माण और विकास के लिए यह जरूरी है कि आलोचक अपने समाज की स्थितियों और उन स्थितियों में जीते-मरते मनुष्य की दशाओं के बारे में सजग और सचेत हो, वह अपने समय और समाज की सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकताओं तथा संभावनाओं की जटिल समग्रताओं का बोध अर्जित करे। तभी ऐसी आलोचनात्मक चेतना विकसित होती है जो रचना और समाज की संबंध-भावना के विभिन्न पक्षों की सही पहचान और व्याख्या कर सकती है।” लेकिन यह तभी संभव होगा जब आलोचना की भाषा और उसके अर्थ-निर्माण की प्रक्रिया सहज होगी, वह पाठकों के सामने बूझों तो जानें जैसी चुनौती रखकर अपनी विद्वता-प्रदर्शन के अनावश्यक उपक्रम से खुद को बचाए रखे।

रचना की संवेदना के स्वरूप और उसके संवेदनात्मक उद्देश्यों को रूपायित करने में, अपनी सार्थकता प्रमाणित करने में वही आलोचना सफल होती है जो निर्भीक, तटस्थ और व्यक्तिगत राग-द्वेष से वंचित रहती है। यह सच है कि “सार्थक रचना की तरह आलोचना भी अपने समय और समाज की हलचलों और वैचारिक तथा संवेदनात्मक परिवर्तनों के बारे में सजग होती है, तभी वह रचना से स्वतंत्र और कभी-कभी उसके समानांतर अपनी सामाजिक दृष्टि निर्मित करती है, जिससे वह विचारशीलता विकसित होती है जो अपने युग के विवेक का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसी आलोचना केवल साहित्यिक ही नहीं होती, वह सामाजिक भी होती है। जाहिर है इस प्रकार की आलोचना का विकास करने वाले आलोचक किसी भी भाषा में बहुत नहीं होते, लेकिन आलोचना की दुनिया में ऐसे आलोचकों का एकदम अभाव भी नहीं है।” (मैनेजर पाण्डेय)

शिवकुमार मिश्र हिंदी के उन आलोचकों में अग्रणी हैं जिन्होंने ताउम्र साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त प्रतिक्रियावादी और भाववादी कला-दृष्टि एवं रचना-दृष्टि के विभ्रमों के साथ हिस्सा संघर्ष किया है और उसकी जगह मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन तथा यथार्थवादी कला-दृष्टि और रचना-दृष्टि की प्रतिष्ठापना की है। रामविलास शर्मा के बाद कदाचित् शिवकुमार मिश्र के आलोचना-साहित्य ने ही हिंदी के सामान्य पाठकों को, जिन्होंने मार्क्सवाद की सौद्धांतिकी नहीं पढ़ी है अथवा उससे जिनका गंभीर वास्ता नहीं रहा है, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र कला दृष्टि और यथार्थ-दृष्टि को समझने में भरपूर सहायता पहुँचायी है। यूँ तो शिवकुमार मिश्र का संपूर्ण आलोचना-साहित्य मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि, कला-दृष्टि और यथार्थवादी साहित्य-चिंतन तथा उसकी व्यावहारिक इस्तेमाल का ही प्रतिफल है, किंतु इस लिहाज से उनकी आलोचना-पुस्तक 'प्रगतिवाद', 'यथार्थवाद', 'मार्क्सवादी साहित्य चिंतन' और 'मार्क्सवाद देवमूर्तियाँ नहीं गढ़ता' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। क्रिस्टोफर काडवेल के आलोचना-सिद्धांत पर संजीदा विमर्श करते हुए पी.एन. सिंह ने प्रतिपादित किया है कि "काडवेल का सौंदर्यशास्त्र जिस तरह साहित्य और कला को मनुष्य द्वारा स्वयं के यथार्थ को जानने की एक शर्त (स्थिति) के रूप में परखता है, उसी प्रकार यह उसके हितों और गरिमा पर गंभीरता से ध्यान देने की माँग करता है।" (शब्दिता, वर्ष-३, अंक-५, पृ. ९८) मुझे लगता है कि शिवकुमार मिश्र की आलोचना-पुस्तक 'मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन' और 'यथार्थवाद' हिंदी पाठकों को यथार्थवाद, मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि और मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को समझने और परखने की एक शर्त बनकर ही प्रस्तुत हुई है।

वस्तुतः, शिवकुमार मिश्र ने 'कविता के नए प्रतिमान' गढ़ने के प्रपंच के तहत मार्क्सवादी शब्दावली में कलावादी साहित्यिक प्रतिमानों को स्थापित करने की चेष्टा नहीं की है, न ही 'कहानी: नयी कहानी' के बीच की विभाजक रेखा खींचने के क्रम में कलावादी कहानियों को यथार्थवादी कहानियों से श्रेष्ठ बतलाने की जुर्रत की है, न 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' की गहन पड़ताल का जोखिम भरा प्रयास किया है और न ही साहित्य-जगत में अपनी

डुगडुग्गी बजाने वाले चले-चाटियों की एक पूरी फौज ही खड़ी की है। इन अति विशिष्ट साहित्य-कर्मों के विपरीत उन्होंने 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटैनिका' द्वारा प्रचारित इस साहित्यिक विभ्रम, कि "यथार्थवादी लेखक वह है जो सुंदर वस्तुओं पर लिखना पसंद नहीं करता, वरन् उनके बदले गंदी घिनौनी चीजों का वर्णन करता है। वह टाइप के बदले व्यक्तियों का चित्रण करता है और यथार्थ चित्रण में विश्वास करता है", का पर्दाफाश करते हुए वास्तविक यथार्थ-दृष्टि और कला-दृष्टि की स्थापना की है। बर्तोल्त ब्रेष्ट के हवाले से शिवकुमार मिश्र ने किया कि सच्चे "यथार्थवाद का मतलब यह है कि समाज में निहित कार्य-कारण-संबंधों की जटिलताओं की तलाश की जाये, शोषक वर्गों के मौजूदा विचारों का पर्दाफाश किया जाये। समाज द्वारा झेली जा रही मुसीबतों का हल सुझाने वाले मजदूर-वर्ग के नजरिए से रचना की जाये। समाज के विकासशील तत्त्वों पर अधिक जोर दिया जाये। यथार्थ को मूर्त रूप में चित्रित किया जाय।"

शिवकुमार मिश्र ने अपने जीवन-दर्शन, साहित्य-चिंतन और यथार्थ-दृष्टि के विकास के लिए मार्क्सवाद के पुरस्कर्ता कार्ल मार्क्स के 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में एक योगदान' की भूमिका में व्यक्त इस विचार या अभिमत को अपना आधार या मूल मंत्र बनाया है कि "सामाजिक जीवन की उत्पादन-प्रक्रिया में मनुष्य ऐसे सुनिश्चित संबंधों की स्थापना करते हैं, जो अपरिहार्य हैं। इन संबंधों का योग अथवा संपूर्णता ही समाज के आर्थिक धरातल का निर्माण करती है, उसका सही आधार बनाती है, जिस पर एक न्यायिक तथा राजनीतिक बाह्य संरचना खड़ी होती है और सामाजिक चेतना के सुनिश्चित रूप जिसके साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। समान्यतः भौतिक जीवन की उत्पादन विधि ही हमारे सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया को अनुकूलित करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है।" अपनी इस खोज को और अधिक वैज्ञानिक, वस्तुपरक और व्यावहारिक बनाते हुए मार्क्स आगे कहते हैं कि समाज के आर्थिक आधार में परिवर्तन के साथ संपूर्ण विशाल बाह्य

संरचना भी, कमोबेश, उसी तेजी के साथ रूपांतरित हो जाती है। इस प्रकार के रूपांतर पर विचार करते समय उत्पाद की आर्थिक स्थितियों (जिन्हें प्राकृतिक विज्ञान की सूक्ष्मता के साथ निर्धारित किया जा सकता है) और न्यायिक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपों के बीच (जिसमें होने वाले इस परिवर्तन के प्रति मनुष्य सचेत रहता है और उस पर विजय प्राप्त करना चाहता है) फर्क करना आवश्यक है।

अपनी यथार्थ-दृष्टि को और अधिक विकसित और धारदार बनाने के क्रम में शिवकुमार मिश्र ने बर्तोल्ट ब्रेष्ट के इस विचार से अपनी पूर्ण सहमति जताई है कि यथार्थवाद का मतलब है, समाज की अकास्मिक जटिलताओं का रहस्योद्घाटन, चीजों के बारे में वर्तमान दृष्टिकोण पर चढ़े शासक वर्ग के विचारों के मुखौटे को उतारना, मानव-सामग्री को सर्वाधिक ज्वलंत समस्याओं का व्यापक समाधान देने वाली वर्गदृष्टि को लेखन में उतारना तथा विकास तत्त्व की प्रधानता को मानते हुए उसे मूर्त आकार देकर संभव बनाना; क्योंकि 'मात्र जैविक प्रक्रियाओं का चित्रण (चाहे वह क्रियाओं से संबंधित हो, चाहे पीड़ा या यातना से) कितने ही विस्तार में क्यों न किया गया हो और साहित्यिक दृष्टि से वह कितनी ही परिपूर्ण क्यों न हो, अंततः मनुष्य की सामाजिक, ऐतिहासिक तथा नैतिक सत्ता को अधःपतित ही करता है एवं मानवीय संबंधों को जटिलता और समग्रता में चित्रित करने जैसी अनिवार्य कला-अभिव्यक्ति का साधन न होकर उसके मार्ग की रुकावट बनता है।' (जार्ज लुकाच) विचार-विमर्श की इस प्रक्रिया का समाहार करते हुए शिवकुमार मिश्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "सच्ची यथार्थ-दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है परंतु वह संकलनात्मक नहीं होती। यह भी सही है कि यथार्थवादी लेखक सत्य को ब्योरेवार प्रस्तुत करता है परंतु उसे मात्र 'फोटोग्राफिक' नहीं बना देता। यथार्थवादी रचनाकार इस अनंत रूपात्मक जगत तथा उसके समूचे विस्तार को पैनी नजरों से देखता है, व्यापक सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार की स्थितियों तथा चरित्रों से साक्षात्कार करता है, अनुभवों की एक मूल्यवान समष्टि का स्वामी बनता है, किंतु सारी बातों को 'फोटोग्राफिक' शैली में ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत नहीं

कर देता। सारी घटनाओं तथा पात्रों को, सामाजिक जीवन से प्राप्त अपने यथार्थ अनुभवों की खराद पर चढ़ाता है, उन्हें तराशता है, नुकीला बनाता है और अपनी कृति के अंतर्गत उनका कलात्मक नियोजन करता है।" लेकिन किसी कृति में सामाजिक यथार्थ का कलात्मक संयोजन नितांत यांत्रिक ढंग से नहीं होता। इलिया एहरेनवर्ग के अनुसार यदि रचना के सौन्दर्यात्मक प्रभाव को तीव्र बनाने के लिए रचनाकार वास्तविकता को थोड़ा-बहुत विकृत भी कर देता है, तो वह क्षम्य माना जाना चाहिए, बशर्ते वास्तविकता में उसके द्वारा किया यह किंचित हेर-फेर वास्तविकता की मूलभूत आत्मा में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं करे।

रामविलास शर्मा मानते हैं कि जो लोग साहित्य में युग परिवर्तन की बात करना चाहते हैं जो लकीर के फकीर नहीं हैं जो रूढ़ियों को तोड़कर क्रांतिकारी साहित्य रचना चाहते हैं, उनके लिए साहित्य की परंपरा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है। जो लोग समाज में बुनियादी परिवर्तन करके वर्गहीन शोषणमुक्त समाज की रचना करना चाहते हैं वे अपने सिद्धांतों को ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से पुकारते हैं। जो महत्त्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है वही आलोचना के लिए साहित्य की परंपरा का है। इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है। साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के ज्ञान से ही समाज में व्यापक परिवर्तन किया जा सकता है और नयी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। शिवकुमार मिश्र की आलोचना का उद्देश्य सिर्फ साहित्य का आलोचना भर नहीं है, प्रत्युत समाज में व्यापक क्रांतिकारी परिवर्तन लाना ही है; इसलिए उन्होंने साहित्य में यथार्थवादी जीवन-दृष्टि और रचना-दृष्टि की पड़ताल के लिए पाश्चात्य साहित्य के परंपरागत विकास का एक संक्षिप्त जायजा लेना अत्यावश्यक माना है और इस परंपरा के संक्षिप्त अनुशीलन के जटिल मार्ग से होते हुए साहित्य की यथार्थ-दृष्टि के विकास की खोज-बीन किया है। साहित्य में यथार्थवाद और मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के परंपरागत विकास के विश्लेषण के पूर्व वे प्लेटो, अरस्तू, लॉजाइनस, सिसरो, हेरेस, दाँते, सिडनी, ड्राउडन, विंकलमैन, लेसिंग, शिलर,

गेटे, ब्लैक, वर्ड्सवर्थ, शेली, मैथ्यू अरनाल्ड, रस्किन, रिचर्ड्स, क्रोचे आदि के साहित्य-चिंतन की संजीदा अंतर्गता करते हैं। इसके अलावा वे मार्क्स-पूर्व के भौतिकवादी चिंतकों बेलेंस्की, चेर्नेशवस्की, हर्जेन और दोब्रोवोव के साहित्य-विमर्श पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए चेर्नेशवस्की के इस निष्कर्ष के आस-पास अपने को खड़ा पाते हैं कि “कला को अंध भड़ैती से मुक्त करना उसको नीचे गिराना नहीं है। विज्ञान वास्तविकता से श्रेष्ठ और उससे ऊँचा होने का दावा नहीं करता, न ही वास्तविकता से ऊँचा न होने पाने में उसे कुछ लाज लगती है। कला को ठीक उसी प्रकार वास्तविकता से ऊँचा होने का दावा नहीं करना चाहिए। ऐसा न करना उसके लिए जरा भी लज्जा की बात नहीं होगी, उसे नीचे गिराना होगा। विज्ञान बिना सोच के स्वीकार करता है कि उसका कार्य वास्तविकता को समझना और तदंतर मानव के लिए उसका उपयोग करना है। कला को भी यह स्वीकार करने लज्जा नहीं होनी चाहिए कि उसका लक्ष्य यथाशक्ति बहुमूल्य वास्तविकता की पुनर्रचना और उसकी व्याख्या द्वारा मानव को जगत के पूर्ण सौंदर्योपभोग का अवसर प्रसाद करना है और ऐसे अवसरों का अभाव होने पर भी वह उसकी पूर्ति करती है।” इसके अलावा उन्होंने मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, प्लेखानोव, जदानोव, स्टालिन, टारटस्की, माओ-त्से-तुंग, चाऊ-एन-लाई, लूनाचास्की, मैक्सिम गोर्की, इलिया एहरेनवर्ग, फादेयेव, शोलोखोव, क्रिस्टोफर काडवेल। जार्ज लुकाच, अन्स्ट फिशर, हावर्ड फास्ट, राल्फ फाक्स, जार्ज थामसन, बर्तोल्त ब्रेष्ट, फ्लायड डेल, मैक्स ईस्टमैन, काबेरटन, फिलिप राव, ग्रेनवाइल हिक्स, न्यूटन कार्विन, केनेथ बर्क, एडमंड विल्सन, वी.जे. जेरोम, अल्बर्ट माज आदि मार्क्सवादी-चिंतकों के विचारों के साथ द्वंद्वात्मक अंतर्क्रिया की है और उनकी मदद से अपनी यथार्थ-दृष्टि का विकास संपन्न किया है।

पाश्चात्य साहित्य-परंपरा की गंभीर अंतर्गता के बाद ही शिवकुमार मिश्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सच्ची यथार्थ-दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है, किंतु मात्र संकलनात्मक अथवा यथातथ्यवादी नहीं होती। यथार्थवादी रचनाकार इस अनंत रूपात्मक जगत तथा सामाजिक जीवन के लंबे-चौड़े प्रसार को पैनी नजरों से देखता है, व्यापक सामाजिक जीवन भूमिकाओं में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार की घटनाओं,

स्थितियों एवं चरित्रों के संपर्क में आता है, अनुभवों की एक अत्यंत मूल्यवान संपत्ति का स्वामी बनता है, परंतु अपनी कृति में वह अपनी सारी संपत्ति को, संपूर्णतः अथवा ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत नहीं करता। तथ्यों का संकलन ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करना प्रकृतिवादी रचनाकार का, समाजशास्त्री का अथवा संवाददाता का कार्य हो सकता है, यथार्थवादी रचनाकार का नहीं। यथार्थवादी रचनाकार एक रचनाकार तभी है, जब वह व्यापक सामाजिक जीवन से प्राप्त अनुभवों, स्थितियों तथा पात्रों के आधार पर सत्य के प्रति- ‘सत्य के सारभूत अंश के प्रति’ -ईमानदार रहते हुए, एक नयी सृष्टि, एक नयी रचना को जन्म दे। उनकी दृष्टि में प्रकृतिवादी लेखक का जीवन के प्रति दृष्टिकोण मूलतः भौतिकवादी होने के साथ-साथ निराशाजनक और नियतिवादी भी होता है। जिंदगी उसके लिए हारी हुई लड़ाई के समान है। उसके अनुसार प्रकृति तथा समाज की बाहरी शक्तियाँ न केवल मनुष्य के स्वातंत्र्य के समक्ष अवरोध बनकर प्रस्तुत होती हैं, वे उसकी शक्ति को भी सीमित करती हैं। मनुष्य में इन शक्तियों का अतिक्रमण करके अपना रास्ता बनाने का सामर्थ्य नहीं है। इन बाहरी शक्तियों के समक्ष तो वह पराजित और समर्पित है ही, स्वतः उसके भीतर निहित ऐसी तमाम अचेतन शक्तियों तथा आनुवंशिक तत्त्वों के समक्ष वह नत है, जो एक स्तर पर उसके नैतिक दायित्व को भी संकुचित बनाती है।

साहित्य की यथार्थ-दृष्टि का वास्तविक विकास शिव कुमार मिश्र, दरअसल आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद में अंतर्निहित पाते हैं। शिवकुमार मिश्र के अनुसार “सारतः ‘सामाजिक यथार्थवाद’ यथार्थवादी चिंतन और यथार्थवादी कला की वह जीवंत धारणा है, जो एक ओर उस प्रकृतिवाद से भिन्न है तो मनुष्य को मूलतः आदिम वृत्तियों से अनुशासित तथा परिचालित मानते हुए उसके अब तक के समूचे बौद्धिक और भावात्मक विकास की अवमानना करता है, उसकी एकदम एकांगी तस्वीर पेश करता है, दूसरी ओर, ‘आलोचनात्मक यथार्थवाद’ से भी विशिष्ट है, जो अपनी जीवंत कला, वस्तुगत यथार्थ के ईमानदार चित्रण, उसकी अमानवीय भूमिका के प्रति कड़ा रुख अपनाने एवं जन सामान्य के प्रति संवेदनशील होने के बावजूद, ‘समाजवादी यथार्थवाद’ उस क्रांतिकारी, रचनात्मक

समझ से शून्य है, जो वर्तमान के विकृत यथार्थ को बदलने का न केवल रास्ता सुझाती है, उस परिवर्तन को, उसकी सारी संभावनाओं के साथ मूर्त भी करती है।”

शिव कुमार मिश्र की यथार्थ-दृष्टि अत्यंत ही व्यापक रही है। उनके अनुसार बाह्य यथार्थ रचनाकार के लिए कच्चे माल की तरह होता है जिसे वह अपनी कृति में कलात्मक और निखरा हुआ रूप देता है तथा इसके लिए उसे वस्तुगत यथार्थ की संपूर्ण राशि के बीच अपने जाग्रत विवेक, भावबोध एवं इंद्रिय-संवेदनों के बल पर ऐसा चुनाव करना पड़ता है जो एक स्तर पर बाह्य यथार्थ के सत्यरूप को उद्घाटित करे, दूसरे स्तर पर, उस मनुष्य के साथ प्रस्तुत करे, जो राशि-राशि जीवन उसके चारों ओर बिखरा है, उससे उसे परिचित कराये, साथ ही उस वस्तुगत यथार्थ की उन संभावनाओं का भी अहसास दे, जो परिवर्तन के एक जटिल और अंतर्विरोधी क्रम से गुजरती हुई, एक ऐसे गुणात्मक सत्य का रूप ग्रहण करने वाली है, जिसमें वह भी हिस्सेदार है। साहित्य एवं कला में चित्रित वस्तुगत यथार्थ इसी कारण जीवन के प्रकृत यथार्थ की तुलना में अधिक ग्राह्य होता है कि उसमें प्रकृत यथार्थ की अपेक्षा एक सचेतन दृष्टि का योग होता है।

कार्ल मार्क्स के विचार से दुनिया भर के दार्शनिकों ने दुनिया को समझने की ढेरों व्याख्याएँ की हैं, लेकिन जरूरत अब दुनिया को केवल समझने की नहीं, वरन् बदलने की है और प्रेमचंद भी मानते हैं कि हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है। शिवकुमार मिश्र की यथार्थदृष्टि उस साहित्य को समाजसापेक्ष, समयसापेक्ष और युगसापेक्ष एवं सच्चा साहित्य मानती है जो हमें आनंदित करने, सहलाने या गुदगुदाने के बनिस्पत समाज को बदलने की प्रेरणा दे, हम में गति और संघर्ष की चेतना उत्पन्न करे, बेचैन करे और यह समाजवादी यथार्थवाद के जरिए ही संभव होगा। अपनी इसी समाजवादी यथार्थवादी समझ की जनपक्षधरता के आईने से शिवकुमार मिश्र जब हिंदी साहित्य की परंपरा

के विकास का अनुशीलन करते हैं तो उन्हें भक्त कवियों की लोकपक्षधरता स्पष्ट दिखाई देने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप वे यह देख पाते हैं कि लोकसामान्य की भावभूमि पर उपजी महती प्रेरणा का ही परिणाम था कि देश इस्लाम जैसी जीवंत धार्मिक चेतना की चुनौती झेल सका। यही नहीं; भक्ति ने बिखरते हुए समाज और अवांछित साधनाओं की ओर गुमराह होती हुई सामान्य जन की आध्यात्मिक आकांक्षाओं की आस्था का एक जीवंत टिकाऊ आधार प्रदान किया। समाज के समक्ष नए और उदात्त लक्ष्य प्रस्तुत किए और उसके दीन-दुर्बल कोटि-कोटि जनों को आत्मसम्मान के साथ अपनी खुद की जमीन पर खड़े रह सकने का साहस प्रदान किया है।

‘भक्तिकाव्य और लोक जीवन’ में शिवकुमार मिश्र अपनी यथार्थवादी जीवन-दृष्टि की बदौलत ही कबीर, सूर, तुलसी और जायसी जैसे महान भक्त कवियों की कविताओं में व्यक्त यथार्थवादी लोकपक्ष की वैज्ञानिक पड़ताल करने में सफल हुए हैं। उनके अनुसार “निर्गुण भक्ति की जो धारा भक्ति आंदोलन की स्रोतस्विनी से फूटी, कबीर उसकी सबसे ऊँची लहर के साथ सामने आये। समझौता उनकी प्रकृति में नहीं था। विद्रोह और क्रांति की ज्वाला उनकी रग-रग में व्याप्त थी।... इस सत्य को भाँप लेने के मायने हैं कबीर को सही अर्थों और सही आशय के साथ समझने की दृष्टि पा लेना। समाज का प्रभु वर्ग इसी सत्य को नहीं पहचान पाया, यही कारण है कि कबीर उनकी नजरों में आज भी तिरस्कृत हैं, आज भी उपेक्षित हैं और जब तक वर्ग, वर्ण, संप्रदाय, जाति और नस्ल की दीवारों को ढहाती हुई इंसानियत और इंसानी संस्कृति की वह छवि नहीं उभरती जिसे कबीर ने देखा था।” इसी प्रकार सूर के लोकधर्म की नब्ज टटोलते हुए शिवकुमार मिश्र इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि “लोक जीवन का कोना-कोना इन्होंने (सूर ने) झाँका है और उसी के भीतर से अपने अनुभवों की राशि जुटाई है। लोक जीवन के समूचे प्रसार में इन्होंने सामान्य जन की ही, उनकी संपूर्ण आशाओं-आकांक्षाओं, सुख-दुख के साथ, दर्शन किए हैं, उसी के साथ एकात्म हुए हैं, उसी की वाणी उनकी रचनाओं में गूँजी है और उसी का सुख-दुख लेकर वे अपने प्रभु के समक्ष प्रणत हुए हैं।

उनकी भक्ति का आलंबन भले ही ईश्वर हो, किंतु उनका जो मनुष्य धर्म है, उसका आलंबन यह साधारण जन ही है।” सूर के मानवीय पक्ष पर बल देकर ही शिवकुमार जी ने सूर की प्रासंगिकता और सामाजिकता की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करने में सफलता पायी है। सूर की तरह शिवकुमार मिश्र तुलसीदास की काव्य-दृष्टि का एक गवाक्ष खोलते हैं। उनके अनुसार उन्होंने (तुलसीदास ने) राम कथा एक बड़े परिप्रेक्ष्य के तहत, एक महान संकल्प के तहत अपने समय की जरूरत के तौर पर ही, राज दरबारों के वातावरण में उसे न कहकर ठेठ जनता के बीच बैठकर, जन-मानस से एकात्म होकर, लोक हृदय की खरी पहचान और लोकचित्त की सही समझ का संबल लेकर कही।” आगे वे यह रेखांकित करने में बिलकुल सफल रहे हैं कि “तुलसी मन की कोमल-मृदु वृत्तियों के भी उतने ही सक्षम चित्ते हैं, जितने जीवन के रूक्ष पक्ष के। यह सब गोस्वामी जी इसी कारण संभव कर सके हैं कि वे मानव हृदय के समूचे प्रसार तक समान गति रखनेवाले कवि हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि वे जीवन को अबाध गति देने वाले कवि हैं। जीवन से पराङ्मुख होकर मूढ़ मुड़ाकर संन्यासी बन जाने वालों की उन्होंने कठोर भर्त्सना की है; उनके राम जिस ठेठ जीवन के बीच से अपना रास्ता निकालते हैं, वैसी ही सीख उन सबको दी है। यदि गोस्वामी जी जीवन से उदासीन, संसार को असार और माया मानने वाले कवि होते, तो वे जनता के दुखों का, उदासी वेदना का, चारों ओर फैली हुई विकृति का, कलि के अभिशापों का इतना विस्तृत और हृदयद्रावक वर्णन नहीं करते।”

और; जायसी के काव्य के साक्षात्कार के दौरान उन्हें अनुभव होता है कि “जायसी की ग्रामीण दृष्टि ने बारहमासे के परंपरित रूप में बड़ी ताजगी ला दी है। उन्होंने प्रकृति तथा सामाजिक जीवन के निरीक्षण के क्रम में अपने को एकदम उन्हीं वर्णनों तक सीमित नहीं रखा जो प्रायः बारहमासे में मिलते चले आ रहे हैं, कहीं-कहीं उनका निरीक्षण, लोक जीवन की बड़ी यथार्थ झाँकियों को सामने लाया है। लोक जीवन के हर्ष-उल्लास, अवसाद और विषाद के उनके द्वारा दिए गए अनेक चित्र न केवल मर्मस्पर्शी हैं, उनकी पैनी दृष्टि तथा संवेदनशील हृदय का अनोखा

साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। उन्हें लोक चित्त की जो इतनी खरी पहचान है, वह साधारण जनता के साथ उनके नितांत आत्मीय तथा घनिष्ठ संबंध का ही प्रतिफल हो सकती है। लोक जीवन की गहराइयों में जायसी की यह पैठ कवि के रूप में उनकी सबसे बड़ी पूँजी सामने आयी है।”

सच बात तो यह है कि कविता के मूल्यांकन में यथार्थवाद उतना कारगर भूमिका नहीं निभा पाता, जितना कथा-साहित्य के मूल्यांकन में निभाता है, क्योंकि कविता में जीवन-जगत के यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति महज प्रातिनिधिक रूप से नहीं होती, अपितु प्रतीकात्मक ढंग से भी होती है, इसमें वस्तुनिष्ठता के साथ-साथ आत्मपरकता का महत्व भी होता है। कविता में यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति सीधे-सीधे नहीं होती। कविता में पुनर्रचित यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति अधिक होती है, इसमें जीवन की वास्तविकता से अधिक मानवीय आकांक्षा की अभिव्यक्ति ज्यादा होती है। कविता में कभी-कभी निजी आत्मानुभूति सामाजिक आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। इसलिए कविता में यथार्थ की समग्रता की अपेक्षा अनुभूति की व्यापकता और गहराई अधिक सक्रिय भूमिका निभाती दिखाई देती है। पाब्लो नेरूदा भी मानते हैं कि “जहाँ तक यथार्थवाद का सवाल है तो मैं कविता में यथार्थवाद को पसंद नहीं करता। कविता यथार्थवाद विरोधी होती है। उसके यथार्थवाद विरोधी होने के अनेक कारण हैं।”

यथार्थवाद के आधार पर आधुनिक कविता के मूल्यांकन में शिवकुमार मिश्र के सामने कई चुनौतियाँ आती हैं। वे मानते हैं कि “वस्तुतः छायावाद की आंतरिक निर्मित ही ऐसी थी कि यथार्थ-चित्रण के लिए उसमें अधिक स्थान नहीं था। यथार्थ कला को अँकुरित और विकसित होने के लिए जो जमीन चाहिए, छायावाद जिन संवेदनाओं के साथ साहित्य के क्षेत्र में आया, वे एकदम भिन्न जमीन की संवेदनाएँ थीं।” कविता को वह जमीन मिली, छायावाद के परवर्ती दौर में उग्र-से-उग्रतर होती और विषम-से-विषमतर होती सामाजिक जीवन की उन स्थितियों के जरिए जो छायावादोत्तर काल की, खासकर प्रगतिवाद के दौर में, कविताओं में। सामाजिक जीवन के बहुआयामी यथार्थ की जिन रचनाकारों ने नई जीवंत तेजस्विता प्राप्त की उनमें

नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह 'सुमन', त्रिलोचन', मुक्तिबोध, शमशेर, आदि प्रमुख हैं। शिवकुमार मिश्र की निगाह में "पहली बार महानायकों के स्थान पर साधारण जनता के जीवन-संदर्भ, उनकी आशाएँ-आकांक्षाएँ, उनके स्वप्न, उन सपनों को साकार करने हेतु उसका संघर्ष, लोकजीवन की बहुरंगी छवियाँ, घनीभूत होकर, अपनी नाना छवियों में इस कविता में जीवंत हुई... प्रकृति चित्रण के क्षेत्र में यदि छायावादी कविता में किसी समय नए कीर्तिमान बने थे, प्रगतिशील कविता की यथार्थ-दृष्टि ने उस प्रकृति को, उसके पूरे प्रसार और उसकी पूरी छवियों में अपनी कविता में इस तरह उतारा कि छायावादी प्रकृति-चित्रण को समकक्ष उसे एक नई रचनात्मक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया। परकीया प्रधान छायावादी कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति ने उस समय के कविता-प्रेमियों और काव्य-समीक्षकों की ओर से जो भी प्रतिकर प्रतिक्रियाएँ पाई हों, प्रगतिशील कवियों ने स्वकीया अर्थात् दाम्पत्य प्रेम को अपनी रचनाओं में जीवंत करते हुए प्रेमाभिव्यक्ति जैसे सनातन काव्य-विषय को यथार्थ की भूमिका में प्रस्तुत करते हुए जैसे एक नया आयाम प्रदान किया। यही नहीं, अपने समय की सामाजिक वास्तविकता से भी सीधे आँखे मिलाते हुए स्वधीनता से पहले और स्वाधीनता के बाद की, सामाजिक जीवन की विद्रूपताओं और विसंगतियों को न केवल उनकी तह में जाकर उधेड़ा और उद्घाटित किया, उन विसंगतियों और विद्रूपताओं को जन्म देने वाली व्यवस्था और व्यवस्था के प्रभुओं को भी बेनकाब किया।"

यथार्थवादी आलोचना-दृष्टि काव्यालोचन की तुलना में कथा-आलोचना का अधिक पुरजोर औजार होती है। इसलिए शिवकुमार मिश्र प्रेमचंद के कथा-साहित्य और उपन्यासों की दुनिया की समयसापेक्ष, युगसापेक्ष और समाजसापेक्ष जीवन की वास्तविकताओं की विविध पतों को उभार पाने में अत्यधिक सफल रहे हैं। उनके अनुसार भारत की समाज-व्यवस्था में किसी बुनियादी परिवर्तन के अभाव में अपनी सर्जना में उठाए गए तमाम मुद्दों के साथ प्रेमचंद न केवल हमारे समकालीन हैं, आज के तमाम आधुनिक माने जाने वाले लेखकों और विचारकों की तुलना में वे सही माने में आधुनिक भी हैं। अन्यत्र शिवकुमार मिश्र

ने इस सत्य को भी उजागर किया है कि "जिस सामाजिक यथार्थ का चित्रण उन्होंने (प्रेमचंद ने) अपने उपन्यासों में किया है, वह मात्र उनका देखा हुआ ही नहीं, उनका भोगा हुआ भी है। उनकी कृतियों में चित्रित यथार्थ मात्र सतह पर उतराने वाला यथार्थ नहीं है, वरन गहराई में जाकर जीवन की सही छवि को उजागर करने वाला है। उनकी दृष्टि वर्तमान-केन्द्रित न रहकर भविष्य की ओर भी गई है और यही कारण है कि उन्होंने अपने समय की मरणशील शक्तियों को गहरी चोट पहुँचाते हुए उन शक्तियों का समर्थन किया है, जो उनके द्वारा आकांक्षित भविष्य को साकार बनाने वाली शक्तियाँ हैं। उनका सारा-का-सारा साहित्य भारत में अँग्रेजी राज्य की कटु आलोचना है। उन्होंने न केवल ब्रिटिश शासकों के ही वास्तविक चरित्र का पर्दाफाश किया है, उनके देशी सहायकों-सामंतवाद, पूँजीवाद आदि की असलियत से भी हमें परिचित कराया है।" इन्हीं कारणों से "जन सामान्य के प्रति उनकी निश्छल संपृक्ति उन्हें गाँवों की ओर ले गयी, और कहना न होगा कि उनके अधिकांश कृतित्व का संबंध गाँवों से ही- एक महाग्राम के रूप में प्रतिनिधि भारतीय जीवन से है। भारत का यह ग्रामीण जीवन उनके उपन्यासों में अपनी सजीवतम रेखाओं में मूर्त है। गाँवों के प्रति प्रेमचंद का रुख किसी रोमानी रचनाकार का रुख न होकर एक ऐसे व्यक्ति का रुख है जो गाँव की शक्ति और सीमा दोनों से परिचित है। ग्रामीण जीवन के चित्रण में प्रेमचंद को अभूतपूर्व सफलता मिली है, उसका एक प्रधान कारण गाँवों के प्रति उनका यह यथार्थ रुख है।... यथार्थ की उनकी पहचान और उसके फलस्वरूप सामने आने वाली उनकी कला किताब-दर-किताब निखरती गयी है।"

मार्क्सवाद और यथार्थवाद में अटूट आस्था रखने वाले शिवकुमार मिश्र अपने समय के अन्य साहित्यिक विमर्शों, मसलन आधुनिकता, आधुनिकतावाद, लघुमानव, क्षणवाद, अस्तित्ववाद, स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, बाजारवाद आदि की सीमा, शक्ति और अंतर्विरोधों पर अपनी पैनी नजर रखते और उनके अंतर्विरोधों से सीधी टक्कर लेते हैं। उनके अनुसार आधुनिकता एक जीवंत चेतना एवं गत्यात्मक विचार है जबकि आधुनिकतावाद आधुनिकता और आधुनिक

भावबोध से संलग्न एक निहायत कलावादी, रूपवादी, व्यक्तिवादी और अस्तित्ववादी कला-चिंतन की वैचारिक समष्टि है, जो दो महायुद्धों के दौर से चली आ रही कला-प्रवृत्तियों से सीधे विरोध में पाश्चात्य प्रभाव से विकसित हुई है और इसे नयी कविता से लेकर अकविता, वीट कविता, श्मशानी कविता तथा नाटकों एवं उपन्यासों में दिखाई पड़ने वाली प्रकृतवादी, अतिथार्थवादी, अस्तित्ववादी, नकारवादी, रूपवादी-अकेलापन, संत्रास, मृत्युबोध आदि को प्रश्रय देने वाली अभिव्यक्ति में पहचाना जा सकता है। सच बात तो यह है कि इतिहास-विरोधी, विज्ञान-विरोधी आधुनिकतावाद अंततः मनुष्य-विरोधी प्रमाणित होता है क्योंकि वह इतिहास में नहीं 'क्षण' में विश्वास करने वाला है। वर्तमान को बदलने की तुलना में वर्तमान के त्रासद क्षण में जीने की बात करता है। यह इतिहास को, मनुष्य के भविष्य को-सबको नकारते हुए लोगों को निराशावाद के कुहासे में फेंक देता है। यह मनुष्य को आशावादी एवं संघर्षशील नहीं, उसे हर तरह से असमर्थ, परवश, और दीन-हीन बनाता है। आज के दलित-विमर्श पर संजीदगी से विचार करते हुए शिवकुमार मिश्र इस सकारात्मक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज दलित लेखन और दलित साहित्य में स्वानुभूत यथार्थ की प्रधानता है, आत्मकथाओं और आत्मबीती पर बल है, ऐसी रचनाएँ भी दलित लेखकों के माध्यम से सामने आ रही हैं जिनमें स्वानुभूति से आगे जाकर दलितों की समस्याओं, उनके वजूद के सवाल तथा व्यवस्था के शिकंजे में फँसी उनकी जिंदगी पर दृष्टिपात किया गया है आगे चलकर दलित लेखकों की रचनाओं में जिंदगी के अन्य पहलू भी आयेंगे, इनकी जिंदगी की छवियाँ भी उभरेंगी। अभी शुरुआत है, आगे अनेक मंजिलें हैं जिन्हें दलित लेखन तय करेगा। मार्क्सवादी या जनवादी तथा दलित लेखकों के बीच के मतभेदों को पाटते हुए शिवकुमार मिश्र कहते हैं कि "समय का तकाजा है कि साधारण जन के हितों की पक्षधर, जनवाद की पक्षधर ताकतें एकजुट हों। सामाजिक जीवन में ही नहीं, साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में भी यह एकजुटता जरूरी है। इसी नाते जनवादी सोच के हामी, जनवादी रचनाशीलता से जुड़े रचनाकारों और विचारकों के लिए उभरते हुए दलित लेखन से संवाद और आत्मीयता

एक अपरिहार्यता है। ऐसा मैत्रीपूर्ण विमर्श जो दोनों के संबंधों को दृढ़ करे, क्योंकि दोनों की मंजिलें अंततः एक हैं।"

स्त्री-विमर्श के संदर्भ में शिवकुमार मिश्र का चिंतन है कि बार-बार अपमानित होती हुई आहतमना सीता की आत्महत्या समूचे वाङ्मय में दर्ज किसी स्त्री की पहली आत्महत्या है वह भी सभ्यता के उषःकाल की, आदिकवि वाल्मीकि की पहली रचना में। द्रौपदी, गांधारी के अलावा और भी न जाने कितने तरह के वृत्तांत हमारे धर्मशास्त्रों में हैं, जो सीता के क्लेश से कम रोमांचक और त्रासद नहीं हैं। ध्यान देने की बात है कि स्त्री के इन सारे त्रासद प्रसंगों के केन्द्र में पुरुष ही है या फिर उनके द्वारा रचे गए धर्मशास्त्र हैं। इन सारे वृत्तांतों के भीतर से जिस पुरुष दंभ, पुरुष प्रभुता और पुरुष मानस की अभिव्यक्ति होती है, उसे पढ़ना-समझना बहुत कठिन नहीं है। अपने एक साक्षात्कार में शिवकुमार मिश्र स्त्री-विमर्श के अंतर्विरोधों की तह में उतरते हुए इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि "स्त्री-अस्मिता का एक शत्रु स्त्री के भीतर है। सदियों से रूढ़ संस्कारों से जकड़ा उसका मन। पुरुष वर्चस्व के इन संस्कारों ने स्त्री-मन को इतना अनुकूलित कर लिया है कि पुरुष द्वारा तन-मन पर दिए गए सैकड़ों निशानों के साथ वह उसी के कंधे पर परलोक जाना चाहती है। व्रत-उपवास सब उसी के लिए करती है। यह संस्कारबद्धता है और गुलामी में सुख मानना। जब गुलामी में सुख मिलने लगे तो आजादी का सवाल कहाँ। पुरुष वर्चस्व वाले समाज के साथ-साथ स्त्री को यह युद्ध अपने भीतर अपने से लड़ना है। संस्कारों की जकड़बंदी से मुक्त होना है। स्वेच्छया ढोयी जा रही गुलामी को झटक देना है।"

मुक्तिबोध ने 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' में लिखा है कि "मनुष्य-जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं, जो साहित्याभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति एक शैली को दूसरी शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीत का नई कविता से विरोध नहीं है और न नई कविता को उसके विरुद्ध अपने को स्थापित करना चाहिए।" मुक्तिबोध की काव्यदृष्टि और आलोचनादृष्टि पर भरपूर भरोसा व्यक्त करने वाले समकालीन कवि और आलोचक भी मुक्तिबोध के इन विचारों को धता बताते हुए हिकारत भरे अंदाज में

संपूर्ण छांदस कविता के प्रति, खासकर गीत और गजल के प्रति, सौतेला व्यावहार रखते हैं। एक ओर नामवर सिंह जैसे तथाकथित मार्क्सवादी आलोचक मानते हैं कि गीत आज संभव नहीं रह गया है? तो दूसरी ओर आलोचना की धारा ३०२ का बर्बरतापूर्वक उपयोग करते हुए 'गीत, गाना और भड़ैती' को एक ही श्रेणी की वस्तु मानने वाले आलोचक मैनेजर पाण्डेय घोषित कर देते हैं कि "आपसे कहूँ तो खराब कविता के पाठक ज्यादा हैं। हिंदी में इन दिनों गीतों और गजलों का जोर बढ़ा है। गीत और गजल एक ढाँचे में लिखे जा रहे हैं और स्वभावतः लोग उन्हें कविता मानने लगते हैं। उसमें क्या कहा जा रहा है इस पर ध्यान नहीं देते। गीत और गजल दोनों ऐसी विधा हैं, जिसमें अच्छा और महत्वपूर्ण लिखना मुश्किल काम है, जबकि खराब गीत और गजल लिखना बहुत आसान।" शिवकुमार मिश्र गीत और गजल के प्रति नकारात्मक और अमानवीय सोच नहीं रखते हैं। 'आधुनिक कविता और युग-संदर्भ' में वे समकालीन गीतकारों को आगाह करते हैं कि "नवगीतों को असली खतरा नवगीतकारों से ही हैं। न केवल ढेर सारे विशुद्ध कवि-सम्मेलनी गलेबाज और लोक शैली तथा लोकलयों के नक्काल इन नवगीतकारों की जमात में घुसे हुए हैं, अपितु प्रति पल घुसने की टोह में भी हैं। हो सकता है कि नवगीतकार उपलब्धि के नाम पर जो थोड़ा कुछ अर्जित कर भी सके हैं, उसे चाट जायें। मुख्य प्रश्न नवगीतों और तथाकथित नवगीतों के अलगाव का है।" 'नवगीत के नए प्रतिमान' में शिवकुमार मिश्र पूरे विश्वास के साथ उद्घोषित करते हैं कि समकालीन गीत "आज किसी भावुक मन की अभिव्यक्ति भर या गाने गुनगुनाने भर की चीज न रहकर समय की विसंगतियों से सीधी आँख मिलाते हुए कविता और आदमियत को बनाए और बचाए रखने की मुहिम में अपनी गीतात्मक धुरी पर संयत है, और किसी से कमतर नहीं है। जीवन का जो तमाम-कुछ शुभ और सुंदर, समय के क्रूर जबड़े का हिस्सा बन चुका है। वे चाहे जातीय स्मृतियाँ हों, संचित जीवन मूल्य हों, परंपरित नाते-रिश्ते की उष्मा हो, लोक और लोकजीवन की छवियाँ हों,

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के बारीक इंद्रिय-संवेदन हों, नवगीत ने उसको बचाए रखने का बीड़ा उठाया है।

दरहकीकत, शिवकुमार मिश्र दूसरे मार्क्सवादी और आधुनिक आलोचकों की भाँति वर्तमान गजल-साहित्य के बगैर मुकम्मल परिचय पाये ही कोई मनोगतवादी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाते, प्रत्युत उसके रचना-लोक में शिद्यत के साथ प्रवेश के बाद ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि समकालीन "गजलें एक स्तर पर समय की विद्रूपताओं और उसकी आक्रामकता को उजागर करती हैं, दूसरे स्तर पर आदमियत के क्षरण के प्रतिरोध में, आदमी और उसकी संकटग्रस्त रचनाधर्मिता के पक्ष में अपनी खरी पहचान भी कराती हैं। वे हमारे समय और सामाजिक जीवन का आईना भी हैं और आईने के आगे की हकीकत भी, जिसमें वह सब भी उनकी निगाहों की जद में आ जाता है, आईने की पकड़ से जो परे है और जिसे किसी प्रतिबद्ध रचनाकार की तीसरी आँखें ही देख सकती हैं।"

मतलब स्पष्ट है कि शिवकुमार मिश्र की यथार्थवादी आलोचना-दृष्टि को साहित्य के किसी रूप या विधा से कोई बैर-भाव या परहेज नहीं है, वे उसकी शक्ति और सीमा से पूरी तरह वाकिफ हैं, तभी वे उनके अंतर्विरोधों और उपलब्धियों की पहचान कर सके हैं तथा यही उनकी वस्तुवादी आलोचना-दृष्टि की असली पहचान है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि लेखक की क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि वह बदली हुई वास्तविकता को कितनी समग्रता में ग्रहण कर अपनी रचनात्मक प्रतिभा का अंग बना लेता है। सच्चे यथार्थवाद को और अधिक स्पष्ट करते हुए शिवकुमार मिश्र फ्रेड्रिक एंगेल्स के इस निष्कर्ष से पूरी तरह सहमत दृष्टिगोचर होते हैं कि "कोई भी विचार, भले वे समाजवादी विचार ही क्यों न हों, कृति का अंग बनकर ही उसमें प्रवेश पा सकते हैं। कृति के अंतर्गत लेखक के विचार जितना अधिक प्रच्छन्न रहें, कलात्मक सौंदर्य के लिए वह उतना ही अच्छा होगा। कारण, सच्चा यथार्थवाद लेखक के अपने विचारों के आरोपण के बिना ही कृति के भीतर से अपनी अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो जाता है।"

संपर्क: आनंद विहार कॉलोनी, मौर्या ग्लासेज के दक्षिण,

पत्रालय-बहादुरपुर हाउसिंग कॉलोनी, पटना-800026, मो. 9471050921

उत्तर-आधुनिकतावाद एवं आलोचना की आधारणा

हरeram पाठक

एसोसिएट, प्रोफेसर एवं हिंदी विभागाध्यक्ष

डिगबोई महिला महाविद्यालय, आसाम

उत्तर-आधुनिकतावादी विचारक जब लेखक की मृत्यु की ही घोषणा कर चुके हैं तब उनके शब्दों में आलोचक का हाशिए पर आ जाना स्वाभाविक ही है। वैसे उनकी नजर में आलोचक हाशिए पर नहीं है, उनका अवसान ही हो चुका है। मिशेल फूको कहते हैं कि 'समय आ गया है कि हम समीक्षा और दर्शन के लिखने वालों के अंत और अवसान को स्वीकार कर लें क्योंकि पाठक अब हर अनुभूति से रिक्त हो चुका है।' पता नहीं मिशेल फूको को पाठक के अनुभूतिहीन होने का पता किस यंत्र से चल गया है? सहृदय पाठक अभी भी है; चलिए, मान लेता हूँ कि पाठक अनुभूति से रिक्त ही हुआ है, तो क्या साहित्य का यह धर्म नहीं है कि इस संक्रमण काल में लेखक उसके साथ होकर उनमें अनुभूतिगत प्रेरणा एवं आस्था का संचार करे। इस विषम परिस्थिति में आलोचक की और अधिक आवश्यकता महसूस करनी चाहिए। बल्कि यों कहा जाए कि साहित्य जगत में निष्पक्ष एवं विचारवान समीक्षक की आज जितनी आवश्यकता महसूस हो रही है उतनी शायद पहले कभी नहीं हुई थी तो अत्युक्ति नहीं होगी।

खुशी की बात है कि जिस अमेरिका में उत्तर-आधुनिकतावाद का जोर-शोर से प्रचार हुआ, अब वहीं पर इसका विरोध भी प्रबल हो उठा है। वहां मानवीय संबंधों से दूर जाते हुए साहित्य पर चिंता प्रकट की जा रही है। अमेरिका में एसोसिएशन ऑफ लिटरेरी स्कॉलर्स एण्ड क्रिटिक्स नामक एक संस्था का गठन (१९९४) किया गया है। यह संस्था साहित्य को अन्य पाठों की तरह एक पाठ नहीं मानती है एवं उत्तर-आधुनिकतावादियों का हरेक मोर्चे पर विरोध करते हुए साहित्य के प्रति आस्थावान होने का प्रचार-प्रसार करती है। अतः यह सत्य है कि भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावाद, उत्तर-संरचनावाद, बाजारवाद एवं उत्तर-आधुनिकतावाद की लहर आज जोरों पर है परंतु मानव-हृदय की धड़कन से अनुस्यूत साहित्य इन सभी 'वादों' से ऊपर है। इसकी शाश्वतता पर संदेह करना अनावश्यक है। आधुनिक विमर्श में साहित्य की जनहितकारी भावनाएँ कहाँ तक सुरक्षित हैं?

पॉल द मान, मिशेल फूको, जॉक देरिदा तथा रोलां बार्थ उत्तर-आधुनिकतावाद के साहित्यिक चिंतक हैं। रोलां बार्थ ने 'द डेथ ऑफ द ऑथर' (१९६८) में लिखा है, 'समय आ गया है कि आलोचना एवं दर्शन लेखक, साहित्यकार के लुप्त होने या उसके अवसान की वास्तविकता को स्वीकार कर लें... एक संस्था के रूप में लेखक की मृत्यु हो चुकी है।'

लेखक के अवसान तथा पाठक के आगमन का विवाद बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक से ही प्रचलित रहा है। पांचवें दशक में लायनल ट्रिलिंग ने अपने लेख 'लेखक का अंत' में कहा है कि यह युग पाठक का युग है।' पाश्चात्य देशों में ज्ञान, कला एवं दर्शन के क्षेत्र में मौत की घोषणा करना एक फैशन-सा चल पड़ा। टॉमस एज़ि और विलियम हेमिल्टन ने 'द रैंडिकल थियरी एण्ड द डेथ ऑफ गॉड' (१९६६) लिखकर ईश्वर की मृत्यु की घोषणा कर दी। जॉक देरिदा ने 'मनुष्य की मृत्यु' (१९८२), फ्रांसिस फुकुयामा ने 'इतिहास का अंत' (१९९१), डैनियल बेल ने 'विचारधारा का अंत' (१९६०), गियन्नी वातीमो ने 'आधुनिकता का अंत' (१९९१), विक्टर वर्गिन ने 'कला का अंत' (१९८६), एल्विन कर्नान ने 'साहित्य की मृत्यु' (१९९०), रोलान् बार्थ ने 'लेखक की मृत्यु' (१९६८), तथा मिशेल फूको ने 'आलोचक की मृत्यु' की घोषणा कर डाली। तात्पर्य यह है कि बीसवीं सदी के पांचवें दशक से पाश्चात्य देशों में ऐसे परिवर्तन देखे जाने लगे थे जो आधुनिकता से भिन्न थे। सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में इन दिनों ऐसे परिवर्तन होने लगे थे कि लेखन द्वारा भी शायद इन अधःगामी परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता था परिणामतः साहित्य की मौत की घोषणा की जाने लगी। यहाँ यह विचारणीय है कि सारी व्यवस्थाओं के प्रति नकार की भावना उस समय प्रचलित हुई जिस समय पेरिस में छात्रों का विद्रोह चल रहा था। सन् १९६८ में यह विद्रोह चरम सीमा पर था। औद्योगीकरण की अत्याधुनिक प्रविधियों के प्रवेश के चलते रोजगार के अवसर कम हुए और लोगों में क्षोभ-निराशा का प्राबल्य हुआ। युवा वर्ग सबसे अधिक आहत हुआ। उत्पादकता में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ कारखानों में मजदूरों की छंटनी से उपजी बेकारी की समस्या का सामना सबसे पहले अमेरिका एवं योरोपीय देशों को ही करना पड़ा था। इसका प्रभाव मानव के व्यक्तिगत जीवन पर इतना व्यापक रूप से पड़ा कि उसके सारे नीति-नियम एवं आदर्श बालू की भीत की तरह भरभरा कर गिर पड़े। इस दौर का वर्तमान जितना भयावह था अथवा है, भविष्य उससे भी अधिक भयावहता एवं अनिश्चयता से परिपूर्ण है। पर ऐसे समय में क्या साहित्य को अपने कर्तव्य से मुंह

मोड़ लेना चाहिए? अथवा सजग एवं संयमित हो उत्तर-आधुनिकता के बहाव के साथ न बहकर अपनी परंपरागत जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना का प्रयास करना चाहिए। इन प्रश्नों पर विचार करते वक्त उत्तर-आधुनिकता से जुड़े विभिन्न बिंदुओं पर विचार करना आवश्यक है।

१. उत्तर-आधुनिक बाजार व्यवस्था और साहित्य: 'पेरैस्त्रोइका' के जन्मदाता मिखाइल गोर्बाच्चेव ने कहा कि आने वाले जमाने में किसी देश का महत्व सामाजिक संबंध से नहीं बाजार से आंका जायेगा। अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने भी राजनीतिक या सैनिक तरीके से दुनिया पर शासन करने की जगह सूचना के जरिए शासन करने की बात कही थी। आज मिखाइल गोर्बाच्चेव एवं जॉर्ज बुश दोनों की बातें सत्य साबित हो रही हैं। सूचना प्रसारण के जरिए विज्ञापन संस्कृति का इतना अधिक प्रचार अथवा अप्रचार हो गया है कि उससे एक अनावश्यक प्रचार प्रतियोगिता जन्म ले चुकी है। इस प्रतियोगिता में पिछड़कर कोई विश्व-स्तर पर बाजार-व्यवस्था नहीं कर सकता। जाहिर है कि इस विज्ञापन-युगीन बाजार-व्यवस्था में पूंजीवादी देश ही आगे बढ़ पाएँगे। अमेरिकी, रूस, जापान जैसे देश इस प्रक्रिया में अधिक लाभान्वित हो रहे हैं। तेजी से बढ़ती हुई इस प्रकार की बाजार-व्यवस्था ने सबसे पहले मनुष्य, उसकी संवेदना एवं उसकी भाषा पर प्रहार किया है। अशोक वाजपेयी लिखते हैं- "एक ऐसे समय में जब शब्द पर हर ओर से हमला है, शब्द की रक्षा और उसकी पवित्रता और गरिमा की रक्षा करना कविता का बुनियादी धर्म है।" इस बाजारवादी संस्कृति ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उपभोक्तावादी संस्कृति के क्रूर पंजों एवं बाजारवादी व्यवस्था की साहित्य विरोधी नीतियों की जकड़बंदी से हमें साहित्य को मुक्त कराना होगा।

उत्तर-आधुनिकतावादियों की साहित्य संबंधी धारणा बहुत ही निराशाजनक एवं हास्यास्पद है। आश्चर्य तो यह है कि साहित्य की मृत्यु की घोषणा करने वाले स्वयं साहित्यकार ही रहे हैं। 'उपन्यास की मौत' (एलियट), 'काव्य एक मरती हुई विधा है' (एडमंड विलसन), 'मानव संबंधों का साहित्य मर गया है' (डी.एच.लारेन्स) आदि की घोषणा करने वाले उच्च कोटि के साहित्यकार माने जाते

हैं। एल्विन कर्नान तो साहित्य की मृत्यु की ही घोषणा कर देते हैं और उत्तर-आधुनिकतावाद को वे इसका हेतु मानते हैं। वे कहते हैं- 'गत तीस वर्षों के दौरान अमेरिका में साहित्य मर गया है। कुछ तो अपने हाथों उसकी मृत्यु हुई और कुछ बाहरी आक्रमणों के कारण। रही-सही कसर सामाजिक तथा तकनीकी तब्दीली ने पूरी कर दी, जिसे हम उत्तर-आधुनिकता की संज्ञा से जानते हैं।' (द डेथ ऑफ लिटरेचर: एल्विन कर्नान १९९०) यहां अहम बात यह है कि अध्ययन का कोई भी अनुशासन किसी एक व्यक्ति की चिंतन धारा का परिणाम नहीं है। युग-युग से हजारों व्यक्तियों के सकारात्मक चिंतन से किसी विषय-विशेष की ठोस संरचना तैयार होती है। तत्पश्चात् उस विषय से समाज के एक-एक व्यक्ति का संवेदनात्मक संबंध स्थापित होता है अतः किसी एक व्यक्ति (चाहे वह विद्वान ही क्यों न हो) का यह कतई अधिकार नहीं बनता है कि वह किसी विषय-विशेष की मृत्यु की घोषणा कर दे। उसकी यह चमत्कारपूर्ण उक्ति मुट्ठी भर लोगों को भले ही क्षणिक आनंद प्रदान कर कुछ देर के लिए अपने पक्ष में कर सकती है, पर उसके विरोध में उठे स्वर उसके विचारों को देर तक टिकने नहीं देंगे। अमेरिका में साहित्य की मृत्यु की घोषणा विकृत मार्क्सवाद एवं विरचना के फ्रांसीसी गुरु जॉक देरिदा के प्रभाव में आकर की गई थी। इस साजिश को अच्छी तरह समझा था एडविन एम जौर्ड (जूनियर) ने। उन्होंने एल्विन कर्नान (साहित्य की मृत्यु के उद्घोषक) की उद्घोषणा के प्रतिकार स्वरूप कहा कि साहित्य मर नहीं सकता 'अमेरिका में अंग्रेजी के कतिपय विभागों पर उन आरामपरस्त क्रांतिकारियों ने कब्जा कर लिया है, जिनकी समीक्षा के स्रोत मार्क्सवाद (और वह भी विकृत) या विरचना (डिक्स्ट्रक्शन) के फ्रांसीसी गुरु जॉक देरिदा की फैशनेबुल बकवास है। ...साहित्य अपने तथाकथित अवसान के पश्चात् भी जीवित रहेगा।'

उत्तर-आधुनिकतावादियों ने कहा है कि साहित्य और साहित्यकार का रिश्ता टूट चुका है। वे साहित्य को दूसरे लेखन की तरह एक लेखन मात्र मानते हैं जिसमें लोकमंगल, जनहित, शब्द संरचना आदि शब्दों का कोई महत्त्व नहीं है। उनके अनुसार लेखन जब जन्म लेता है तो लेखक की

मृत्यु हो जाती है। कैसी विडम्बना है कि कभी दर्शन, इतिहास, विज्ञान आदि को साहित्य का ही अंग माना जाता था, आज इसके ठीक विपरीत साहित्य को विभिन्न विषयों का एक अंग मात्र मानने की परंपरा चल पड़ी है।

उत्तर-आधुनिक विचारक पाठ के अतिरिक्त किसी चीज की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सभी गल्प या पाठ हैं। अब साहित्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। साहित्य से किसी प्रकार की मंगलकामना (जैसा कि पहले किया जाता था) करना व्यर्थ है। चाहे वह राजनीति की कोई पुस्तक हो, साहित्य की हो एवं दर्शन या अर्थशास्त्र की पुस्तक हो, सब टेक्स्ट हैं पाठ हैं। इस प्रकार उत्तर आधुनिकतावाद में साहित्य संबंधी धारणा बदली है। यह धारणा पारंपरिक धारणा के विपरीत है एवं साहित्य की अस्मिता एवं अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न खड़ा करती है।

२. उत्तर-आधुनिकतावादी भाषा-चिंतन: उत्तर-आधुनिकतावादियों का भाषा-चिंतन पारंपरिक भाषा-चिंतन से भिन्न है। प्राचीन शास्त्रियों ने शब्द एवं अर्थ का अटूट संबंध बतलाया है। काव्य की परिभाषा इतनी व्यापक हुई कि 'शब्दार्थो सहिततम् काव्यम्' की घोषणा की गई गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है- गिरा अरथ जल-बीच सम कहिय न भिन्न भिन्न।' अर्थात् शब्द और अर्थ के बिना शब्द सिर्फ शोर है। परंतु आश्चर्य की बात है कि उत्तर-आधुनिकतावादी विद्वान शब्द एवं अर्थ में कोई मूलभूत संबंध नहीं मानते उनके अनुसार अपनी कल्पनानुसार किसी शब्द का अर्थ गढ़ा जा सकता है। वे इसे शब्द की जनतांत्रिकता कहते हैं। परंतु यदि शब्द का मनमाना अर्थ सभी लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार लगाने लें तो क्या संप्रेषण की समस्या पैदा नहीं होती? फिर भाषिक अराजकता भी तो फैल जाएगी। अतः शब्द और अर्थ की यह दशा चिंताजनक है जिसे उत्तर-आधुनिकतावादियों ने नई परिभाषा दी है। शब्द और अर्थ के इस तथाकथित जनतांत्रिक प्रयोग के विषय में चिंता व्यक्त करते हुए जार्ज कानार्ड कहते हैं- "यह एक खतरनाक समय है। शब्द की गरिमा नष्ट हो रही है। पात्र छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और स्मृतियाँ अस्त-व्यस्त और कोई भी यह कहकर अपने को तसल्ली नहीं दे सकता कि स्थितियां बदलेंगी।' जार्ज कानार्ड की यह चिंता

स्वाभाविक है, परंतु ऐसी बात नहीं है कि शब्द-अर्थ की नष्ट होती गरिमा को साहित्य-चिंतक चुपचाप यूँ ही देखते रह जाएंगे उत्तर-आधुनिकतावादी कहते रहें कि आजकल रचना नहीं विरचना का युग है, परंतु यह मत व्यापक रूप से स्वीकृत नहीं माना जा सकता। भाषा एवं साहित्य की प्रवाहमयता को किसी खास विचारधारा में नहीं बांधा जा सकता। यदि मान भी लिया जाय कि रचना का स्थान अब विरचना (डिक्स्ट्रक्शन) ने ले लिया है तो यह भी मानना होगा कि जहां विरचना है वही नवरचना (रिकंस्ट्रक्शन) एवं नवविष्कार का भी अस्तित्व है।

३. उत्तर-आधुनिकतावादी पाठ (टेक्स्ट) चिंतन : संरचनावाद में पाठ और रचनाकार के बीच थोड़ा संबंध कायम रहा। परंतु उत्तर-आधुनिकतावाद में प्रतिपादित विसंरचनावादी अवधारणा ने पाठ (रचना, कलाकृति) एवं रचनाकार के बीच के इस रहे-सहे संबंध को भी समाप्त कर दिया। अजय तिवारी इस सिद्धांत को इस प्रकार समझाते हैं- 'जैसे उत्पादन के बाद 'माल' मजदूर से विच्छिन्न हो जाता है, वैसे व्यक्त होने के बाद कलाकृति कलाकार से विच्छिन्न हो जाती है। माल उपभोक्ता का हो जाता है और रचना पाठक की! लेकिन इस प्रक्रिया की सबसे निर्णायक कड़ी है व्यवसाय, जो 'माल' और 'कला' दोनों को उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचाने की सारी सुविधाएँ और शर्तें तय करता है। इस कड़ी को आँख से ओझल करके उत्तर-आधुनिकतावादियों ने जिस व्यक्तित्व रहित कला का समर्थन किया, वह बाजार की निर्वैयक्तिक और निरंकुश शक्तियों को ही औचित्य प्रदान करता है।' अजय तिवारी का विश्लेषण सही है, पर मेरी समझ से 'माल' (वस्तु) की तुलना रचना से करना ही बेतुकी बात है। एक का संबंध शुद्ध

व्यापार एवं मुनाफाखोरी से है तो दूसरे का संबंध संवेदना एवं भावनाओं के उदात्तीकरण से है। विरचनावादी इस तथ्य को भले स्वीकार करें, परंतु रचनाधर्मिता के इस शाश्वत मानक को झुठलाया नहीं जा सकता है।

उत्तर-आधुनिकतावादी विचारक कहते हैं कि 'दर्शन को साहित्य की तरह और साहित्य को दर्शन की तरह पढ़ना चाहिए। इसप्रकार वे दोनों को गल्प या पाठ की तरह पढ़ने पर जोर देते हैं। ऐसा करके उपनिवेशवादी मानसिकता से बचा जा सकता है। कोई विषय ऐसा न हो जो सत्य कथन का दावा करते हुए पाठक को अपनी बात मनवाने की उपनिवेशी प्रवृत्ति को प्रचारित करे।' मेरे मत से यहां इस बात का ख्याल रखना आवश्यक है कि कोई भी विषय-विशेष (साहित्य आदि) की अनुशासनात्मक व्यवस्था होती है, उस व्यवस्था को उपनिवेशवादी व्यवस्था बताना भ्रामक प्रचार है, जैसा कि उत्तर-आधुनिकतावादियों ने किया है।

उत्तर-आधुनिकतावादियों के अनुसार लेखक चाहे जिस उद्देश्य एवं अर्थ को ध्यान में रखकर लिखे पाठक उसे वास्तविक संदर्भ से काटकर बिल्कुल भिन्न संदर्भ में पढ़ने को स्वतंत्र है। देरिदा एवं अन्य विचारवादी इसे 'स्पेसिंग' कहते हैं। हिंदी में इसे 'व्योम' नाम से जाना जाता है। कुछ मायनों में यह संभव है कि लेखक का मकसद है कुछ दूसरा कहना परंतु पाठक उसका दूसरा अर्थ लगाकर भी लेखक के अभिप्राय को द्विगुणित कर देता है। ऐसा रामचरितमानस आदि बहुत ग्रंथों के साथ किया गया है। परंतु सब जगह यदि इसी प्रकार के प्रयोग किए जाएं तो अर्थगत अराजकता फैलने की भी संभावना है। अर्थ में लगभग एक सूत्रता एवं तार्किक संयोजन का होना परम आवश्यक है।

संपर्क :

डिगबोई महिला महाविद्यालय

पो. डिगबोई, जिला- तिनसुकिया, पिन- 786171, मो. 9435137624

नेहरू युग की कविता पूनम सिंह

हिंदी कविता में नेहरूयुग अपनी भाविक और भाषिक अभिव्यक्ति के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कविता की विचारभूमि में इस युग का उदय और अवसान दोनों प्रमुखता से दर्ज है। स्वतंत्रता संघर्ष तथा कांग्रेस की राजनीति में नेहरू नई उम्मीदों के प्रतीक बनकर आये थे। स्वतंत्रता आंदोलन के समय जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये तो उन्होंने 'संपूर्ण स्वराज्य' का नारा दिया। यहीं से महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन के दूसरे चरण की शुरुआत हुई। उस समय के युवा भारत पर नेहरू का गहरा प्रभाव पड़ा। प्रभाव भगत सिंह और उनके क्रांतिकारी साथियों का भी था लेकिन वह एक अंतःप्रवाह की तरह था, सतह पर नेहरू ही थे।

विश्वयुद्ध के समय राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए उपनिवेश तथा गुलाम देश की जनता जो आंदोलन कर रही थी उसके प्रति नेहरू को गहरी और सच्ची सहानुभूति थी। 'उस समय नेहरू ने इस आंदोलन में आम जनता की निर्णायक भूमिका पर जोर दिया। खास तौर पर किसानों की भूमिका पर क्योंकि औपनिवेशिक और सामंती दमन का सबसे बड़ा बोझ उन्हीं के कंधों पर था। उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस को आम जनता का संगठन बनाने में जिसमें साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद करने वाली भारत की विभिन्न प्रगतिशील तथा जनवादी शक्तियाँ भी शरीक हुईं, बहुत बड़ी भूमिका अदा की।' (समय संवाद- ले. ब्रजकुमार पाण्डेय, पृ. १३१)

नेहरू के इस सांगठनिक व्यक्तित्व से उस समय का साहित्य जगत बहुत प्रभावित था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंडित नेहरू के नेतृत्व में जब देश विकास के नये पथ की ओर अग्रसर हुआ तो छायावाद के प्रमुख कवि सुमित्रानंदन पंत ने इस दौर को नेहरूयुग की संज्ञा दी। नेहरूयुग के नाम से लिखी अपनी कविता में उन्होंने राष्ट्रनायक नेहरू का अभिनंदन इन शब्दों में किया-
“गाँधी युग के सूक्ष्म कुहासों से कढ़/ प्रौढ़ यंत्र युग के मारुत गति चक्रों पर बढ़/ उतर रहा नेहरू युग निर्धूम अग्नि सा उज्ज्वल/ पवन शीतल।”

पंडित नेहरू के सामाजिक सांस्कृतिक व्यक्तित्व से निराला भी प्रभावित थे। निराला की लेखनी में द्वितीय विश्व युद्ध का एक दृश्य है जिसमें परतंत्रता का दर्द और पीड़ित देशवासियों की दयनीय स्थिति का वर्णन है- “कैसे हम बच पायें निहत्थे/ बहते गये हमारे जत्थे/ राह देखते हैं भ्रमाये/ न आये बीर जवाहरलाल।” नेहरू की ओर आशापूरित दृष्टि से देखने का दृश्य हिंदी रचनाकारों पर उनके प्रभाव का द्योतक है।

निराला ने 'सुधा' के संपादकीय में उन पर कई प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ लिखीं लेकिन वे नेहरू पर आक्षेप करने से भी नहीं चूकते थे। प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत १९३६ के सम्मेलन में हुआ था। प्रगतिशील लेखकों की जमात में नेहरू भी शिरकत करते थे। प्रेमचंद के निधन पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक शोक सभा हुई थी जिसमें नेहरू शरीक हुए थे। नेहरू रूस के विकास के समाजवादी मॉडल से प्रभावित थे और प्रगतिशील लेखकों पर उनके इस सोच का जबर्दस्त प्रभाव था। निराला ने उस समय 'मास्को डॉयलाग्स' कविता लिखी थी जिसमें कुछ खरी-खरी बातें नेहरू पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने लिखी थी। उनके लेखकीय ईमान को नेहरू भी जानते थे। प्रगतिशील कवियों में नागार्जुन के भीतर भी यह ईमान था। वे नेहरू की खुलकर आलोचना करते थे।

अज्ञेय और मुक्तिबोध पर भी नेहरू का गहरा प्रभाव पड़ा। अज्ञेय ने 'नेहरू अभिनंदन ग्रंथ' का संपादन किया। आजादी के बाद नई कविता आंदोलन पर भी नेहरू का गहरा प्रभाव था।

जब देश स्वतंत्र हुआ तो आजाद भारत में एक नये नेहरूयुग की शुरुआत हुई। नेहरू ने लोकतंत्र की संस्थाओं को मजबूत किया। सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से उद्योग धंधों का विकास किया और समाजवादी रुझान वाले कल्याणकारी राष्ट्र के रूप में भारत को नई पहचान दी। उन्होंने संसद में कई लेखकों को भी नामित किया था। साहित्य कला संस्कृति के विकास के प्रति वे यथेष्ट जागरूक थे। १९५४ में स्थापित साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी और ललित कला अकादमी उनकी इसी निष्ठा और प्रतिबद्धता का प्रतिफलन है। इन अकादमियों के द्वारा जिस समय दस भारतीय भाषाओं की चयनित कविताओं का हिंदी अनुवाद किया जा रहा था उस समय नेहरू स्वयं 'भारतीय कविता १९५३' नाम से प्रकाशित पुस्तक की भूमिका तैयार करवाने में जी जान से लगे थे। उन्होंने कई महत्वपूर्ण कृतियों की भूमिका खुद भी लिखी जिनमें अज्ञेय की 'प्रीजन डेज एण्ड अदर पोएम्स' बच्चन की 'हाउस ऑफ वाईन', दिनकर की 'संस्कृति के चार अध्याय', 'बांग्ला साहित्य का इतिहास' आदि महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

विद्वान इतिहासविद् डॉ. ब्रज कुमार पाण्डेय ने वस्तुतः ठीक ही कहा है कि- "नेहरू के बाद किसी भारतीय प्रधानमंत्री ने इतनी पुस्तकों की भूमिका लिखी हो मुझे नहीं मालूम।" (इतिहास विविध पाठ, पृ. ७३)

नेहरू एक साथ रूमानी, स्वप्नदर्शी, कवि हृदय, चिंतक और भारतीय इतिहास, साहित्य, संस्कृति तथा समाज के गहरे अध्येता थे। देशी विदेशी साहित्य का गहरा अध्ययन करने के कारण प्रायः सभी भारतीय भाषाओं तथा विदेशी साहित्यकारों से उनका निजी परिचय था। नेहरू ने विश्व इतिहास की झलक १९३०-४० के बीच लिखी जिसमें उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद के कारणों की पड़ताल है। ये सारी बातें उन्होंने अपनी पुत्री इंदिरा को पत्र शैली में लिखी थी जिसे बाद में पुस्तक के रूप में संयोजित किया गया। अपनी दूसरी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में नेहरू ने विश्व को भारत के प्राचीन इतिहास और उसकी मूल संस्कृति की महत्ता से परिचित कराया। नेहरू के भीतर सभ्यता संस्कृति के निरीक्षण, अन्वेषण और विवेचन की बड़ी साफ और सुलझी हुई दृष्टि थी। यायावरी की प्रवृत्ति लेखकीय व्यक्तित्व को व्यापक आयाम देती है। नेहरू के भीतर भी यह प्रवृत्ति राहुल सांकृत्यायन की तरह प्रबल थी। भ्रमण ने उनके चिंतन और साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया था। 'भारत की खोज' में उनकी यायावरी ने अहम भूमिका अदा की। विद्वान लेखक पूरनचंद्र जोशी ने उनके भ्रमण को 'साधारण जन की खोज' कहा है- 'स्वाधीनता आंदोलन को गहराई और विस्तार देने का लक्ष्य पहाड़ के लोगों को नेहरूजी के चिंतन, चिंता और चेतना का केन्द्र बनाने में सहायक सिद्ध हुआ। नेहरूजी की 'भारत की खोज' भारत के भिन्न-भिन्न भागों के वासी साधारण जन की खोज का रूप ले लिया।" (लेख हिमालय की गोद में, तद्भव अंक- ७ अप्रैल २००२)

नेहरू के यात्रा संस्मरण उनकी रचनात्मकता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कारावास के दिनों में वे अपने एकांत को प्रकृति निरीक्षण से ही भरते थे। नेहरू के ही शब्दों में- "पूरे साढ़े चौदह महीने मैं अपनी छोटी सी कोठरी में देहरादून के जेल में बंद रहा था और महसूस करने लगा था कि मैं भी इस कोठरी का ही एक हिस्सा हूँ- कभी-कभी

मुझे कोठरी के बाहर घुमाने ले जाया जाता था। मैं बयान नहीं कर सकता कि मेरे लिए बाहर निकलने और खुले दृश्य को निहारने का क्या मूल्य था। सामने हिमालय के गगनचुम्बी हिमाच्छादित शिखरों से साक्षात्कार मेरे मन को उल्लास और आनंद से भर देता था। लंबे कारावास की क्लृप्ति से मुझे मुक्ति मिल जाती थी। मैं इन पहाड़ों को बेहद लगाव से निहारता रहता था। अपनी कोठरी में बंद जब मैं इन्हें नहीं देख पाता था तब भी मेरे मन में इनकी छवि बनी रहती थी। उनके और मेरे बीच एक रहस्यमय रागात्मकता सी विकसित हो गई थी।”

“सदा अविचलित और असाधारण दृढ़ता और शक्ति का प्रतीक हिमालय जैसे लाखों वर्षों के परिपक्व अनुभव और विवेक से मेरे नाजुक मिजाज पर हँस रहा हो और मेरे उत्तेजित और व्याकुल मन को जैसे सहला रहा हो।” (जवाहरलाल नेहरू एक आत्मकथा लंदन १९३६- उद्धृत लेख हिमालय की गोद में, तद्भव अंक- ७ अप्रैल २००२)

राजनेता से अलग उनके इस सर्जक व्यक्तित्व को लक्ष्य करके ही जार्ज बर्नाड शॉ ने नेहरू के बारे में कहा था- “अगर नेहरू राजनीतिज्ञ नहीं होते तो भारत के सफलतम और महान लेखकों में से एक होते।”

नेहरू युग की हिंदी कविता को समग्रतः समझने के लिए इन सारे आयामों को, राजनीतिक दौर को तथा आजादी के बाद तेजी से बदलते जीवन यथार्थ को सम्यक रूप से समझना आवश्यक है। उस समय साहित्य जगत में नेहरू के प्रशंसक और आलोचक दोनों थे। उसी दौर में कवियों की एक नई पीढ़ी सामने आई थी, आगे चलकर जिसे उत्तरछायावादी दौर के रूप में रेखांकित किया गया। उत्तरछायावादी कवियों में दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण आदि पर नेहरू का गहरा प्रभाव था।

सत्ता और जनता के बीच गहरी पैठ रखने वाले कवि दिनकर का स्वर नेहरू को लेकर काफी ऊँचा है। देश के बटवारे का दंश आजाद देश के सूर्योदय को मलीन कर गया था। इस अधियारे समय में जनता ने नेहरू को बहुत उम्मीद भरी नजरों से देखा था। दिनकर ने ‘जनता और जवाहर’ शीर्षक कविता में इसे व्यक्त किया है- “इस घमासान अधियारे में आशा का दीपक एक शेष/ जनता के

ज्योतिर्नयन में तुम्हें ही देख-दिखा जी रहा है देश।” देश के कर्णधार बने नेहरू को दिनकर ने शुभाशंसा के शब्दों से नवाजते हुए लिखा है- “नाजाँ है हिंदुस्तान, एशिया को अभिमान जवाहर पर/ करुणा की छाया किये रहें/ पल-पल भगवान जवाहर पर।”

लेकिन अभ्यर्थना का यह स्वर बहुत जल्द ही क्षीण होने लगा। नेहरू युग में भारत की आजादी वर्चस्वशाली लोगों के निरंकुश अधिकार की आजादी बनकर रह गई। दिनकर के काव्य संग्रह ‘धूप और धुँआ’ की लगभग सभी स्फुट रचनाएँ इसी तीखी भावात्मक प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त हुई हैं। उन्होंने संग्रह की भूमिका में कहा भी है- “स्वराज्य से फूटने वाली आशा की धूप और उससे जन्में असंतोष का धुआँ यह दोनों ही इन रचनाओं में यथास्थान प्रतिबिम्बित मिलेंगे।” इस संग्रह की एक कविता है ‘जनतंत्र का जन्म’। इस कविता में जनता के पक्ष में खड़ा कवि साम्राज्ञी दिल्ली से प्रश्न करता है- “सात वर्ष हो गये राह में, अटका कहाँ स्वराज/ अटका कहाँ स्वराज? बोल दिल्ली, तू क्या कहती है? तू रानी बन गई/ वेदना जनता क्यों सहती है?” (धूप और धुँआ)

नेहरू युग की विसंगतियों पर दिनकर ने केवल भावात्मक प्रतिक्रिया ही नहीं व्यक्त की है बल्कि समय को व्यक्त करने का ढंग दिनकर के यहाँ निरंतर पड़ताल और निरीक्षण का विषय भी बना। लोहिया जब संसद में चुनकर आये थे तो नेहरू के सबसे प्रिय कवि माने जाने वाले दिनकर से उन्होंने पूछा था- “दिनकर कविता में जो लिखते हो/ वह है सही या वह जो तुम संसद में दिखते हो?”

दिनकर ने बेबाक ढंग से पूछे गये इस प्रश्न का उत्तर भी बेबाक ढंग से दिया था- “मित्र! सत्य का मैं भी अन्वेषी हूँ/ कुछ अधिक जरा देशी हूँ/ अच्छे लगते मार्क्स, प्रेम है किंतु गाँधी से/ प्रिय है शीतल पवन, प्रेरणा लेता हूँ आँधी से/ नहीं चाहता युद्ध लड़ाई लेकिन अगर ठनेगी/ किसी तरह से शांतिवाद से मेरी नहीं बनेगी।” (कोयला और कवित्व)

चीनी आक्रमण के समय घायल जवानों से मिलकर दिनकर के भीतर सरकार और उसकी युद्ध नीति के विरुद्ध तीव्र आक्रोश और क्षोभ पैदा हुआ था। उस समय उन्होंने

नेहरू की अहिंसावादी नीति का विरोध करते हुए दो प्रखर कविताएँ लिखी थीं- “अहिंसावादी का युद्धगीत” और ‘कसौटी पर गाँधी की आग’ उन्होंने लिखा था- “अब भी पशु मत बनो/ कहा है वीर जवाहर लाल ने...”

कवि का मानना था कि- “युद्ध में खड्ग कभी गंगाजल की फुहार से नहीं धोया जाता।” उस समय उन्होंने देश की जनता का आह्वान करते हुए कहा था- “देशवासी जागो जागो/ गाँधी की रक्षा करने का/ गाँधी से भागो।”

सत्ता के बहुत करीब रहने के बावजूद- राज्यसभा सांसद दिनकर का निर्भीक कवि नेहरू के आभिजात्य पर कठोर प्रहार से नहीं चूकता- “घातक है, जो देवता सदृश्य दिखता है/ लेकिन कमरे में बैठकर गलत हुक्म लिखता है।” (परशुराम की प्रतीक्षा- पृ. १०)

हिंदी कविता में नेहरू युग के प्रति आकर्षण और विकर्षण का समानुपातिक भाव लगभग हर दृष्टि सम्पन्न कवियों के भीतर देखा जा सकता है। हिंदी साहित्य के साठोत्तरी दौर के समय भारतीय समाज के शासक शोषक वर्ग का राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकट बहुत गहरा गया था। भारत चीन संघर्ष से शोषित वर्ग की विचारधारा पर कांग्रेसी सत्ता द्वारा कड़े पहरे लगा दिये गये। व्यापक जनसमुदाय में कम्युनिस्ट विरोधी प्रचार जोर शोर से होने लगा।

उस समय बाबा नागार्जुन ने अपनी कविता ‘हजार हजार बाँहों वाली’ के माध्यम से जिज्ञासा व्यक्त की

‘वे सोसलिज्म की बातें बोलो कहाँ गई?’

सपनों वाली वे बातें बोलो कहाँ गई?

वे वादे खुशहाली के बोलो कहाँ गये?

वे झाग अमृत प्याली के बोलो कहाँ गये?’

समाजवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित करने में समाजवाद का सोवियत स्वरूप भारत के अनुरूप नहीं हो पा रहा था जिसके कारण नेहरूयुग से लोगों का मोहभंग बहुत द्रुतगति से हो रहा था।

नागार्जुन की एक लंबी कविता है नेहरूयुग को विश्लेषित करती हुई- “जयति जयति जय सर्वमंगला” उसमें देश की भूख, गरीबी, बेकारी, लाचारी, बीमारी सबका जिक्र है। इन त्रासदियों के बीच बाबा ने पंडित नेहरू की शांतिवादी नीति की बखिया उधेड़ी है- “शून्य सात्वना देने

वाली शांति तुम्हारी तुम्हें मुबारक” जनता की प्राणशोषिणी लेकिन कतिपय गोत्र पोषिणी इस शांति/ इस संस्कृति को” नागार्जुन का कवि बर्दाश्त नहीं कर पाता और धिक्कार की भाषा में कहता है- “नहीं श्मशानी शांति चाहिए/ नहीं वैष्णवी शांति चाहिए/ नहीं निर्गुणी शांति चाहिए/ हम इच्छुक हैं सगुण शांति के...”

आजाद देश के समाजवाद का नया रूपांतरण पूँजीवाद में देखकर कवि बेलौस कहता है- “सावधान ओ पंडित नेहरू/ पैर तुम्हारे धँसते जा रहे हैं डालर की दलदल में प्रतिपल..।” आगे कहते हैं- “बोलो पंडित, क्या नीयत है? लीला ताण्डव पंडित बनकर झूल रहे हो आसमान में/ हे अद्भुत नटराज, तुम्हारा इंद्रजाल मैं समझ न पाता/ समझ न पाता कामनवेल्थी छकड़े पर क्यों तुम सवार हो/ समझ न पाता कश्मीर में बंदर पंचों की अगवानी क्यों करते हो/ समझ न पाता, इन्द्रसिंह ने कौन बड़ा अपराध किया है/ जिसके कारण बेचारे का पीछा करती फौज तुम्हारी/ रौंद रही नेपाल समूचा/ समझ न पाता, क्यों निरीह गुखों को निशादिन/ बूचर अंग्रेजों की खिदमत में बेखटक भेज रहे हो क्वालालमपुर/ वीर मलायी जनता के वे शत्रु तुम्हारे मित्र हो गये कब से?/ सँभलो, सँभलो पंडित नेहरू, दानवदल से नाता तोड़ो/ वतन समूचा रेहन रखकर क्या पाओगे? किस मुँह से फिर गाँधी के गुण गाओगे? (नागार्जुन- चुनी हुई कविताएँ भाग-२५, पृ. ९१)

कविता की भाषा में बाबा नेहरूयुग की पड़ताल प्रश्नों और जिज्ञासाओं की आकुलता में गंभीरता से की है। समकालीन राजनीतिक घटना विकास पर उनकी पैनी नजर हर जगह दिखाई देती है। उन्होंने राजनीतिक घटना विकास को अपनी कविता का उपजीव्य बनाया है।

नेहरू को इंगित करके नागार्जुन ने उस दौर में सबसे ज्यादा कविताएँ लिखी और बिगाड़ के डर से ईमान की बात कहने से भी कभी नहीं डिगे। मांजो और मांजो, झंडा, बाकी बच गया अंडा, स्वदेशी शासक जैसी कविताएँ उनके निर्भीक कथन के दृष्टांत हैं।

महारानी एलिजाबेथ जब पहली बार भारत आई थीं तो बाबा ने बड़ी मारक कविता लिखी थी- “आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी/ यही हुई है राय जवाहर लाल की।”

‘तीस हजारी कार’ कविता में उन्होंने लिखा है- “गाँधी टोपी की किस्ती में कलयुग हुआ सवार/ पीच रोड पर मचल रही है तीस हजारी कार/ सौ का खाना एक खा रहा आती नहीं डकार/ नेहरू के इन चेलों की है लीला अपरम्पार।”

‘बताऊँ’ शीर्षक से उनकी एक छोटी सी कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए- “बताऊँ? कैसी लगती है नेहरू की विदेश वाणिज्य भक्ति? धीरोदात्त नायक की सुदुर्लभ परकीया रसोई!!”

नागार्जुन ने नेहरू युग को अपनी कविता में व्यंग्य कली धारदार शैली में चित्रित किया है। “पुरानी जूतियों के कोरस’ में उन्होंने नेहरू की ‘मेड इन पटियाला की नुकीली जूती को सामने रखकर कहा है- “मैं कोटि-कोटि की धड़कन सुनने वाली/ मैं देश दशा पर माथा धुनने वाली/ मैं पहुँच गई म्यूजियम पुरानी होकर/ मैं भावी युग की खातिर बनी धरोहर।” १९६० में लिखी यह कविता राजनीति में पनपते वंशवाद की लतरबेल को कालप्रवाह की ओर उन्मुख होते उस समय देख रही थी। नेहरूयुग के संदर्भ में बाबा की काव्य चेतना उस दौर के कवियों में सबसे अधिक प्रखर और मुखर है।

पूँजीवाद के नाश और साम्यवाद के जय के रूप में जिस आजादी को नेहरू ने परिभाषित किया था, उस आजादी से साठ के दशक के कवियों का मोह भंग बहुत तेजी से हो रहा था। जनता की आशा आकांक्षा एवं आजादी के वैषम्य को उस समय के प्रायः सभी कवियों ने अपनी कविता में मुखरित किया है। सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्व्यवस्था से पीड़ित होकर बालकृष्ण शर्मा नवीन का कवि विप्लव गान करता है- ‘कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ/ जिससे उथल पुथल मच जाए/ नियम और उपनियमों के ये बंधन टूक टूक हो जाएं/ विश्वम्भर की पोशाक वीणा के सब तार मूक हो जाएं/ शांति दण्ड टूटे— महानाश की प्रलयकारी आँख खुल जाय....।”

उस समय की इन रचनाओं को देखते हुए ही वरिष्ठ आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने साठोत्तरी कविता के यथार्थ को ‘नेहरूयुग’ के अंत के रूप में परिभाषित किया है। (समकालीन कविता का यथार्थ- पृ. १३)

नेहरूयुग की कविता में मुक्तिबोध का स्वर सबसे अलग और आधुनिक भावबोध से संपृक्त है। नेहरूयुग मध्ययुग के आरंभिक विकास एवं साहित्य में प्रगतिशील चेतना के प्रसार का युग था। देश में पूँजीवाद का आगमन ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी सत्ता के अन्तर्गत हुआ था तो यहाँ के सामंती व्यवस्था को कायम रखना चाहती थी। मध्यवर्ग का रुझान इस व्यवस्था के प्रति सहायक सिद्ध हो रहा था, लेकिन पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था से मध्यवर्गीय जीवन के तनाव उग्र हो रहे थे। इसके फलस्वरूप भारतीय मध्यवर्ग दो भागों में बँट गया। निम्नमध्यवर्ग के प्रबुद्ध लेखक शोषित और पीड़ित जनसमुदाय के साथ थे। दूसरी ओर अभिजात्य वर्गीय लेखक का मोह सत्ता और व्यवस्था से नहीं छूट रहा था। नेहरूयुग की कविता इन दोनों वर्गों के रचनाकारों की भावधारा से सिंचित है।

मुक्तिबोध इस दौर के ऐसे कवि हैं जो निम्नमध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और सामयिक जीवन के गतिमान संघर्ष के आघातों को सहते हुए कविता में सामूहिक अस्तित्व की सम्पूर्णता की खोज कर रहे थे। उनकी ‘अंधेरे में’ कविता नेहरूयुग के सिर्फ जीवन कष्टों का ही नहीं, उन कष्टों को क्रियावान वेदना में बदलने का भी साक्षी है। यहीं से जीवन को एक अर्थ में ढालने का क्रम भी शुरू हो जाता है। (दुस्समय में साहित्य- शंभुनाथ, पृ. १७९)

मुक्तिबोध का कवि अंधेरे में भी जीवन की विसंगतियों और त्रासदियों को पहचान कर कहता है- “कोशिश करो/ कोशिश करो जीने की/ जमीन में गड़कर भी।”

इस कविता में मुक्तिबोध नेता, वक्ता, लेखक, पत्रकार, कलाकार, सबकी खबर लेते हैं। और इन चेहरों में वे - “युग के उस चेहरे की तलाश करते हैं जो आज के इतिहास में मलबे के नीचे दब गया है, मगर मर नहीं गया है” (शमशेर का कथन- दुस्समय में साहित्य से उद्धृत, पृ. १८०)

नेहरूयुग में मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों की भोगवादी प्रवृत्ति को लक्ष्य कर मुक्तिबोध ने लिखा था- “बुद्धि खत्म कर/ शीश कटाकर मात्र उदर ले/ सिर्फ पेट ले मस्तकहीन/ कबंध घूमते हैं राहों पर/ बटनहोल में फूल लगाकर।”

मस्तकहीन मनुष्य की नियति चौपाये की हो जाती है। वह केवल पेट लेकर जीने में विश्वास करने लगता है। फिर अवरोधों को तोड़कर व्यक्तित्व की संभावनाओं का सारा रास्ता उसके लिए बंद हो जाता है। बटन होल में फूल नेहरूयुग का प्रतीक है तो व्यक्तिवादी चेहरों पर प्रगतिवादी मुखौटे लगाये हुए आततायी सत्ता को बेनकाब करती है।

“अंधेरे में” कविता नेहरूयुग की विशिष्ट देन है। यह कविता भारत के स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का एक धरतीकद आईना है जिसमें अमानवीय अर्थतंत्र में पिसते मनुष्य की पीड़ा और संघर्ष तथा आंतरिक द्वंद्व और उत्कट जिजीविषा का अभूतपूर्व एकीकरण हुआ है। यूँ तो मुक्तिबोध नेहरू के प्रति व्यक्तिगत रूप से बहुत सम्मान रखते थे। उनके कुछ लेख जैसे नेहरू की जर्मनी यात्रा का महत्त्व, दूनघाटी में नेहरू, समाजवादी निर्माण आदि (रचनावली भाग ६ में) संग्रहीत हैं, जिससे नेहरू के प्रति उनके आंतरिक राग और निष्ठा का बोध होता है लेकिन उसी राग भरी रोशनी में जब नेहरू युग के अंधकार को ‘अंधेरे में’ का कवि देखता और महसूसता है तो वह पड़ताल आत्मचेतस व्यक्ति की समय समीक्षा बन जाती है। मुक्तिबोध की आत्मचेतस काव्य चेतना में आत्मसंघर्ष की उद्विग्नता और जीवन यथार्थ की जटिलता के बीच कहीं से सामूहिक मुक्ति की एक राह निकल आती है।

नेहरूयुग के अंधकार में मुक्तिबोध का कविकर्म अनुभव का एक विराट जनतंत्र स्थापित करता है। उनके अंतर में जन गण का अंधेरा लगातार रूप बदलता है लेकिन कवि इस अंधकार को कोसता नहीं बल्कि ‘अंतराल विवर के तम’ को भेदने वाले उस युगपुरुष की तलाश करता है जो बार-बार उसे झलक दिखाकर ओझल होता रहता है-

इसलिए कवि कहता है- “मैं हर गली में और हर सड़क पर/ झांक झांक देखता हूँ हर एक का चेहरा/ प्रत्येक गतिविधि/ प्रत्येक चरित्र/ व हर एक आत्मा का इतिहास/ हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति/ प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श/ विवेक प्रक्रिया/ क्रियागत परिणति!!”

यह नेहरूयुग की सघन और सजीव पड़ताल है। पड़ताल की यह वाह्य और आंतरिक दृष्टि संकल्पनिष्ठ चेतना के साथ अंधेरे के विरुद्ध ‘क्रियागत परिणति’ का वरदान बनकर नेहरूयुग को आत्मपरीक्षण की एक नई रोशनी से नहला देती है।

१९६४ में नेहरू के निधन के साथ ही भारतीय लोकतंत्र के साथ-साथ साहित्य में भी एक युग की समाप्ति हो गई लेकिन मुक्तिबोध की कविता में वह पूरा युग आज भी प्रतिबिंबित है जो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को देश में कायम हुई फासिस्ट हुकूमत के कारणों और परिणामों से परिचित कराती हुई उसकी निष्क्रियता को ‘क्रियागत परिणति’ तक ले जाती है। अन्तर्बाह्य अन्वेषण और खुली दृष्टि के कारण आज भी यह सत्ता और अराजकता के विरुद्ध एक आगाज की तरह है। चूँकि राजनीति से साहित्य का गहरा संबंध होता है और राजनीति और इतिहास की गति कभी अवरुद्ध नहीं होती और मानव नियति को बहुत हद तक राजनीति ही तय करती है इसलिए मुक्तिबोध के ‘अंधेरे में’ कविता के माध्यम से आज के समय की विडम्बनाओं को खुली समझ से परखने की जरूरत है। नेहरूयुग पर लिखी गई कविताएँ राजनीति के आगे जलने वाली मशाल हैं जिसमें एक अंधेरे से निकल कर दूसरे अंधेरे में जाते हुए समय को बखूबी देखा जा सकता है और अपनी निर्णायक भूमिका की तलाश की जा सकती है।

संपर्क:

चतुर्भुज ठाकुर मार्ग, गन्नीपुर, पो.- रमना,
मुजफ्फरपुर- 842002, मो. 09431281949

प्रेमचंद: शोध की नई दिशाएँ

डॉ. कमल किशोर गोयनका

प्रेमचंद आधुनिक हिंदी साहित्य के एक ऐसे लेखक हैं तो अपनी लोकप्रियता के साथ अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान की दृष्टि से आज भी केन्द्र में हैं। प्रेमचंद पर लगभग दो सौ शोध-प्रबंधों के बावजूद नये-नये शोध की उत्सुकता बनी हुई है, जिसका प्रमुख कारण है कि प्रेमचंद के अज्ञात एवं अप्राप्य साहित्य की खोज का सिलसिला अभी टूटा नहीं है। प्रेमचंद के छोटे पुत्र अमृतराय ने सन् १९६२ में प्रेमचंद की जीवनी के साथ आठ पुस्तकें उनके अज्ञात एवं अप्राप्य साहित्य की प्रकाशित की थीं जो इतने विपुल अनुपलब्ध साहित्य को खोजने का अनोखा उदाहरण था। हिंदी संसार में इसका दिल खोलकर स्वागत हुआ और यह मान लिया गया कि प्रेमचंद का संपूर्ण प्राप्य-अप्राप्य साहित्य सामने आ चुका है, किंतु इन ग्रंथों के प्रकाशन के दो वर्ष बाद मैंने जब दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रेमचंद पर अपना शोध-कार्य शुरू किया तो मुझे धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा कि संपूर्ण साहित्य की खोज का दावा ठीक नहीं है और उनके निजी जीवन के दस्तावेजों तथा साहित्य की खोज के सिलसिले को कायम रखना होगा। इस प्रकार प्रेमचंद साहित्य पर शोध-कर्म के साथ उनके जीवन से संबंधित दस्तावेजों, पत्रों, पांडुलिपियों, फोटोग्राफों के साथ उनके अन्य लुप्त एवं अज्ञात साहित्य को भी खोजने एवं उसे समय-समय पर प्रकाशित करने का दायित्व भी जुड़ गया।

प्रेमचंद पर शोध-प्रबंध पूरा करने के बाद प्रेमचंद पर निरंतर खोज करने, अनुपलब्ध खोजे साहित्य को प्रकाशित करने तथा उसकी नई व्याख्या करने को मैंने अपने जीवन का मिशन बना लिया, परंतु यह विद्वत सभा क्या सोचेगी, मैंने अपने जीवन के पाँच दशक इस को अर्पित कर दिए। मेरे लिए प्रेमचंद की संपूर्ण मूर्ति का प्रकाशन तथा समग्रता में उसका मूल्यांकन एक बहुत बड़ा काम है और उसे एक जीवन दिया जा सकता है। मेरे इस शोध-कर्म ने प्रेमचंद के संबंध में इन तीन दिशाओं को खोला—

१. उनके जीवन के दस्तावेजों की खोज और उनके अज्ञात तथ्यों का प्रकाशन
२. हिंदी-उर्दू की अज्ञात एवं दुर्लभ रचनाओं को खोजना एवं प्रकाशित करना।
३. प्रेमचंद के विचार पक्ष का तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर मूल्यांकन और दुराग्राही आलोचना से मुक्त करना।

मैं सबसे पहले उनके जीवन को लेता हूँ। प्रेमचंद के पुत्र अमृतराय ने अपने पिता की जीवनी संग्रह 'प्रेमचंद: कलम का सिपाही' के नाम से लिखी थी और मदन गोपाल ने अंग्रेजी में 'मुंशी प्रेमचंद' तथा हिंदी में 'कलम का मजदूर' शीर्षक से लिखी थी। मैंने प्रेमचंद की जीवनी कालक्रम से तथा शोधात्मक रूप में लिखी थी जो सन् १९८१ में 'प्रेमचंद विश्वकोश' के प्रथम खंड 'जीवनी' के नाम से छपी थी। मुझे उनके जीवन के कुछ ऐसे मूल दस्तावेज मिले जिनके आधार पर नए सिरे से उनका जीवन लिखना आवश्यक हो गया। उनके परीक्षाओं के प्रमाण-पत्र, सर्विस बुक, पत्र, बैंक की पासबुके, डायरी आदि के सैकड़ों दस्तावेज मुझे खोज में मिले जिनमें उनके जीवन के अनेक अज्ञात प्रसंगों, घटनाओं तथा स्थितियों की कहानी छिपी थी और जिनका उल्लेख उनके पुत्र अमृतराय तक ने उनकी जीवनी में नहीं किया था। मैं यहाँ कुछ उल्लेख करूँगा जिससे उनके जीवन के अज्ञात तथ्यों की जानकारी मिल सके:-

१) आपने पढ़ा है कि प्रेमचंद गरीबी में पैदा हुए गरीबी में जीये और गरीबी में मर गए। यहाँ तक कि उनके पास कफन तक के पैसे नहीं थे, किंतु सत्य इसके विपरीत है। उनकी सर्विस बुक उनके वेतन की कहानी कहती है। सन् १९०० में उनका वेतन २० रुपये मासिक था और १९२१ में १०० रुपये मासिक तथा १९३४ में बम्बई में ८०० रुपये मासिक था। उनकी कहानियाँ हिंदी-उर्दू दोनों में छपती थीं, दोनों से लगभग २० रुपये कहानी का मिलता था। 'रंगभूमि' छपा तो सन् १९२४ में १८०० रुपये एडवांस मिला, सन् १९३६ में दिल्ली रेडियो स्टेशन पर कहानी का पाठ किया तो १०० रुपये मिले। ये १०० रुपये आज की मुद्रा में डेढ़ लाख रुपये होते हैं। उन्होंने पुत्री के विवाह में सन् १९२९ में ७००० रुपये खर्च किए जो आज लाखों रुपये होते हैं। उनकी बैंक की पासबुक मृत्यु से १४ दिन पहले का बेलेंस बताती है, जो ४४७१ रुपये हैं तथा दूसरे बैंक में ३०० रुपये बचे हैं। वे सारे तथ्य दस्तावेजों के आधार पर हैं। उनके उद्घाटन से हिंदी समाज में बड़ी हलचल हुई, किसी ने आलोचना की और किसी ने प्रशंसा, किंतु कोई भी आलोचक

दस्तावेजों को झूठा कहने का साहस नहीं कर पाया। हमारे प्रगतिशील आलोचक तो बौखला गए और अभद्र भाषा तक उतर आए। असल में सवाल मुझसे नहीं, अमृतराय से करना चाहिए था कि उन्होंने अपनी जीवनी में प्रेमचंद के आर्थिक जीवन के इन पक्षों को क्यों छिपाया।

२) प्रेमचंद ने अपनी पुत्री कमलादेवी का विवाह सन् १९२९ में किया था उनके समधी के पत्रों से स्पष्ट है कि उन्होंने पुत्री के विवाह में दहेज दिया था और विवाहोपरांत पुत्री की बीमारी पर पं. रामदास गौड़ से भूत-प्रेत को शांत करने के लिए यज्ञ करवाया था।

३) प्रेमचंद की एक प्रेस थी- सरस्वती प्रेस। इसके मैनेजर थे प्रवासी लाल वर्मा 'मालवीय'। वे सन् १९२८ से १९३५ तक प्रेस में रहे और प्रेमचंद ने उन्हें गबन के आरोप में निकाल दिया। 'मालवीय' ने मामला महात्मा गांधी तक भेजा किंतु कुछ समय बाद प्रेमचंद का देहांत हो गया। मुझे 'मालवीय' जी से लगभग २८ मूल-पत्र मिले जो प्रेमचंद ने उन्हें लिखे थे। इन पत्रों में प्रेमचंद का पक्ष कमजोर बनता है। अमृतराय की जीवनी में प्रवासीलाल वर्मा का उल्लेख तक नहीं है, जबकि वे इलाहाबाद में अमृतराय के पास ही रहते थे।

४) सरस्वती प्रेस में ३-४ सितंबर, १९३४ में हड़ताल हुई तो प्रेमचंद ने मैनेजर को हिदायतें दीं और 'भारत' के दिए अपने स्पष्टीकरण में लिखा कि मैं खुद मजदूर हूँ, मजदूरों का दोस्त हूँ, किंतु कर्मचारियों द्वारा एक्सप्लोइड हो रहा हूँ।

५) प्रेमचंद ने मार्च, १९३० से 'हंस' का प्रकाशन शुरू किया था, किंतु निरंतर घाटे के कारण उन्होंने उसे महात्मा गाँधी को सौंप दिया था। प्रेमचंद ने 'हंस' इस शर्त पर दिया था कि वह उनकी प्रेस में छपेगा और वे प्रेस के घाटे से बचे रहेंगे, किंतु ४ जुलाई, १९३६ को वर्धा में हुई 'हंस लिमिटेड' की बैठक में तय हुआ कि 'हंस' सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली से छपेगा और इस प्रकार ५० रुपये मासिक की बचत होगी। प्रेमचंद ने इस फैसले के बाद 'हंस' के संपादक पद से इस्तीफा दे दिया, किंतु महात्मा गांधी को, सेठ गोविंददास के नाटक 'सिद्धांत स्वातंत्र्य' के

‘हंस’ में छपने पर उसे बंद करना पड़ा। प्रेमचंद ने बीमारी की दशा में सरकारी खजाने में एक हजार जमा कराए और ‘हंस’ को हाथ में ले लिया और उनकी जीवितावस्था में ‘हंस’ का सितंबर अंक प्रकाशित हुआ और ८ अक्टूबर को उनका देहांत हो गया।

६) प्रेमचंद के जीवन की एक और घटना का उल्लेख करूँगा। प्रेमचंद के देहांत का जो वर्णन अमृतराय ने ‘कलम का सिपाही’ में किया है उसमें वास्तविक तथ्यों की उपेक्षा हुई है। अमृतराय ने लिखा है कि बिरादरी के बीस-पच्चीस लोग ही उनके अंतिम संस्कार में उपस्थित थे, और कोई साहित्यकार नहीं था, जबकि सत्य यह है कि बनारस के कई साहित्यकार वहाँ उपस्थित थे। उनमें जयशंकर प्रसाद, राय कृष्णदास, परिपूर्णानंद वर्मा आदि का प्रमाण मिलता है। परिपूर्णानंद वर्मा का एक संस्मरण मिलता है जिसमें शव-यात्रा एवं अंतिम संस्कार का वर्णन है। ये वर्मा प्रेमचंद के रिश्तेदार थे और अमृतराय इनसे बखूबी परिचित थे, किंतु उन्होंने उपलब्ध तथ्यों तक का उपयोग नहीं किया।

प्रेमचंद के जीवन के ये कुछ पक्ष हैं तो मेरे शोध-कर्म से सामने आये हैं और इनका आधार मूल दस्तावेज रहे हैं। अतः इन्हें चुनौती नहीं दी जा सकती, लेकिन प्रेमचंद के जीवनीकारों- अमृतराय तथा मदन गोपाल आदि से यह पूछा जाना चाहिए था कि इन प्रसंगों को उनकी जीवनी में क्यों नहीं दिखाया ? यदि ये उनके जीवन के अप्रिय प्रसंग थे तब भी जीवनी में इन्हें स्थान मिलना चाहिए था। प्रेमचंद के साहित्य की खोज का कार्य अमृतराय ने अप्राप्य एवं दुर्लभ रचनाओं को आठ पुस्तकों में प्रकाशित कराकर इतनी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था कि कुछ और अप्राप्य रचनाओं के प्राप्त होने की कोई आशा बची नहीं थी, लेकिन मेरी जिज्ञासा तथा आशा-संभावना बनी हुई थी और इसके लिए वर्षों तक हिंदी-उर्दू पत्रिकाओं को खोजना एवं देखना तथा प्रेमचंद के समकालीन लेखकों से संपर्क करना आवश्यक था। मेरे पास कुछ ऐसे संकेत भी थे जिनसे कुछ अनुपलब्ध रचनाओं के मिलने की आशा बनी हुई थी। इस खोज में मैंने अपने जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा व्यतीत किया और सैकड़ों घंटों तक पुरानी लाइब्रेरियों की खाक छानी, अनेक लेखकों से संपर्क किया और एक-के-बाद एक अज्ञात

दुर्लभ रचनाएँ सामने आने लगीं। मेरे पास लगभग २५ वर्ष में प्रेमचंद की रचनाओं का जो संग्रह हुआ, उसमें ३१ कहानियाँ १२२ पुस्तक समीक्षा, १४७ पत्र एवं १७४ प्रेमचंद को लिखे गए पत्र, २७ भूमिकाएँ तथा ९० लेख हैं तथा दस्तावेजों में अनुबंध-पत्र, इंटरव्यू, डायरी रचनाओं की अंग्रेजी में लिखी रूपरेखाएँ, सेवा पुस्तक आदि के साथ अनेक फोटोग्राफों का संग्रह है। इन सब का संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ ने सन् १९८८ में ‘प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य’ (दो खंड) नाम से प्रकाशित किया जो लगभग १२०० पृष्ठों में है। इसका दूसरा संस्करण इसी वर्ष वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से हुआ है और लगभग १०० पृष्ठों की और नई सामग्री जोड़ी गई है। प्रेमचंद की लुप्त रचनाओं को खोजने का यह सिलसिला अभी चलना है, क्योंकि कुछ रचनाएँ अभी ऐसी हैं जिनकी जानकारी है किंतु पकड़ में नहीं आई हैं।

इस अप्राप्य सामग्री के मिलने से प्रेमचंद के साहित्य के संबंध में अनेक नई जानकारियाँ मिलती हैं। मैं यहाँ कुछ का ही उल्लेख करूँगा क्योंकि विस्तार में जाने का समय नहीं है। मैं समझता हूँ, ये जानकारियाँ आप तक पहली बार पहुँच रही हैं। प्रेमचंद के कुछ उपन्यासों, कहानियों तथा लेखों की लेखन पूर्व रूपरेखाएँ अंग्रेजी भाषा में मिलती हैं। ‘गो-दान’ तक की रूपरेखा उपलब्ध है जो अंग्रेजी में है और कुछ बिंदुओं, प्रसंगों आदि की रूप-रचना बदल दी है। प्रेमचंद रूपरेखा में गो-दान होरी के गोबर से कराते हैं जबकि उपन्यास में धनिया बीस आने से गो-दान करती है। इन रूपरेखाओं से उनकी सृजन-प्रक्रिया के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। ‘गो-दान’ की पाँडुलिपि के दो ड्राफ्ट मेरे पास हैं जिन पर अभी काम होना है। प्रेमचंद की ३१ नई कहानियों में तथा कुछ अन्य कहानियों में कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिनसे हिंदी संसार प्रायः अपरिचित रहा है। उनकी उर्दू कहानी ‘दोनों तरु से’ जो मार्च, १९११ में प्रकाशित हुई थी, महात्मा गाँधी के भारतीय रंगमंच पर आने से पहले ही वे इस कहानी में दलितों के उत्थान की कथा रच रहे थे, जबकि हमारे आलोचक मानते हैं कि गाँधी के प्रभाव के कारण उन्होंने दलितों की समस्याओं की ओर ध्यान दिया था। प्रेमचंद ने सन् १९२९ में ‘गमी’ कहानी

लिखी थी जो जनसंख्या के नियंत्रण पर थी। उस समय अविभाजित भारत की जनसंख्या लगभग ३० करोड़ थी, आज १३० करोड़ है पर कोई लेखक इस विषय पर कहानी नहीं लिखता। प्रेमचंद ने सन् १९२९ में 'जिहाद' कहानी लिखी जो आज के धार्मिक जिहाद की याद दिलाती है। उन्होंने भारत से गए गिरमिटिया मजदूरों पर 'शुद्रा' कहानी लिखी जो 'चाँद' पत्रिका के प्रवासी अंक में छपी और मॉरिशस में होने वाले अत्याचारों को पाठकों तक पहुँचाया। उनकी कहानी 'कैदी' भी यहाँ उल्लेखनीय है जो उन्होंने रूस के क्रांतिकारी लेनिन के कारागारों पर लिखी है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका के रूप में दो कारागार जार के गवर्नर को मारने के प्रसंग में एक-दूसरे को धोखा देते हैं और प्रेमिका गवर्नर से शादी कर लेती है। प्रेमचंद जिस दृष्टि से रूसी कारागारों को देख रहे थे, इसकी चर्चा कभी नहीं की गई। एक और कहानी है 'खेल' यह सन् १९३१ में उर्दू में छपी थी। यह गाँव के छोटे-छोटे बच्चों की कहानी है जिसमें खेल और जीवन एक-दूसरे के पर्याय हो गये हैं। आपने उनकी 'ईदगाह' कहानी पढ़ी होगी, विख्यात कहानी है उनकी, इसमें हमिद की संवेदनाओं तथा विवेक का सौंदर्य है, लेकिन 'खेल' में गाँव के बच्चे खेल-खेल में बाल-जीवन को साकार कर देते हैं। उनकी 'बालक' कहानी भी ऐसे प्रेमचंद की है जिसे संभवतः आप नहीं जानते। इस कहानी का नायक जो अपढ़ ब्राह्मण है, अपनी पत्नी के नवजात बच्चे को जिसका पिता कोई दूसरा व्यक्ति है, इस तर्क से अपनी संतान मानता है, "यह बच्चा मेरा बच्चा है। मेरा अपना बच्चा है। मैंने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था।" प्रेमचंद की यह मानवीय नैतिकता उतनी ऊँचाई तक पहुँचती है जिसकी उस युग में कल्पना नहीं की जा सकती थी। मैं एक और कहानी 'रंगीले बाबू' की चर्चा करूँगा जो १९३३ की है। इस कहानी का नायक ईश्वर की सत्ता को ललकारता है और वह अपने जीवन में आये भयंकरतम तथा क्रूरतम दुःख में भी अपने रंगीलेपन और बाँकपन को बनाये रखता है। वह अपने मृत दुल्हा बने पुत्र की अर्थी की बारात निकालता है और इसे विवाह का उत्सव कहता है तथा हमारे लिए जीवन ही सत्य

है, शेष सब मिथ्या है। आप 'कफ़न' कहानी में घीसू-माधव को कफ़न के पैसों से शराब पीते और मदमस्त होकर 'ठगिनी! क्यों नैना झमकावै' गाते-नाचते और अचेत होते देखते हैं तो मृत्यु की अपेक्षा जीवन ही सत्य प्रतीत होता है। ये दोनों पात्र अपने तर्कों से अपने आप पाप-कर्म को दबाकर अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसा पूरी करते हैं। यद्यपि उनकी यह आनंदानुभूति अल्पावधि की है, परंतु वे उनके जीवन के सर्वोत्तम क्षण हैं। अतः 'कफ़न' मौत की नहीं जिंदगी की कहानी है।

मैंने यहाँ कुछ ही उदाहरण रखे हैं जिनसे हिंदी संसार प्रायः अपरिचित ही रहा है और मेरा कहना है कि 'ठाकुर का कुआँ', 'पूस की रात', 'सद्गति', 'कफ़न', आदि कहानियों को बार-बार चर्चा के केन्द्र में लाकर प्रेमचंद के इस वैविध्यपूर्ण संवेदनात्मक संसार की दृष्टि से ओझल कर दिया गया है। आप प्रेमचंद को तीन या तेरह कहानियों से तथा उन्हें एक छोटे से कटघरे में बाँधकर उनकी सम्पूर्ण रचनात्मकता के सौंदर्य की कैसे अनुभूति कर सकते हैं? प्रेमचंद के संदर्भ में आलोचकों के इस आधे-अधूरे मूल्यांकन और प्रस्तुतीकरण को अस्वीकार करते हुए उनके व्यापक वाङ्मय और सैकड़ों पात्रों के साथ-साथ चलना होगा और उन्हें संपूर्ण रूप से समझकर ही निष्कर्ष तक पहुँचना होगा।

प्रेमचंद के शोध की तीसरी दिशा है- उनका विचार पक्ष जो प्रेमचंद आलोचना में इतनी बार चर्चा में रहा है कि किसी नई व्याख्या के सामने आने पर आलोचकों का आक्रमण शुरू हो जाता है। प्रेमचंद को विशेषतः दो विचारधाराओं से देखने तथा समझने की प्रवृत्ति रही है- एक, गाँधीवादी तथा दूसरा समाजवाद। प्रेमचंद की जीवितावस्था में उनके समकालीन आलोचकों ने प्रायः उनकी रचनाओं को गांधी के स्वराज्य आंदोलन के संदर्भ में देखा और स्वाधीनता के बाद रामदीन गुप्त की पुस्तक 'प्रेमचंद और गांधीवाद' ने उनकी गांधीवादी चेतना को और अधिक महत्त्व मिला, किंतु 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन को आधार बनाकर तथा डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की सहमति के बाद अपनी प्रेमचंद पर लिखी दूसरी पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' से उन्हें समाजवादी घोषित करके एक वैचारिक आंदोलन ही शुरू कर दिया।

‘प्रगतिशील लेखक संघ’ से जुड़े लेखकों, प्रोफेसरों आदि का देश में एक-विचार समूह बन गया और पाठ्य-पुस्तकों, आलोचनात्मक ग्रंथों, संगोष्ठी और बहसों में बस प्रेमचंद की मार्क्सवादी चेतना एवं समाजवाद को उनकी प्रमुख विचारधारा के रूप में स्थापित किया जाता। मेरे लिए यह एक चुनौती थी और मुझे इस मत की सत्यता एवं प्रमाणों को खोजना था। प्रेमचंद के साहित्य में इन दोनों ही विचारों के सूत्र मिलते हैं, जिनके इतिहास को हमें देखना होगा। रूस के मार्क्सवाद से उनका परिचय गांधी के बाद में हुआ था। गांधी १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से भारत आ गये थे और १९१६ में प्रेमचंद ने ‘कर्मवीर गांधी’ की भूमिका लिखी थी। गांधी के असहयोग आंदोलन पर उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और आंदोलन पर कहानियाँ और ‘प्रेमाश्रम’ एवं ‘रंगभूमि’ जैसे उपन्यास लिखे। उनकी पत्नी शिवरानी पिकेटिंग में जेल गई और प्रेमचंद ने गांधी-इर्विन पैकट का समर्थन किया और बहिष्कार आंदोलन पर कहानियाँ और उपन्यास लिखे। गांधी का वे स्वयं को ‘चेला’ मानते थे और उन्हें स्वाधीनता के ‘जीते जागते अवतार’ कहते थे। उन्होंने अपने लेखों, टिप्पणियों में गांधी बार-बार प्रशंसा की है और उनकी अहिंसा, सत्य, न्याय, धर्म, रामराज्य, ट्रस्टीशिप, ग्राम चेतना तथा पश्चिमी सभ्यता के विरोध का समर्थन किया है।

समाजवाद के समर्थन और विरोध में उनके सन् १९१९ से मिलते हैं, परंतु इनके समर्थन में कम और विरोध में ज्यादा हैं। रूस में वोल्शेविक क्रांति अक्टूबर, १९१७ में हुई थी, किंतु प्रेमचंद फरवरी, १९१९ में छपे अपने लेख ‘नया जमाना: पुराना जमाना’ में रूस की नई सभ्यता की चर्चा करते हैं और कुछ के समर्थन के बाद लिखते हैं कि मैं करीब-करीब वोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ, लेकिन इसके बाद प्रकाशित उपन्यास ‘प्रेमाश्रम’ और ‘रंगभूमि’ में वे गांधी के दर्शन को प्रमुखता देते हैं और उसे अपने प्रतिपाद्य का अंग बनाते हैं। प्रेमचंद इसके बाद रूस की समाजवादी व्यवस्था और उसकी रीति-नीति की आलोचना करते चलते हैं। वह ‘स्वदेश’ में १८ मार्च, १९२८ को लिखते हैं कि साम्यवाद में पूँजीवाद की विषमता, अन्याय और स्वार्थपरता अणु मात्र भी कम नहीं होगी बल्कि उससे

भी भयंकर होने की संभावना है। उन्होंने २२ मई, १९३३ में लिखा कि रूस भी ‘विचार का साम्राज्य’ चाहता है और मानते हैं कि वे भ्रम में थे कि रूस ने पूँजीवाद पर विजय प्राप्त करके नई समाज व्यवस्था कायम कर ली है। प्रेमचंद इसी समय यह भी भविष्यवाणी करते हैं कि रूस में जनता शासन के प्रजा विरोधी होने पर उसे बदल देगी। इसी कारण वे अंतिम वर्षों में बार-बार कहते हैं कि वह लाल क्रांति नहीं चाहते, श्रेणियों में संग्राम नहीं चाहते, क्योंकि क्रांति बुरी डिक्टेटरशिप में पहुँचा सकती है। हमारे प्रगतिशील आलोचक ‘प्रगतिशील लेखक संघ’ के प्रथम अधिवेशन में १० अप्रैल, १९३६ को दिये गए व्याख्यान को प्रायः उद्धृत करते हैं और उसे प्रेमचंद की समाजवादी मान्यताओं की स्वीकृति के रूप में प्रस्तुत करते हैं, लेकिन इसमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो समाजवादी दर्शन की स्थापना करता हो। प्रेमचंद इस व्याख्यान में ‘प्रगतिशील’ शब्द को ही निरर्थक कहते हैं और ‘आध्यात्मिक आनंद’, ‘आध्यात्मिक संतोष’ आदि की बार-बार चर्चा करते हैं और ‘मन का संस्कार’ को साहित्य का लक्ष्य मानते हैं। डॉ. नामवर सिंह, डॉ. शिवकुमार मिश्र जैसे मार्क्सवादी आलोचक मानते हैं कि प्रेमचंद को समाजवाद का शास्त्रवत तथा संगत ज्ञान नहीं था, लेकिन यह उनका बचाव का तर्क है। उन्होंने १९२५ के एक लेख में मार्क्स का उल्लेख किया है, लेकिन भाई-चारा एवं समता का श्रेय हजरत मुहम्मद को देते हैं। उनके लेखों में जार, लेनिन, स्टालिन, वर्ग-संघर्ष क्रांति, सर्वहारा आदि की बराबर चर्चा मिलती है, अतः उन्होंने मार्क्स के समाजवादी दर्शन की पूरी जानकारी के बाद उसे अस्वीकार कर दिया था।

अंत में, प्रेमचंद की विचारधारा के निर्धारण में उनके इन लक्ष्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रेमचंद ने लिखा है कि उनके लेखन के दो उद्देश्य हैं— स्वराज्य की प्राप्ति और भारतीय आत्मा की रक्षा। यह दोनों परस्पर संबद्ध हैं। स्वराज्य मिलेगा तो भारतीय आत्मा के साथ साहित्य-दर्शन ‘आदर्शोन्मुख यथार्थवाद’ से जुड़ा है। इसमें जो आदर्श है वह भारतीय आत्मा का ही प्रतीक है। प्रेमचंद साहित्य की विराटता और विविधता में भारतीयता के दर्शन होते हैं। भारतीय आत्मा की खोज और उसकी रक्षा उस

युग का धर्म था। इसी भारतीय आत्मा को गांधी 'हिंद स्वराज्य' में, मैथिलीशरण गुप्त 'भारत-भारती' में, प्रेमचंद 'सोजेवतन' में तथा जवाहरलाल नेहरू 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में तलाश रहे थे। अतः प्रेमचंद को इस भारतीयता का लेखक कहना मुझे सार्थक लगता है। प्रेमचंद की भारतीयता में जो भारतीय आत्मा है वह अनेक रूपात्मक है और उसके अंग हैं- राष्ट्र प्रेम, स्वराज्य, सांस्कृतिक एवं मूल्यवादी उत्कर्ष, इतिहास की श्रेष्ठता, सामाजिक जागरण और सामरस्य एवं एकता, गांधी के सत्य-अहिंसा-धर्म और न्याय, दलित-पीड़ित-शोषित की मुक्ति तथा समतामूलक जीवन, धर्म एवं धन के अतिचारों का विरोध, मनुष्य का देवत्व तक उत्कर्ष, आदर्श जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा, सांप्रदायिक समरसता आदि। प्रेमचंद की यह भारतीयता भारत राष्ट्र की समग्र चेतना है और समग्र राष्ट्र जीवन का आधार है। इस भारतीयता में वर्जना और ग्रहणशीलता, यथार्थ और आदर्श दोनों हैं। केवल यथार्थवाद के आधार पर प्रेमचंद की भारतीयता की कल्पना अधूरी

है। इसमें तुलसीदास का यह भाव समाहित है- 'मंगल भवन अमंगल हारि'। प्रेमचंद ने कहा था कि वे उपन्यास और कहानी के योरोपीय कलेवर पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं। यही कारण है कि उनकी भारतीयता में हिंदूवाद, राष्ट्रवाद, गांधीवाद, मानववाद, साम्यवाद आदि सभी किसी-न-किसी रूप तथा मात्रा में समाविष्ट हैं। इसमें से कोई भी एक विचारधारा प्रेमचंद के विराट औपन्यासिक संसार को प्रकट करने का दावा नहीं कर सकती, इसीलिए वे भारतीय आत्मा के शिल्पी हैं। इसी कारण प्रेमचंद वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, कबीर आदि की परंपरा में आते हैं और उनके समान ही कालत्रयी बनते हैं। भारतीय साहित्य तथा भारतीयता के गायनों एवं कथाकारों का यही सत्य है। भारत की समग्र अस्मिता, आत्म-बोध एवं समग्र विवेक चेतना को वाणी देने वाला साहित्यकार ही भारत के लोकमानस का हृदय-सम्राट बन सकता है।

संपर्क : ए/98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली- 110052

प्रेमचंद और आलोचना की चुनौतियाँ

डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी

आचार्य, हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

इस समय आलोचना जिस संकट में है उसमें नए-पुराने दोनों ही किस्म के समालोचकों के पास जाने की जरूरत है। आलोचना के संकटग्रस्त होने की अवस्था में पुराने आलोचक और सिद्धांत ज्यादा मदद करते हैं। हिंदी में नया संकट दो स्तर पर है। पहला संकट यथार्थबोध के अभाव से पैदा हुआ है। जबकि दूसरा संकट अर्थ-निर्णय के सवालों से जुड़ा है। इस संकट की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति देखनी हो तो नामवर सिंह के नजरिये में देख सकते हैं। मेरे सामने उनकी किताब 'प्रेमचंद और भारतीय समाज' (२०१०) है। इस निबंध में उन्होंने प्रेमचंद को प्रगतिशील लेखक करार दिया है। नामवर सिंह ने लिखा है, 'प्रेमचंद ने सन् १९३० के आसपास एलानिया तौर पर कहा था कि वे जो कुछ लिख रहे हैं वह स्वराज्य के लिए, उपनिवेशवादी शासन से भारत को मुक्त कराने के लिए लिख रहे हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि केवल जॉन की जगह गोविन्द को बैठा देना ही स्वराज्य नहीं है, बल्कि सामाजिक स्वाधीनता भी होना चाहिए। सामाजिक स्वाधीनता से उनका तात्पर्य संप्रदायवाद, जातिवाद, छूआछूत से मुक्ति के साथ-साथ स्त्रियों की स्वाधीनता से भी था। (पृ. १५)

इस प्रसंग में मूल सवाल उठता है कि लंदन में बैठे लेखक पहले प्रगतिशील लेखक हैं या प्रेमचंद? लंदन में बैठे युवा लेखकों ने पहली बार प्रगतिशील साहित्य का सपना देखा। प्रगतिशील लेखक संघ की वैचारिक बुनियाद उन्हीं लेखकों ने डाली, फिर उनको पहले लेखक की पंक्ति में रखने की बजाय नामवरजी ने प्रेमचंद को हिंदी का पहला प्रगतिशील लेखक क्यों कहा? इसके अलावा नामवरजी ने यह भी लिखा है, 'यद्यपि लोग उन्हें गांधीवादी कहते हैं, लेकिन वे गांधी से दो कदम आगे बढ़कर आंदोलन और क्रांति की बात करते हैं। प्रेमचंद अपने जमाने के साहित्यकारों से ज्यादा बुनियादी परिवर्तन की बात करते हैं।' यानी उनके नजरिए का एक नया पहलू है आंदोलन और क्रांति से साहित्य को जोड़कर देखना। इसके अलावा नामवरजी ने यह भी रेखांकित किया कि सांप्रदायिक सद्भाव और धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई लड़ना भी प्रगतिशील दृष्टिकोण का मुख्य पहलू है। नामवर जी के प्रेमचंद संबंधी मूल्यांकन में कहीं-कहीं अतिरेक भी है जो कि संतुलन की मांग करता है। मसलन, एक जगह वे लिखते हैं, 'जब गांधी जी ने भारत की राजनीति में प्रवेश किया और उन्होंने स्वाधीनता संग्राम में गाँवों की करोड़ों जनता का भाग लेने के लिए आह्वान किया। प्रेमचंद पहले साहित्यकार हैं जिन्होंने भारत की इस नई राष्ट्रीय चेतना को अपने साहित्य में वाणी दी।' (पृ. १९) यह जो प्रेमचंद को पहला साहित्यकार बनाने का संकल्प नामवरजी के निबंधों में बार-बार व्यक्त हो रहा है यह मूलतः अतिरेक है। यह आलोचना में गैर-जरूरी तत्त्व है। यहाँ हम नामवरजी द्वारा प्रेमचंद के मूल्यांकन के प्रसंग में उठाए गए कुछ प्रमुख सवालों पर विचार करेंगे।

प्रेमचंद हिंदी में नयी सभ्यता और आधुनिक संस्कृति के सबसे जागरूक लेखकों में अग्रणी हैं। प्रेमचंद के विचारों में जो ऊर्जा है, प्रेरणा है और ताजगी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज के भारत की अनसुलझी बुनियादी समस्याओं के समाधान प्रेमचंद के विचारों में खोजे जा सकते हैं। आज भारत में अनेक ज्वलंत समस्याएँ हैं। इनमें से कुछ समस्याएँ संस्कृति की हैं तो कुछ राजनीतिक क्षेत्र की हैं तो कुछ समस्याएँ सामाजिक हैं। अधिक बुद्धिजीवियों की मुश्किल यह है कि वे अपने पूर्वजों से प्रेरणा लेने की बजाय उनकी पूजा करते हैं या एकदम अस्वीकार करते हैं या उपेक्षा करते हैं। प्रेमचंद उन लेखकों में से एक हैं जिनका प्रतिक्रियावादी विचारक, राजनीतिक दल एवं संस्थाएँ अपने लिए इस्तेमाल नहीं कर पातीं।

प्रेमचंद के पाठ और विचारों की यह विशेषता है कि उसका संरचनावादी, रूपवादी, उत्तर संरचनावादी, उत्तर

आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से सही मूल्यांकन संभव नहीं है। प्रेमचंद की खूबी है कि उनके विचारों में निश्चित दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। अनिश्चित या अस्पष्ट नजरिए का निषेध उनके नजरिए की विशेषता है। अनिश्चितता और अस्पष्टता की सैद्धांतिक संरचनाओं का निषेध करते हुए सुनिश्चित धारणाओं का समग्रता में निर्माण साहित्य-संस्कृति की दीर्घकालीन और तात्कालिक समस्याओं के समाधान में पग-पग पर हमारी मदद करता है। यही वजह है प्रेमचंद जितनी बार पढ़े जाते हैं उतनी ही बार कुछ न कुछ नया मिलता है। नवीन से नवीन समस्या का वे नया समाधान पेश करते हैं। आज के भारत की क्रमशः सबसे ज्वलंत समस्याएँ हैं गरीबी, धार्मिकता, स्त्रियों के समान अधिकार, सांप्रदायिकता, संस्कृति, जातीयता, जातिप्रथा आदि।

गाँव के गरीबों की समस्या प्रेमचंद के लेखन की धुरी है। गरीबों को उनकी पामाली से मुक्त करने का सपना उनके साहित्य का मुख्य लक्ष्य है। गरीबों को गरीबी से मुक्ति दिलाने में बुर्जुआजी या वर्चस्वशाली वर्ग सफल होगा, इस पर प्रेमचंद को संदेह था। प्रेमचंद का पाठ वस्तुतः गरीब, दरिद्र और वंचितों का पाठ है। इस पाठ को पढ़ने के लिए गरीबी से मुक्ति का दर्शन चाहिए, विचारधारा चाहिए। उत्तरआधुनिकतावादियों और आधुनिकतावादियों की मुश्किल यह है कि उनके पास दरिद्रता से मुक्ति का कोई दर्शन नहीं है, बल्कि सैद्धांतिक तौर पर उन्होंने दरिद्रता से मुक्ति दिलाने वाले दृष्टिकोण और विचारधारा का विरोध किया है। यही बुनियादी वजह है कि प्रेमचंद जैसे बड़े लेकर इस तरह के सिद्धांतकारों के मूल्यांकन के केन्द्र में नहीं हैं। दिलचस्प है कि उत्तर आधुनिकता और आधुनिकतावादी चिंतन का ढोल पीटने वालों ने अभी तक गरीबी से मुक्ति का कोई फार्मूला तक नहीं सुझाया। गरीबी से मुक्ति का दर्शन तो बहुत दूर की बात है।

गरीबी हमारे गाँव की कठोर वास्तविकता है, वही हमारे समाज की अनेक समस्याओं की जननी है। गरीबों को हम जितने करीब से जानते हैं, गहराई में जाकर उसका अध्ययन करते हैं, संवेदनात्मक धरातल पर जाकर महसूस करते हैं उतने ही ज्यादा हमारे मन में उससे मुक्ति के लिए बेचैनी पैदा होती है। उससे मुक्ति के प्रयत्नों की तरफ

मुखातिब होने की ललक पैदा होती है।

प्रेमचंद के नजरिए की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है कि उन्होंने 'व्यवस्था' की समग्रता में मूल्यांकन और चित्रण किया है। उससे भविष्य का रास्ता खोजने में मदद मिलती है, समस्याओं और अन्तर्विरोधों को देखने में मदद मिलती है। 'व्यवस्था' उनके लिए एक वर्गीय संरचना है। जीवन मूल्यों के उत्पादन और पुनरुत्पादन का स्रोत है। जबकि उत्तर-आधुनिकतावादियों और आधुनिकतावादियों के यहाँ 'व्यवस्था' के बारे में चमत्कृत भाषा में व्याख्याएँ तो हैं, लेकिन 'व्यवस्था' का कोई समग्र और सुसंगत विश्लेषण नहीं मिलता। वे यह भी बताने में असमर्थ हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था या पूर्व-पूँजीवादी व्यवस्था में कोई फिनोमिना किसी खास समय पर ही क्यों पैदा हुआ? उस फिनोमिना में निहित अंतर्विरोधों को कैसे हल करें? आदि सवालों के उनके पास कोई समाधान नहीं है। इसके विपरीत प्रेमचंद 'व्यवस्था' के गर्भ से पैदा होने वाले फिनोमिना का मूल्यांकन करते हैं, उसके बुनियादी अन्तर्विरोधों पर प्रकाश डालते हैं और इस प्रक्रिया में पैदा होने वाले मूल्यों और उनके सर्जक भोक्ता वर्गों की मीमांसा भी करते हैं।

इतिहास दृष्टि : हिंदी साहित्य के दो महत्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ हैं, रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' और हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित 'हिंदी साहित्य की भूमिका'। सवाल यह है कि शुक्ल जी और द्विवेदी जी ने प्रेमचंद की उपेक्षा करके क्रमशः तुलसीदास और कबीर को इतिहासदृष्टि का आधार क्यों बनाया? शुक्ल जी ने छायावाद से 'कल्पना' और द्विवेदी जी ने प्रगतिशील आंदोलन से 'विचारधारा' को ग्रहण करते हुए अपनी इतिहास दृष्टि का निर्माण किया। आज ये दोनों ही तत्त्व अप्रासंगिक हैं। मजेदार बात यह है कि उस समय भी ये दोनों तत्त्व प्रेमचंद के सामने बौने थे। ऐसी अवस्था में प्रेमचंद को इतिहास दृष्टि का आधार न बनाकर तुलसी और कबीर के आधार पर हिंदी को कैसी इतिहास दृष्टि मिली? क्या इससे मध्यकालीन बोध पुख्ता हुआ या कमजोर हुआ? छायावाद और प्रगतिशील आंदोलन अब इतिहास की चीज हैं। किंतु प्रेमचंद नहीं हैं।

सवाल यह भी कि हिंदी के आलोचकगण प्रेमचंद को

इतिहास दृष्टि का आधार बनाने से कन्नी क्यों काटते रहे हैं? हमारा मानना है प्रेमचंद के नजरिए के बुनियादी तत्त्वों को आत्मसात करके साहित्येतिहास लिखा जाएगा जो ज्यादा बेहतर इतिहास बनेगा। बुनियादी सवाल है क्या प्रेमचंद को आधार बनाकर साहित्येतिहास दृष्टि का निर्माण संभव है? जी हाँ संभव है।

प्रेमचंद पूरी तरह आधुनिक लेखक हैं। कम्पलीट आधुनिक लेखक के उपलब्ध रहते हुए आखिरकार इतिहासकारों को मध्ययुगीन साहित्यकार को अपनी इतिहास दृष्टि का आधार बनाने की जरूरत क्यों पड़ी? तुलसी या कबीर के नजरिए से प्रभावित इतिहास दृष्टि मौजूदा युग के लिहाज से एकदम अप्रासंगिक है। इसमें मध्यकालीनता के दबाव चले आए हैं। इनका तमाम किस्म की प्रतिक्रियावादी ताकतें और निहित स्वार्थी तत्त्व सांस्थानिक तौर पर दुरुपयोग कर रहे हैं, आज भी अधिकांश हिंदी विभागों में मध्यकालीनता का वर्चस्व है।

इतिहास आधुनिक अनुशासन है। इसके निर्माण का नजरिया भी आधुनिक युग से ही लिया जाना चाहिए। संप्रति इतिहास दृष्टि के अनिवार्य तत्त्व हैं बहुभाषिकता, बहुस्तरीय यथार्थ, संपर्क और संवाद। इन चारों तत्त्वों के आधार पर साहित्येतिहास पर विचार किया जाना चाहिए। ये चारों तत्त्व प्रेमचंद के यहां व्यापक रूप में मिलते हैं। इन तत्त्वों को लागू करने से मौजूदा दौर में इतिहास के सामने जो चुनौतियाँ आ रही हैं उनके सटीक समाधान खोजने में मदद मिलेगी। खास की साहित्येतिहास को लेकर जो रूढ़िवाद पैदा हुआ है उससे मुक्ति मिलेगी। साथ ही उन तमाम विवादास्पद क्षेत्रों को भी साहित्य का अंग बनाने में मदद मिलेगी जिन्हें हम दलित साहित्य, स्त्री साहित्य, शीतयुद्धीय साहित्य, जनवादी साहित्य आदि कहते हैं।

प्रेमचंद ने खुले पाठ की हिमायत की है। पारदर्शिता को पाठ का अनिवार्य हिस्सा बनाया है। इस परिप्रेक्ष्य में हमें प्रत्येक को पाठ खोलना चाहिए। पाठ के खुलेपन की बात करनी चाहिए। व्याख्याकार हमेशा पाठ से संवाद के दौरान बाहर होता है। अर्थ के बाहर होता है। पाठ का अर्थ संदर्भ हमेशा दृश्य अर्थ संदर्भ से जुड़ा है। वक्तुता में अनेक अर्थ होते हैं। पाठ अनेक ध्वनियों से भरा होता है। भाषिक अर्थ

अमूमन गुप्त होता है। संबंधित युग का भाषिक अर्थ सांस्कृतिक संदर्भ के उद्घाटन से ही बाहर आता है। पाठ को पाठक केन्द्रित नजरिए से पढ़ा जाना चाहिए। पाठक केन्द्रित रणनीति के कारण डाटा को आप भिन्न नजरिए से देखते हैं।

प्रेमचंद जिस समय उपन्यास लिख रहे थे वह बहुस्तरीय यथार्थ के रूपायन का युग है। उस युग में अनेक आवाजें हैं। ये आवाजें उनके विभिन्न उपन्यासों में देखी जा सकती हैं। वहाँ एक ही विचारधारा का चित्रण नहीं है, एक ही वर्ग अथवा सिर्फ पसंदीदा वर्ग का चित्रण नहीं है। वह एक ही विषय और चेतना के विभिन्न रूपों को चित्रित करते हैं। उनमें 'सहस्थिति' और 'संपर्क' का चित्रण करते हैं। सामाजिक जीवन की अनेक ध्वनियों को अभिव्यंजित करते हैं। बहुस्तरीय अन्तर्विरोधी चीजों में शिरकत करते हैं। उनके यहाँ विभिन्न वर्गों के बीच 'तनाव', 'अन्तर्विरोध' और 'संपर्क' एक ही साथ देख सकते हैं। उनके उपन्यासों की बहुस्तरीय चेतना एक-दूसरे के साथ संपर्क करती है। पूंजीवादी वातावरण की अनछुई चीजों, विभिन्न लोगों और सामाजिक समूहों को पहली बार साहित्य में अभिव्यक्ति मिलती है। उनके इस तरह के चित्रण से व्यक्तिगत अलगाव कम होता है।

प्रेमचंद पहले बड़े लेखक हैं जिन्होंने सामाजिक जीवन में बहुस्तरीय यथार्थ को स्वीकृति दी है, उसकी तमाम संभावनाओं को समानता के धरातल पर खोला है। वह यथार्थ के किसी भी रूप के साथ भेदभाव नहीं करते। वह इस तथ्य को भी चित्रित करते हैं कि विभिन्न वर्गों में 'सहस्थिति' और 'संपर्क' है। इस तरह की प्रस्तुतियों के आधार पर हमें साहित्येतिहास के अंतरालों और अन्तर्क्रियाओं को खोलने में मदद मिल सकती है।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में 'टाइम' की बजाय 'स्पेस' के संदर्भ में चीजों को प्रस्तुत किया है। इस परिप्रेक्ष्य के कारण 'प्रत्येक चीज सह-अवस्थान' में दिखाई देती है। अनेक चीजों को एक ही साथ देखते हैं। जो चीजें 'टाइम' में अवस्थित हैं उनके स्पेस का नाटकीय रूपायन करते हैं। स्पेस में प्रस्तुति के कारण आंतरिक अन्तर्विरोधों और व्यक्ति के विकास के आंतरिक चरणों का चित्रण करते हैं।

प्रेमचंद के पाठ में एकल और बहुअर्थी आवाजें एक ही

साथ देखी जा सकती हैं। एक ही वातावरण और एक ही वर्ग में विभिन्न रंगत के चरित्रों की बजाय बहुरंगी और बहुवर्णीय चरित्रों का चित्रण किया है। प्रेमचंद जितनी गहराई में जाकर किसान का चित्रण करते हैं उतनी ही गहराई में जाकर जमींदार का भी चित्रण करते हैं। इस तरह की सहस्थिति प्रेमचंद को बहुलतावादी बनाती है। तुलसी और कबीर का नजरिया इस अर्थ में आज बहुलतावाद के संदर्भ में हमारी वैसी मदद नहीं करता जैसा प्रेमचंद करते हैं। प्रेमचंद अन्य प्रगतिशील लेखकों से भी इसलिए भिन्न हैं क्योंकि प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि एकल आवाज को अभिव्यक्त करने में लगी रही है इसके विपरीत प्रेमचंद ने बहुअर्थी आवाजों को अभिव्यक्ति दी है। एकल आवाज का लेखक अपनी रचना को महज एक वस्तु में तब्दील कर देता है जबकि बहुअर्थी आवाज रचना को जनप्रिय बना देती है। एकल अभिव्यक्ति में पात्र निष्पन्न रूप में आते हैं। वे लेखक की आवाज को व्यक्त करते हैं। कहानी के सभी स्तर पर लेखक के नजरिए का विस्तार है। इससे यह भी संदेश निकलता है लेखक पाठ के बाहर होता है। सृजन के बाहर होता है। फलतः विचार सुचिंतित, निष्पन्न और नियोजित एकल आवाज में व्यक्त होते हैं। बहुअर्थी रचना में दाखिल होते समय पाठक चाहे तो अपने लिए एकल अर्थ भी खोज सकता है और चाहे तो उसके बाहर बहुअर्थी आवाजों को सुन सकता है।

प्रेमचंद की दुनिया धार्मिक वैविध्य के साथ संपर्क करती है, उसके साथ सह-अवस्थान करती है। इससे वह एकीकृत स्पष्ट पैदा करने की कोशिश नहीं करते। इस तरह का वातावरण मानवीय चेतना के गहरे स्तरों को उद्घाटित करने में मददगार साबित होता है। उनके दृष्टिकोण का लक्ष्य चेतना को विकसित करके विचार के स्तर तक ले जाता है ये विचार अन्य की चेतना के साथ संपर्क करते हैं। मानवीय यथार्थ के आंतरिक और बाहरी अनुभवों को एक साथ चित्रित करते हैं।

प्रेमचंद ने सृजन में कलात्मक रूपों का इस्तेमाल किया है। एक लेखक के नाते प्रेमचंद ने जिंदगी की चेतना और उसके जीवंत रूपों को जीवंत सह-अवस्थान के साथ प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं में ऐसी भी सामग्री है जो

समाजशास्त्रियों के भी काम आ सकती है।

लेखक कहानी संदर्भ बनाता है। जिसमें चरित्र और विभिन्न किस्म की आवाजें शामिल रहती हैं। उनके अंतिम वाक्य पर नियंत्रण रखता है। कालक्रम निर्धारित करता है। फलतः हम तक आवाजें पहुँचती हैं। इन आवाजों को वह हीरो के इर्दगिर्द एकत्रित करते हुए सघन और प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के वातावरण को निर्मित करता है।

कहानी का सत्य हीरो की चेतना का सत्य बनकर सामने आता है। इस तरह की प्रस्तुति में अनुपस्थित को खोजना मूलकार्य नहीं है बल्कि लेखक की पोजीशन में जो बुनियादी परिवर्तन आए हैं उन्हें देखना चाहिए। जो लोग नजरिए को देखते हैं उन्हें जिंदगी के बहुरंगेपन और बहुअर्थीपन को ध्यान में रखना चाहिए। उपन्यास में सामाजिक जगत की बहुअर्थी दुनिया के साथ महान् संवाद भी रहते हैं। जिनका उपन्यासकार सृजन करता है।

प्रेमचंद की कहानियों में पाठक को जब अपने नजरिए के आधार पर बाहर से भीतर की ओर प्रवेश करता है तब क्या होता है? ऐसे में लेखक का एकल नजरिया और एकल चेतना गायब हो जाती है। वह कहानी के चरित्रों की विश्वचेतना से अपने को जोड़ता है। अपने निजी नजरिए के साथ तुलना करता है। इस क्रम में वह बदलता है। फलतः पाठक को पढ़ने का सुख और परिवर्तन का सुख ये दोनों ही सुख प्राप्त होते हैं। प्रेमचंद की कहानियों की व्यापक व्याख्याएँ हुई हैं। मूल्यांकन का यह वैविध्य एक ही संदेश देता है कि कहानी का अंतिम सत्य तय नहीं किया जा सकता। चरित्रों का अपने अंतिम वाक्य पर नियंत्रण नहीं रहता। पाठकों का बहुरंगी नजरिया कहानी के बहुअर्थीपन के साथ सामंजस्य बिठाकर नए अर्थ की सृष्टि करता है।

प्रेमचंद की सबसे बड़ी देन है कि हम उनके युग की आवाजें सुन रहे हैं। उनके युग के संवाद सुनना बहुत बड़ी उपलब्धि है। उनके लेखन में से एकल आवाज को खोज निकालना उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना महत्वपूर्ण है विभिन्न आवाजों के बीच का संवाद। इस क्रम में युग का स्वर मुखर हो उठा है। इन आवाजों में प्रभुत्वशाली विचार हैं, साथ ही कमजोर आवाजें भी हैं। ऐसे विचार भी हैं तो अभी विकसित नहीं हुए हैं। ऐसी आवाजें हैं जिन्हें लेखक के

अलावा कोई नहीं सुनता। ऐसे विचार भी जिनका अभी श्रीगणेश हुआ है। इनमें भावी विश्वदृष्टि छिपी है। उनके यहाँ तात्कालिक तौर पर यथार्थ खत्म नहीं होता। बल्कि यथार्थ का व्यापक हिस्सा लटका रहता है, जिसमें भावी जगत नजर आता है। काहनी स्पेस और सामाजिक स्पेस के बीच संपर्क होता है, आदान-प्रदान होता है। इस प्रक्रिया के दौरान साहित्य को सामाजिक-ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के काम की सामग्री बना देते हैं। लेखन को संवाद बना देते हैं। जीवन को भी संवाद बना देते हैं। यानी वे सभी चीजों को संवाद बनाते हैं तो उन्हें दार्शनिक भी बनाते हैं। प्रत्येक चीज को सरल बनाते हैं। सरल को संसार बनाते हैं। संसार को सरल बनाते हैं। संसार की जटिल और संश्लिष्ट संरचनाओं को सरल बनाते हैं। उनकी प्रत्येक आवाज में दो आवाजें सुन सकते हैं। एक-दूसरे को चुनौती देने वाली आवाजें भी सुन सकते हैं। प्रत्येक अभिव्यक्ति का रूप तुरंत ही टूटता है और आगे जाकर अन्तर्विरोधी अभिव्यक्ति बन जाता है। प्रत्येक भाव-भंगिमा में आत्मविश्वास झलकता है साथ ही आत्मविश्वास का अभाव भी झलकता है। प्रत्येक फिनेमिना में प्रेमचंद दुविधा और अस्पष्टता चित्रित करते हैं। बहुस्तरीय दुविधा छोड़ते हैं। प्रेमचंद एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिनकी संवादात्मक प्रकृति है। प्रेमचंद की भाषा 'संवादात्मक संबंधों' पर टिकी है। फलतः उससे सभी किस्म का मानवीय संप्रेषण होता है। प्रेमचंद का 'संवादात्मक' रूप व्यक्तिवाद विरोधी है। यह देखना बड़ा ही दिलचस्प होगा कि प्रेमचंद ने अपनी कहानी और उपन्यास में व्यापक पैमाने पर 'संवाद' का इस्तेमाल क्यों किया ?

सांप्रदायिकता : प्रेमचंद की महानता इस बात में है कि वे सांप्रदायिकता के जहर को अच्छी तरह पहचानते थे। उन्होंने उस धारणा का खंडन किया जिसके तहत अच्छी और बुरी सांप्रदायिकता का वर्गीकरण करके अनेक लोग काम चलाते हैं। दुर्भाग्य यह है भारत में अनेक लोगों को सांप्रदायिक दल में अपने हित और समाज के हित सुरक्षित नजर आने लगे हैं। इस तरह लोगों को ध्यान में रखकर प्रेमचंद ने लिखा-

'इंडियन सोशल रिफार्मर अंग्रेजी का समाज सुधारक पत्र है और अपने विचारों की उदारता के लिए मशहूर है।

डाक्टर आलम के ऐंटी-कम्युनल लीग की आलोचना करते हुए, उसने कहा है कि सांप्रदायिकता अच्छी भी है बुरी भी। बुरी सांप्रदायिकता को उखाड़ फेंकना चाहिए। मगर अच्छी सांप्रदायिकता वह है, जो अपने क्षेत्र में बड़ा उपयोगी काम कर सकती है, उनकी क्यों अवहेलना की जाय। अगर सांप्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है, झूठ भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है। हम तो सांप्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते हैं, जो हर एक संस्था में दलबंदी कराती है और अपना छोटा-सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है।'

प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता को 'मनुष्यता का अकाल' कहा। उनका मानना है 'इतिहास में उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होती।' यह भी कहा 'यह किसी मजहब के लिए शान की बात नहीं है कि वह दूसरों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाये। 'प्रेमचंद के जमाने में कुछ सांप्रदायिक तत्त्व थे जो हिंदू-मुसलमानों को एक रस बनाने पर आमादा थे। इस तरह के लोगों को ध्यान में रखकर लिखा, 'हिंदू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे; न होंगे और न होने चाहिए। दोनों की अलग-अलग सूरतें बनी रहनी चाहिए और बनी रहेंगी। जरूरत इस बात की है कि उनके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो। आम तौर पर हमारे नेता वह सज्जन होते हैं जो अपने संप्रदाय की मुसीबतों और शिकायतों का हमेशा बहुत सरगर्मी से रोना रोया करते हैं। वह अपने संप्रदाय के लोगों की दृष्टि में लोकप्रिय बनने के लिए उसकी भावनाओं को उकसाते रहते हैं और समझौते के मुकाबिले में, जो उनके उस विलाप को बंद कर देगा, झगड़े को कायम रखना जरूरी समझते हैं। हिंदुओं में इस वक्त सहिष्णु नेताओं का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गंभीरता से समस्याओं पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचाने वालों के हिस्सों में आ जाती है जो अपनी जोरदार आवाज से जनता की गंदी भावनाओं को उभारकर उन पर अपना अधिकार जमा लिया करते

हैं। वह कौम को दरगुजार करना नहीं सिखाता; लड़ना सिखाता है, उसका फायदा इसी में है।’

हिंदू मुस्लिम सांप्रदायिकतावादियों के द्वारा लगातार ‘हिंदू-संस्कृति’ और ‘मुस्लिम-संस्कृति’ की धारणा का जोर-शोर से प्रचार किया जा रहा है। दोनों ही अपनी-अपनी संस्कृति की शुद्धता का ढोल पीटते रहते हैं और आम लोगों में सांप्रदायिकता का जहर घोलते रहते हैं। ये लोग संस्कृति को धर्म से जोड़ते हैं। ऐसे तत्त्वों पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा ‘वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखंड। और इसके जन्मदाता भी वही लोग हैं जो सांप्रदायिकता की शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को सांप्रदायिकता की ओर लाने का केवल एक मंत्र है और कुछ नहीं। हिंदू और मुस्लिम संस्कृति के रक्षक वही महानुभाव और वही समुदाय हैं, जिनको अपने ऊपर, अपने देशवासियों के ऊपर कोई भरोसा नहीं, इसलिए अनन्त तक एक ऐसी शांति की जरूरत समझते हैं, जो अनेक झगड़ों में सरपंच का काम करती रहे।’ प्रेमचंद ने यह भी लिखा, ‘कोई ऐसा काम सोच निकालना, जिससे हिंदू और मुसलमान दोनों एक होकर राष्ट्र का उद्धार कर सकें, उनकी विचार शक्ति के बाहर है। दोनों ही सांप्रदायिक संस्थाएँ मध्यवर्ग के धनिकों, जमींदारों, ओहदेदारों और पद-लोलुपों की हैं। उनका कार्य क्षेत्र अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्रदान करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें। साधारण जनता के सुख-दुख से उनको कोई प्रयोजन नहीं।’

प्रेमचंद ने एक अन्य खतरे की ओर भी ध्यान खींचा है, लिखा, ‘जहाँ एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय से इतना सशंक है, वहाँ राष्ट्रीयता कहाँ। सरकार हमें भिन्न संप्रदायों के रूपों में देखती है। हम क्यों अपने को उस रूप में देखें।’

सांप्रदायिकता के आंतरिक खतरे के प्रति आगाह करते हुए प्रेमचंद ने लिखा, ‘हम मुँह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें, दिल में हम सभी सांप्रदायिक हैं, और हरेक बात को संप्रदाय की आंखों से देखते हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि जब कोई सांप्रदायिक दंगा हो जाता है तो हम तुरंत यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उस दंगे में कितने

हिंदू हताहत हुए और कितने मुसलमान। यह मनोवृत्ति राष्ट्रीयता का गला घोटने वाली है। हमें इस मनोवृत्ति का मूलोच्छेद करना पड़ेगा, अन्यथा हमारा राष्ट्र मधुर स्वप्न ही रहेगा। जब हम सांप्रदायिक भावों पर विजय नहीं पा सके तो हम मुसलमानों से क्यों आशा रखते हैं कि वे ज्यादा उदार हो जायें। यह वही सांप्रदायिक मनोवृत्ति है, जो इस समय देश के इस सिरे से उस सिरे तक नंगा नाच रही है और विदेश में हमें हास्यास्पद बना रही है।’ आगे लिखा, ‘अब आने वाले वर्षों में इसी सांप्रदायिकता से संग्राम करना है; सहिष्णुता, विश्वास, धैर्य और सेवा के शस्त्रों से। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।’

सवाल यह है सांप्रदायिकता के खिलाफ कैसे लड़ें? प्रेमचंद ने इससे लड़ने का एक और उपाय सुझाया था, उनका मानना है कि पाठ्यक्रमों में धर्मनिरपेक्ष सामग्री पढ़ायी जाये। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच में आयी सांस्कृतिक दूरी को पाटने में शिक्षा के पाठ्यक्रम बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं। प्रेमचंद ने लिखा ‘यह आवश्यक है कि हम एक-दूसरे का साहित्य पढ़ें, विचार समझें, उनके दृष्टिकोण को जानें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सबसे सुगम उपाय यह है कि हिंदी-उर्दू नीचे से ऊँचे तक लाजमी कर दी जाय। तीसरी कक्षा से बी.ए. तक दोनों भाषाएँ पढ़ायी जायें। भाषा के साथ-साथ एक-दूसरे की संस्कृति का परिचय भी छात्रों को हो जायेगा और राष्ट्रीय एकता की जड़ मजबूत होगी।’ हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता का राग अलापने वालों को चेतावनी देते हुए कहा, ‘अब जनता समझने लगी है कि भारत में हिंदू और मुसलमान दोनों ही नाव पर सवार हैं। डूबेंगे तो दोनों साथ, पार लगेंगे तो दोनों साथ पार लगेंगे।’

मानसिक पराधीनता: संस्कृति और जीवन में पराधीनता के तत्त्व औपनिवेशिक सत्ता के अपदस्थ हो जाने के बाद यकायक अपदस्त नहीं हो गए अपितु संस्कृति और हमारे नजरिए में औपनिवेशिक दृष्टिकोण अभी भी जड़के जमाए बैठा है। इसी औपनिवेशिक गुलामी का एक तत्त्व हैं अंग्रेजी भाषा के प्रति अवैज्ञानिक रवैय्या। भाषा हमारी संस्कृति को व्यक्त करने वाला तत्त्व है, हम किस भाषा में बोलते हैं, व्यवहार में लाते हैं, इससे हमारी संस्कृति का दिग्दर्शन

होता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के असर के कारण अपनी चीजों से द्वेष करने लगे हैं, प्रेमचंद ने पश्चिमी सभ्यता के असर पर लिखा, 'हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि हममें सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं और उनमें गुण ही गुण', अंग्रेजी के प्रति हमारे समाज में एकवर्ग में जबर्दस्त आकर्षण है, इसे प्रेमचंद ने 'शिक्षित समुदाय की लज्जाजनक ही नहीं, शोकजनक मानसिक दासता माना।' प्रेमचंद ने यह भी लिखा 'हम मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा प्रौढ़ है, हरेक प्रकार के भावों को आसानी से जाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आयी; लेकिन जब वही लोग, जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें तो उनकी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगे? यह हिमाकत है। आज हमारा पठित-समाज साधारण जनता से पृथक् हो गया है। उसका रहन-सहन, उसकी बोलचाल, उसकी वेशभूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रहे हैं। शायद वह अपने दिल में फूला नहीं समाता, कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गंवार समझता है, लेकिन वह खुद की नजरों में गिर गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती।'

पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव के कारण ही हम ज्यादा से ज्यादा खुदगर्ज हो गए हैं।, हंसना, बोलना, रोना, गाना सब कुछ स्वार्थी दृष्टि से देखने लगे हैं। खुदगर्जी का आलम यह है कि निःस्वार्थ भाव से देखना, बोलना, हंसना, सामाजिक एवं राजनीतिक दायित्व निभाना छोड़ दिया है। अब तो खुदगर्जी ही जीवन का मूलमंत्र है। प्रेमचंद ने लिखा है, 'व्यावसायिकता पश्चिमी सभ्यता का कलंक है। संसार का जितना अहित इस व्यवसायवाद से हुआ है और आगे होगा, वह अभूतपूर्व है।' इस प्रसंग में प्रेमचंद ने साम्राज्यवाद को देखा। उसे पराधीनता का स्रोत माना।

स्त्री के समान अधिकार की समस्या : प्रेमचंद ने स्त्री-पुरुष के बीच में मौजूद असमानता का उद्घाटन करते हुए समानता के सिद्धांत को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू करने की हिमाकत की। स्त्री एवं पुरुषों के बीच में असमानता को आज चारों तरफ देखा जा सकता है। इसके समाधान

का सबसे पहला उपाय तो यही है कि हम स्त्रियों के प्रति अपना रवैया बदलें। रवैया बदले बगैर किसी तरह का परिवर्तन सार्थक शकल ग्रहण नहीं कर सकता। प्रेमचंद पर गांधी जी के स्त्री संबंधी विचारों का गहरा असर था। इन विचारों को उन्होंने स्वाधीनता संग्राम और राष्ट्रीय चेतना के उभार से जोड़कर देखा। प्रेमचंद ने लिखा, 'वह मंदबुद्धिता जिसने एक ओर पराधीनता की बेड़ी डाली, दूसरी ओर नारी जाति पर मनमाने अत्याचार करती गयी। ऊँच-नीच का ऐसा संक्रामक रोग फैला कि उसने समाज को ही छिन्न-भिन्न कर दिया। बल्कि स्त्री-पुरुष में भी भेद डाल दिया। पुरुषों ने नारी जाति के स्वत्व का अपहरण करना शुरू किया; लेकिन राष्ट्रीय और सदबुद्धि की जो लहर इस समय आयी हुई है, वह इन तमाम भेदों को मिटा देगी और एक बार फिर हमारी माताएँ उसी ऊँचे पद पर आरूढ़ होंगी जो उनका हक है। ...यदि पुरुषों को अब भी उन पर शासन करने का उन्माद हो तो उसे शीघ्र से शीघ्र दूर कर देना चाहिए; क्योंकि वह चाहे दे या ना दें, देवियां अपने स्वत्वों को लेकर ही रहेंगी। उन्हें हर एक विषय में पुरुषों के समान अधिकार होना चाहिए और इसका निर्णय देवियों पर छोड़ देना चाहिए कि वे अपने हितार्थ जो स्वत्व चाहें ले लें।'

नव्य-उदार दौर में लेखक में भय और कुंठाएं बड़े पैमाने पर नजर आती हैं। हर लेखक डरकर लिख रहा है, किसी न किसी किस्म का भय उसे लिखते समय रहता है। जोखिम उठाने में वह खतरा महसूस करता है। लिखने के पहले और बाद में हानि-लाभ का गणित फैलाता रहता है। भयमुक्त लेखन और कुंठारहित जीवन आज के युग की सबसे बड़ी चुनौती है।

हमें लेखक के नकली रूप से लड़ने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। प्रेमचंद का सार जीवन पारदर्शी था। लेकिन आज के बड़े लेखकों का जीवन अनेक पर्दों में कैद है। लेखक और नागरिक के जीवन को जितना सामान्य, स्वाभाविक और सहज बनाएँगे प्रेमचंद हमें उतने ही करीब मिलेंगे। लेखक पारदर्शी बनेगा तो पाठक भी पारदर्शी बनेगा और समाज भी पारदर्शी बनेगा।

असल में साहित्य और साहित्यकार को वस्तुओं के प्रेम और प्रदर्शन से बचना चाहिए। हमारे चारों ओर वस्तुओं

की बाढ़ आई हुई है और इसने हमें भी वस्तु बना दिया है। हम वस्तुओं में ही सोचने लगे हैं। पतन की हद तो यह है कि हमारे नवोदित अंग्रेजीभक्त हिंदी लेखक अपनी वस्तुओं जैसे मेरा मकान, मेरी गाड़ी, मेरा फर्नीचर, मेरी दीवार, मेरी पेंटिंग, मेरी घड़ी, मेरा बैग आदि जिस तरह बोलते हैं उससे यहीं लगता है कि अब वस्तुएँ जीत रही हैं, मनुष्य हार रहा है। वस्तु से बड़ा है मनुष्य और सिर्फ मनुष्य, यह बात हमारे जंगीलेखक क्यों भूल गए हैं?

प्रेमचंद पर हमला करने वाले हमेशा से सक्रिय रहे हैं और इन दिनों भी सक्रिय हैं। वे साहित्य को राजनीति से अलग करने की मांग कर रहे हैं, साहित्य को विचारधारा से अलग करने की मांग कर रहे हैं। ऐसे लेखकों के लिए वाल्टर बेंजामिन का कथन याद आ रहा है, उन्होंने कहा था कि बच्चों को राजनीति की जरूरत नहीं होती। हम उनके बचपन के खेल में ही आनंद लेते हैं। वस्तुओं के साथ बच्चों के संबंध में आनंद लेते हैं। जो लोग साहित्य में राजनीति और विचारधारा का निषेध कर रहे हैं वे साहित्य को बच्चों का खेल बनाना चाहते हैं। साहित्य बच्चों का खेल न बने इसलिए प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है।

हमें अब परेशानी नहीं होती कि हमारे सामने के वस्तुगत यथार्थ को कैमरों के खेल ने हमसे छीन लिया है। हम निर्मित यथार्थ को ही यथार्थ समझने लगे हैं। अब हम जिस यथार्थ को देखते हैं उसे वास्तविकता से जोड़ ही नहीं पाते। हमें इससे कोई टेंशन नहीं होती। बहुत सारी चीजें हमारी आँखों के सामने से हटा ली गयी हैं लेकिन हमें उनकी अनुपस्थिति परेशानी पैदा नहीं करती।

हम फेसबुक पर निसार बहसों पर सबसे ज्यादा ऊर्जा खर्च करते हैं। किसी लेखक या संपादक की झूठी प्रशंसा (लाइक) में शक्ति व्यय कर रहे हैं और मग्न हैं कि हमने बौद्धिक तौर मार लिए। यह सब निस्सार का खेल है जो हमें यथार्थ को देखने नहीं देता। प्रेमचंद की महत्ता है कि वे भौतिक तौर पर सारवान के सर्जक हैं।

आज साहित्य से लेकर जीवन तक सारवान भौतिक तत्त्व घट रहा है। साहित्यकार निर्मित बहसों, निर्मित यथार्थ और निर्मित प्रशंसा में मग्न हैं। इनमें कहीं पर भी सबस्टेंस

नहीं नजर आ रहा। जो लेखक भूमंडलीकरण पर बहस कर रहे हैं वे उसका क-ख-ग तक नहीं जानते, जो बाजारवाद को कोस रहे हैं वे कभी बाजार नहीं गए। सवाल यह है कि सारवान भौतिक जीवन के बिना यह कैसा साहित्य और साहित्यकार हमारे बीच में आया है, इसकी पड़ताल करने की जरूरत है।

मौजूदा दौर अतिथार्थ का है। अतिथार्थ हमें जगत को ठीक से देखने नहीं देता। जगत इतना करीब होता है कि हम उसे ठीक से देख भी नहीं पाते। फेसबुक संकट और भी गहरा, इंटरनेट इस अतिथार्थ के तकनीकी रूप हैं। आज है क्योंकि समय और दूरी का भी लोप हो गया है। तकनीकी तरक्की ने हमें का विलक्षण प्रदूषण में फेंक दिया है और इस प्रदूषण का नाम है अतिथार्थ प्रदूषण।

स्वाधीन बच्चे : बच्चों को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन बच्चों को जिस नजरिए से प्रेमचंद देखते हैं वह अपने आप में मूल्यवान है। सामान्य तौर पर प्रेमचंद के बच्चों से संबंधित नजरिए पर कभी किसी ने ध्यान नहीं दिया। प्रेमचंद ने जो बातें बच्चों के लिए कही हैं उनका बहुत गहरा संबंध युवाओं से भी है।

बच्चों के बारे में बातें करते ही एक ही चीज जेहन में आती है कि बच्चों को आज्ञाकारी होना चाहिए। बच्चों को आज्ञापालन सिखाओ, बड़ों का सम्मान करना सिखाओ, संयम से जीना सिखाओ। तकरीबन सभी के मन में यह धारणा है, प्रेमचंद ने व्यंग्य करते लिखा, ‘बच्चों को स्वाधीन बनाना तो ऐसा ही है जैसे आग पर तेल छिड़कना।’

एक वर्ग यह भी मानता है कि बच्चे आज पूरी तरह स्वतंत्र हैं उनको कुछ भी सिखाने की जरूरत नहीं है, वे सब कुछ मीडिया से सीख रहे हैं। टीवी, इंटरनेट, सोशलमीडिया और विज्ञापनों से सीख रहे हैं। इस प्रसंग में यही कहना चाहते हैं कि मीडिया से बच्चे वस्तु खरीदना सीख रहे हैं, उपभोक्ता बनने के गुर सीख रहे हैं, वस्तुओं के उपभोग को सीखना स्वाधीन होना नहीं है। यदि कोई बच्चा गायक बनना चाहता है तो उसे गायन सीखना पड़ेगा, इसी तरह बच्चा स्वाधीन भाव से लैस हो इसके लिए जरूरी है कि उसे ‘‘जीवन की रक्षा स्वयं करने की शिक्षा दी जाय।’’

प्रेमचंद ने लिखा है, ‘‘मोटरकार, सिनेमा और समाचारपत्र

सब स्वाधीनता की प्रवृत्ति को मजबूत करते हैं।” यह भी लिखा है कि “युवकों के सामने आज जो परिस्थिति है उसमें अदब और नम्रता का इतना महत्व नहीं है, जितना व्यक्तिगत विचारों और कामों की स्वाधीनता का।”

प्रेमचंद ने आधुनिक शिक्षा के दायरे से आगे बढ़कर सोचने पर जोर देते हुए लिखा, ‘इस नयी शिक्षा का आशय क्या है? आज्ञा-पालन हमारे जीवन का एक अंग है और हमेशा रहेगा। अगर हर एक आदमी अपने मन की करने लगे, तो समाज का शिराजा बिखर जाएगा। अवश्य हर एक घर में जीवन के इस मौलिक तत्त्व की रक्षा होनी चाहिए, लेकिन साथ ही माता-पिता की यह भी कोशिश होनी चाहिए, कि उनके बालक उन्हें पत्थर की मूर्ति या पहेली ना समझें। चतुर माता-पिता बालकों के प्रति अपने व्यवहार को जितना स्वाभाविक बना सकें, उतना बनाना चाहिए, क्योंकि बालक के जीवन का उद्देश्य कार्य-क्षेत्र में आना है, केवल आज्ञा मानना नहीं। वास्तव में जो बालक इस तरह की शिक्षा पाते हैं, उनमें आत्म-विश्वास का लोप हो जाता है। वे हमेशा किसी की आज्ञा का इंतजार करते हैं। हम समझते हैं कि आज कोई बाप अपने लड़के को ऐसी आदत डालनेवाली शिक्षा न देगा।”

प्रेमचंद ने लिखा “दूसरा सिद्धांत यह है कि माता-पिता कोई बात खुद न तय करनी चाहिए, बल्कि लड़कों पर छोड़ देनी चाहिए।” “तीसरा सिद्धांत यह है कि गृहस्थी को जनतंत्र के कायदों पर चलाना चाहिए। तजुर्बे से यह बात मालूम होती है कि हम जनतंत्र पर चाहे कितना ही विश्वास रखें, हमारे घरों में स्वेच्छाचार का ही राज्य है। घर का मालिक मुसोलिनी या कैसर की तरह डटा हुआ जिस रास्ते चाहता है, ले जाता है और कभी इसका उल्टा दिखायी देता है। घर में न कोई कायदा है न कोई कानून। जो जिसके जी में आता है, करता है, जैसे चाहता है, रहता है; कोई किसी की खबर नहीं लेता। लड़के अपनी राह जाते हैं, जवान अपनी राह और बूढ़े अपनी राह। दोनों ही तरीके जनतंत्र से कोसों दूर हैं—पहले तरीके में स्वतंत्रता का नाम नहीं, दूसरे तरीके में जिम्मेदारी का। यह दोनों ही तरीके लड़कों की शिक्षा की दृष्टि से अनुचित हैं। करना यह चाहिए कि घर के मसलों पर बच्चों से शुरू ही से राय ली जाय।”

बच्चों को दैनंदिन कामों की जिम्मेदारी देकर और घरेलू समस्याओं पर उनकी राय लेकर उनके मन में यह भाव पैदा किया जा सकता है कि परिवार में उनका भी महत्व है। बचपन में ही उनके अंदर आने और पैसे के फर्क की समझ पैदा की जाय, उनका हाथ खर्च तय कर दिया जाय। साथ ही उनको कोई न कोई काम जरूर दिया जाय। लड़के अपने काम खुद करें इससे उनके आत्मविश्वास में इजाफा होगा, परतंत्रता बोध से मुक्ति मिलेगी। हम अमूमन लड़कों के हाथ में कोई नई चीज देखकर घबड़ा जाते हैं। मसलन, घड़ी छू रहा है कहीं तोड़ न डाले। आश्चर्य तब होता कि जिन व्यक्तियों ने सारी जिन्दगी संघर्ष किया वे भी बच्चों को पारिवारिक कामों से बचाते हैं।

प्रेमचंद ने लिखा, ‘हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि स्वाधीनता से हमारा मतलब क्या है? इसका यह मतलब नहीं है कि हम बिना रोक-टोक जो कुछ चाहें करें और जो कुछ चाहें न करें। इसका मतलब यह है कि बाहरी दबाव की जगह हम में आत्म-संयम का उदय हो। सच्चा स्वाधीन आदमी वही है, जिसका जीवन आत्मा के शासन से संयमित हो जाता है, जिसे किसी बाहरी दबाव की जरूरत नहीं पड़ती। बालकों में इतना विवेक होना चाहिए कि वे हर एक काम के गुण-दोष को भीतर की आँखों से देखें।”

ईश्वर के सवाल : हमारे कई मित्रों ने कहा प्रेमचंद तो ईश्वर को मानते थे। हम विनम्रतापूर्वक कहना चाहते हैं वे ईश्वर या ऐसे किसी तत्त्व की उपस्थिति मानने को तैयार नहीं थे जिसे देखा न हो। यह भी सवाल उठा है कि प्रेमचंद ने इस्लाम धर्म की आलोचना कहां की है? हम इन दोनों सवालों के जवाब खोजने की कोशिश करेंगे। हिंदू-मुस्लिम भेदभाव का विस्तार से जिक्र करने के बाद प्रेमचंद ने ‘मनुष्यता का अकाल’ (जमाना, फरवरी १९२४) निबंध में लिखा, ‘इतिहास में उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं।’

उपरोक्त निष्कर्ष निकालने के पहले प्रेमचंद ने ‘मनुष्यता का अकाल’ में ही लिखा, ‘हमको यह मानने में संकोच नहीं है कि इन दोनों संप्रदायों में कश्मकश और संदेह की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे, हिंदू विजित।

मुसलमानों की तरफ से हिंदुओं पर अक्सर ज्यादाियाँ हुई और यद्यपि हिंदुओं ने मौका हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त से सख्त जुल्म किये। हम यह भी मानते हैं कि मौजूदा हालात में अजान और कुर्बानी के मौकों पर मुसलमानों की तरफ से ज्यादाियाँ होती हैं और दंगों में भी अक्सर मुसलमानों का ही पलड़ा भारी रहता है। ज्यादातर मुसलमान अब भी 'मेरे दादा सुल्तान थे' नारे लगाता है और हिंदुओं पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है।'

इसी निबंध में पहली बार धार्मिक प्रतिस्पर्धा को निशाना बनाते हुए उन्होंने तीखी आलोचना लिखी। उस तरह की आलोचना सिर्फ ऐसा ही लेखक लिख सकता है जिसकी ईश्वर की सत्ता में आस्था न हो, उन्होंने लिखा, 'दुनियावी मामलों में दबने से आबरू में बट्टा लगता है, दीन-धर्म के मामले में दबने से नहीं।'

प्रेमचंद का मानना है 'वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गयी है जिसका उसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं। जिस दिन यह आपस की होड़ और दूसरे से आगे बढ़ जाने का खयाल धर्म से दूर हो जायेगा, उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान नहीं खड़े होंगे।'

प्रेमचंद ने हिंदू और मुसलमानों को धर्म के नाम पर भड़काने वालों और धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों की तीखी आलोचना की है। 'मिर्जापुर कांफ्रेंस में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव' (अप्रैल १९३१) में लिखा 'जब तक अपना हिंदू या मुसलमान होना न भूल जायेंगे, जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उतना प्रेम न करेंगे जितना निज धर्म वालों के साथ करते हैं, सारांश यह कि जब तक हम पंथजनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायेंगे, इस बेड़ी को तोड़कर फेंक न देंगे, देश का उद्धार होना असंभव है।' इसमें ही वे आगे कहते हैं 'धर्म को राजनीति से गड़बड़ न कीजिए'। एक अन्य निबंध 'गोलमेज परिषद में गोलमाल' (अक्टूबर १९३१) में लिखा, 'भारत का उद्धार अब इसी में है कि हम राष्ट्र-धर्म के उपासक बनें,

विशेष अधिकारों के लिए न लड़कर, समान अधिकारों के लिए लड़ें। हिंदू या मुसलमान, अछूत या ईसाई बनकर नहीं, भारतीय बनकर संयुक्त उन्नति की ओर अग्रसर हों, अन्यथा हिंदू मुसलमान, अछूत और सिक्ख सब रसातल को चले जायेंगे।'

यह भी लिखा 'धर्म का संबंध मनुष्य से और ईश्वर है। उसके बीच में देश, जाति और राष्ट्र किसी को भी दखल देने का अधिकार नहीं। हम इस विषय में स्वाधीन हैं।'

शिवरानी देवी से बातचीत करते हुए प्रेमचंद ने ईश्वर के बारे में कहा 'ईश्वर पर विश्वास नहीं होता कि अगर वह सचमुच ईश्वर है तो क्या दुखियों को दुख देने में ही उसे मजा आता है? फिर भी लोग उसे दयालु कहते हैं। वह सबका पिता है। फला-फूला बाग उजाड़कर वह देखता है और खुश होता है। दया तो उसे आती नहीं। लोगों को रोते देखकर शायद उसे खुशी ही होती है जो अपने आश्रितों के दुख पर दुखी न हो वह कैसा ईश्वर है।'

आगे बकौल शिवरानी देवी से प्रेमचंद पूछते हैं 'तब कैसे ईश्वर हमसे अन्याय कराता है जो अच्छा समझे वही हमसे कराये, हम जिससे दुखी न हो सकें। कुछ नहीं। यह सब धोखे में डालने वाली भावनायें हैं, बस अपने को धोखे में डालने के लिए यह सब प्रपंच रचे गए हैं और नहीं तो हम प्रत्यक्षतः कोई बुरा काम नहीं करते तो लोग कहते हैं अगले जन्म में बुरा काम किया होगा, उसी का फल है और मैं कहता हूँ, यह सब गोरखधंधा है।'

प्रेमचंद मानते थे 'भगवान मन का भूत है, जो इंसान को कमजोर कर देता है। ईश्वर का आधार अंधविश्वास है और इस अंधविश्वास में पड़ने से तो रही सही अक्ल भी मारी जाती है।'

प्रेमचंद का जैनेन्द्र के साथ लगातार पत्र-व्यवहार होता था, दोनों गहरे मित्र थे। प्रेमचंद ने ९ दिसम्बर १९३५ को जैनेन्द्र कुमार को लिखा, 'ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो, जा ही नहीं रहे हो बल्कि भगत बन गये हो मैं संदेह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।' और एक दिन जैनेन्द्र कुमार को दो-टूक उत्तर दे दिया, 'जब तक संसार में यह व्यवस्था है, मुझे ईश्वर पर विश्वास नहीं आने का: अगर मेरे झूठ

बोलने से किसी की जान बचती है तो मुझे कोई संकोच नहीं होगा। मैं प्रत्येक कार्य को उसके मूल कारण से परखता हूँ। जिससे दूसरों का भला न हो। जिससे दूसरों का नुकसान हो वही झूठ है।'

मृत्यु से कुछ दिन पहले रोग-शैथिल्य पर पड़े हुए प्रेमचंद ने जैनेन्द्र कुमार से कहा 'जैनेन्द्र: लोग इस समय ईश्वर को याद किया करते हैं। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई।' जैनेन्द्र! मैं कह चुका हूँ। मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना उत्साह नहीं कर सकता। कैसे करूँ जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है, वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे तो मेरा क्या कसूर है? मुश्किल तो है कि ईश्वर को मानकर उसको दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती, तब उस दया सागर में विश्वास कैसे हो।'

ईश्वर तंत्र पर प्रहार करते हुए प्रेमचंद ने लिखा 'ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भूमण्डल पर जो अनर्थ किये हैं, और कर रहे हैं, उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था। आदमियों के रहने के लिये शहरों में स्थान नहीं है। मगर ईश्वर और उनके मित्रों और कर्मचारियों के लिए बड़े-बड़े मंदिर चाहिए। आदमी भूखों मर रहे हैं मगर ईश्वर अच्छे से अच्छा खायेगा, अच्छे से अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा।'

'कर्मभूमि' में गजनवी के मुँह से प्रेमचंद कहलवाते हैं 'मजहब का दौर खत्म हो रहा है बल्कि यों कहो कि खत्म हो गया है सिर्फ हिंदुस्तान में इसकी कुछ जान बाकी है। यह मुआशयात का दौर है। अब कौम में दार ब नदार, मालिक और मजदूर अपनी-अपनी जमातें बनायेंगे।'

शिवरानी देवी से बातचीत के दौरान प्रेमचंद ने नास्तिकता के संबंध में साफ कहा नास्तिकता का तब तक प्रचार संभव नहीं जब तक जनता सचेत नहीं हो जाती। लिखा 'और फिर जो जनता सदियों से भगवान पर विश्वास किये चली आ रही है, वह यकायक अपने विचार बदल सकती है? अगर एकाएक जनता को कोई भगवान से अलग

करना चाहे तो संभव नहीं है।'

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'इस्लाम का विष वृक्ष' किताब लिखी, इस किताब पर प्रेमचंद ने विरोध करते हुए जैनेन्द्र कुमार को लिखा, 'और इन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' ही लिख डाला। इसकी एक आलोचना तुम लिखो, वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रोपेगण्डा का जोरों से मुकाबला करना होगा।'

प्रेमचंद का किसी भी परंपरागत धर्म में विश्वास नहीं था, इस संबंध में उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान मुहम्मद आकिल साहब ने लिखा है 'प्रेमचंदजी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतबार (विश्वास) नहीं है, पूजा-पाठ और मंदिरों में जाने का मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग है। बाज लोगों की तबियत मजहबी होती। बाज उन लोगों की ला मजहबी में मजहबी तबियत रखने वालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबियत रस्मी मजहब की पाबंदी को बिल्कुल गवारा नहीं करती।'

शिवरानी देवी से मजहबी सवाल के जवाब में प्रेमचंद ने कहा 'अवश्य मेरे लिए कोई मजहब नहीं है। मेरा कोई खास मजहब नहीं है।' इसका कारण क्या है? इसका कारण है: धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करने वाली वस्तु संसार में नहीं है। 'आज दौलत जिस तरह आदमियों का खून बहा रही है, उसी तरह उससे ज्यादा बेदरदी धर्म ने आदमियों का खून बहाकर की। दौलत कम से कम इतनी निर्दयी नहीं होती, इतनी कठोर नहीं होती, दौलत वही कर रही है जिसकी उससे आशा थी, लेकिन धर्म तो प्रेम का संदेश लेकर आता है और काटता है आदमियों के गले। वह मनुष्य के बीच ऐसी दीवार खड़ी कर देता है, जिसे पार नहीं किया जा सकता।'

शिवरानी जी ने प्रेमचंद से सवाल किया आप मुसलमानों की ओर हैं या हिंदुओं की ओर? जवाब दिया: 'मैं एक इंसान हूँ और जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूँ और मैं उन्हीं लोगों को चाहता हूँ। मेरे दोस्त अगर हिंदू हैं तो मेरे कम दोस्त मुसलमान भी नहीं हैं और इन दोनों में मेरे नजदीक कोई खास फर्क नहीं है। मेरे लिए दोनों बराबर हैं।'

संपर्क: ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम, कोलकाता-700054, मो. 09331762360

बलीकाव करनी होगी तुलसी की भमभामयिकता भी !!

रमेश कुंतल मेघ

ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी में शुंगों-गुप्तों की आभिजात्य (स्वर्णकालीन) संस्कृति के अनुरागी शैव महाकवि कालिदास प्रकृति-नारी की कांत मैत्री के भी अनुरागी थे। उनके बाद बारह-तेरह शताब्दियों में स्मार्तों के वाणी-विनायक सरस्वती-गणेश, वैष्णव विष्णु राम के श्री-नारायण, शैवों के भवानी शंकर रहे। कालिदास ने प्रकृति-नारी की भव्यता के संसर्ग से शब्द-अर्थ की भी साधना की।

इस लंबे अंतराल के बाद सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव भक्त-कवि तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। इस भाँति हम एक ही महादेशिक संस्कृति के अंतर्गत बहुकालिकता (डायक्रोनी) में अनुप्रवेश करते हैं। इसी के साथ ये दो सांस्कृतिक आकाशदीप शताब्दियों को दीप्तमान करते रहते हैं।

क) इतिहास की निश्चयता एककालिकता (सिन्क्रोनी) में अपेक्षतया सहज-सी होती है। अन्यथा हम वास्तविकताओं से यथार्थताओं में मुठभेड़ करते चलते हैं। कालिदास तथा तुलसीदास, ये हमारे यथार्थता के युग्म भी थे, हैं एवं रहेंगे। यथार्थता के आयामों में गाहे-बगाहे उथल-पुथल से जूझना पड़ता है। शुद्रक ने अपने समय में ब्राह्मण चारुदत्त और वारांगना वसंतसेना का प्रेम समाविष्ट किया। इसी तरह निंदा शाय कालिदास ने प्राकृत मालविका-अग्निमित्र के प्रसंग (कुमार-संभव का भी) या लोकापवाद झेलने के कारण विप्रथित होकर फिर देवी-देवताओं, अप्सराओं, यक्षों को ढाल बनाकर दिग्विजयी अलौकिक (रघु) वंशों के भव्यमार्ग स्वीकार कर लिये। जब सोलहवीं शताब्दी में तुलसी की बारी आई तो उन्होंने भी 'रचि महेस निज मानस राखा' को 'संभु कीन्ह यह चरित सुहावन' पर भक्ति ठँथित कर दी। फलतः वक्ता-श्रोता-पद्धति में प्रश्नावलियाँ जुड़ीं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, काकभुशुंडि-गरुड़ भी आ गए। यही नहीं; वर्णन कर्ता भी ब्याज से सहस्रफणी शेष तथा शारदा, गणेश, गिरा हो गए। इन दोनों के मध्य नर्मदा नदी के मोही, विंध्याचल तथा बहुपत्नियों के अभिकर्ता 'पउमचरिउ' के रचयिता स्वयंभू अवश्य मध्यांतर संक्रांति गढ़ते हैं। अतः अनुहरण करते हुए तुलसी हिमालय तथा गंगा के महाकवि हो जाते हैं 'मर्देकामिल' शाहंशाह अकबर के ज़माने में तुलसी के श्रीराम भी परब्रह्म तथा 'मर्यादापुरुषोत्तम' हो जाते हैं; नियति के बजाय माया का हस्तक्षेप बढ़ जाता है। इसी के साथ ज़माने की चुनौतियों को शिरोधार्य करते हुए तुलसी नये हाशियों में एक ओर शबरी, केवट जैसे पिछड़ी जन जातियों को शान-आन देते हैं तो दूसरी ओर नाना गणचिह्नों (टोटेमों) एवं नैतिक सिस्टमों वाले आदिम कबीलों (ऋक्ष, वानर, गृद्ध, शूर्पनखा, भुशुंडि, मारीच) को सहकारी बना लेते हैं। इस प्रकार नब्बे वर्ष पार के 'तुलसी बाबा' सही प्रश्न से ही सही उत्तर हासिल करके त्रिकालीन प्रतिनिधि हो जाते हैं।

ख) विशेष रूप से तुलसी बाबा के 'मानस' की संरचना (स्ट्रक्चर) विलक्षण है।

अब हम आगे आधुनिक-समकालीन वातायन से ही अवलोकन करेंगे।

'मानस' में मध्यकालीनीकरण है दैवी चक्रों में; पौराणिकीकरण है परंपरा एवं परिवर्तन में (केवट, शबरी, टोरेमिक, कबीले); और कृषकीकरण है (सामाजार्थिक मध्यकाल तथा तत्समकाल का)। इस तिहरी प्रक्रिया से हम क्रमशः मिथक से इतिहास से समाजशास्त्र के आयामों को गतिमान मानते हैं। कमाल यह है कि 'भक्तिकवि' की इस धर्मवृत्ति में धर्म-अध्यात्म-मिथक-आलेखकारी-नृतत्वशास्त्र-समाजशास्त्र-समाजविज्ञानादि गुत्थ गुत्थ हैं। नजरिया: 'सोई पावन सोई सुभग सरीरा' तो हम यहाँ इहलौकिक दुनिया को आवरणमुक्त भी कर सकते हैं। कैसे? 'सप्तप्रबंध सुभग सोपान।' यह सब बालकांड-अयोध्याकांड-अरण्यकांड-किष्किंधा कांड-सुंदरकांड-लंकाकांड के साथ (और अंततः—उत्तरकांड के कलियुग-रामराज्य) में हुआ कैसे?

क्या केवल 'नाना पुराण निगमागम सम्मत होने से? नहीं, नहीं, नहीं, कतई नहीं।

'मानस' की आधारभूत संरचना संवादों तथा सांगरूपकों द्वारा हुई है। उसका प्रयोजन 'मनोवांछित' है अर्थात् कलियुग में संपूर्ण पापों का विनाश करना तथा रामराज्य भी यूटोपिया के प्रारब्ध (डेस्टिनी) को अवश्यंभावी बनाना। प्रकारेण कवि का लक्ष्य है—क्या है? क्या हो सकता है? क्या होना चाहिए?" हाँ, यही भव्य महाकाव्य का आकृतिबंध (पैटर्न) है।

आकार-आकृति की चर्चा करें तो यह शास्त्रीय महाकाव्य के लक्षणों का अतिक्रमण करके सूफियों की मसनवियों के दोहा-चौपाइयों का भी अनुगामी है। इसमें बालकांड वाला अप्रतिम सांगरूपक है, धर्मरथ का महारूपक है। इसमें चार सुंदर संवाद (भुशुंडि-गरुड़, शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, तुलसी-संत) हैं, सुभग सोपान वाले सप्त प्रबंध (कांड) छंद-सोरठा, सुंदर दोहे हैं। अभागे कौवे तथा बगुले भी हैं। सो, अज्ञान (?) के महिषासुर के लिए रामकथा 'कराला काली' है।

प्रश्नावली का चरम तो सती-संदेह तथा परीक्षा है। जाने-अनजाने यह सर्वांगीण समेटता मध्यकालीनीकरण (मिथक), पौराणिकीकरण (इतिहास) ग्राम्यीकरण (समाजशास्त्र) का विश्वकोश (एनसाइक्लोपीडिया) प्रतीत होने लगता है।

ग) अब इसकी टैकनालॉजी (प्रौद्यौगिकी) को भी समझें।

मिथक-इतिहास-समाजशास्त्र के पैरामीटर पर हम दैवीवृत्त, परंपरा-परिवर्तन तथा मध्यकाल-वर्तमान के हाशिये स्पष्ट कर पाये हैं। अब हम दो पाठ्य (टैक्स्ट) ध्रुवीयों को लेते हैं एक पाठ्य-क्लासिकता तथा दूसरी पाठ्य समकालीनता की है।

पहली के अंतर्गत सांस्कृतिक विरासत की कई दशा-दिशाएँ हैं, तथा ज्ञान और सत्य की नई मूल्यात्मक प्रतिपत्तियाँ हैं, यह क्लासिक से लोक को संश्लिष्ट करती है। दूसरी पाठ्यवृत्ति के अंतर्गत इस समाज के लिए युवा पीढ़ी के लिये प्रासंगिकता का आगाज करती-कराती है। यह सत्ता बनाम जनता (राम बनाम जन), सृजन बनाम निर्माण, अर्थात् मानस-संदर्भ में लीला बनाम सांगरूपक की अन्वीक्षा करती है। इस तरह हम तुलसी के समग्र कृतित्व में पाठ्य-पावनता तथा पाठ्य-समकालीनता के हाशिये पाते हैं। यहाँ तुलसी की जीवन-संदृष्टि भी उन्मीलित होती है—उनके कथित विरोधी निर्गुणीये हैं (यद्यपि सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा); साखी-दोहरे-उपाख्यान, वाले कबीर और सूफी से वे परे हैं; नारी-संशय का समाधान पवित्रतावादी मर्दवादी परीक्षाओं द्वारा करते हैं, तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार को ही नैतिक तथा सही मानते हैं। अंततः वे कलियुग में भक्ति (विकास, सामाजिकता, समानता, स्वतंत्रता के बजाय) और मुक्ति को प्रयोजन बताते हैं। इसी अनुक्रम में निष्कर्ष है—राम राज्य की भविष्यवादी यूटोपिया।

स्वयं तुलसी सत्ता एवं संपूर्ण जनता के अंतर्विरोधों को समझाने का रास्ता पर ब्रह्म (राजा) राम तथा ग्रामीण आदिवासी गिरिजन के बीच लोकतांत्रिक जैसी एकता की वकालत करते हैं। (वे प्राकृतजनों अर्थात् राजाओं के विपक्ष में खड़े हैं) उनके लिए कविताई सुरसरि-सम है। मूलतः ग्रामीण-कस्बाई तीर्थकारी तुलसी लोकसंग्रह-लोकमंगल-लोकधर्म-लोकचित्त की बेहद सारगर्भित परियोजना करते

हैं जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल झटपट शिरोधार्य कर लेते हैं; इस कड़ी में रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, मैनेजर पांडेय, तथा (रमेश कुंतल मेघ) शामिल हो जाते हैं। अतः क्या तुलसीबाबा अपने शब्द-आयुधों द्वारा समाज सुधारक बनाम कवि को समानधर्मा बना डालते हैं?

अथच, इस प्रसंग में तुलसी का जीवन-बोध (लाइफ व्यू) का अनुमान लगाया जा सकता है। उसमें राजनीतिक-आर्थिक-पारिवारिक संदर्भों की विचारधारा तथा आर्थिक यूटोपिया खिल-खुल पड़ती है।

अ) उसमें राम बनाम काम के प्रखर अवगुंठित अंतर्निहित द्वंद्व है। कलिकाल में भक्ति तथा रामराज्य में मुक्ति की आस्था... नियति एवं माया के बीच दूसरी ही संचालिका है। कुल मिलाकर तत्कालीन लोक-संग्रह भी संपुष्टि है।

आ) भक्ति के अंतर्गत वे इससे जीवन की व्यावहारिकता के ग्राम्यात्मक पारिवारिक अनुरूपता में अवतरित होते हैं।

इ) उनका समन्वयवाद तो विविध धार्मिक-दार्शनिक-सामाजिक अंतर्विरोधों का सामंजस्य करता है। यह किसी भी आधुनिक समाज की संरचना में काफी समीप है। जब वे भक्त के बजाय एक मामूली ग्रामीण होते हैं तो अपने ढंग से पैराडौक्स के कौतुकों से भी खेलते हैं- राम की छोटी धनुही बनाम शिवधनुष, रथी रावण बनाम बिरथु रघुवीरा, हनुमान जी की जलती पूँछ बनाम सोने की लंका का दहन, कुंभकर्ण का विदूषक तत्व बनाम प्रताड़ित वानर-सेना, वनवासी पति बनाम कोटि मनोज लजावनहारे पतिदेव राम आदि आदि। 'काम' के अनुपम प्रसंगों में शिव-पार्वती का विवाद, नारद-मोह प्रसंग, शूर्पनखा द्वारा राम लक्ष्मण के प्रति मोहाकर्षण। ध्यातव्य है कि देवताओं के शरीर से साधना भी की जाती है, जबकि मानवशरीर द्वारा भोग। (काम श्रीराम के चरणों में निवास करता है।)

तुलसी भी तो आजीवन द्वंद्वग्रस्त रहे हैं। मसलन दोनों 'मंगल' काव्यों तथा 'नहछू' में वैदिक रीति के पश्चात् लोकरीति द्वारा ही संस्कार संपन्न होता है। वे अपने जीवन तथा समाज में व्याप्त भयानक यथार्थ को 'कवितावली' में निर्द्वंद्व खुलकर उद्घाटित करते हुए अद्भुत समसामयिक हो जाते हैं। यारों, दिलवरों! तुलसी तो हमारे जातीय महाकवि जो हैं ('बाणभट्ट की आत्मकथा' जातीय उपन्यास है, राजा

राम मोहन राय 'आधुनिक हिंदू' हैं, गांधी खाँटी जातीय लोकनेता हैं) तो फिर किस गुमशुदा लोकनेता की तलाश में तुलसी बाबा श्रीराम के अलावा कलियुग में ब्राह्मण को ही भू-सुर बना बैठे? हाँ जी उनका आत्मघाती अंतर्द्वंद्व बुझा नहीं है।

तो क्या हेतु तलाशें? चलो, मिथकीय कूटों (कोड) की ओर मुखातिब हों। ये आश्चर्यों, आदर्शों-पात्रों-घटनाओं द्वारा खुलते हैं। इनमें लौकिक कार्यकरण-परिपाटी ढूँढ़ना ज्यादा संगत नहीं है। ये पापनाश (उद्धार), मुक्ति, हृदय परिवर्तन, असुर-संहार, रामराज्य बनाम कलिकाल से जुड़े हैं।

इन्हीं कारणों से समन्वयवाद शनैः शनैः व्यापक संतुलन अभिप्राय (मोटिफ) हो जाता है- राम-शिव, निर्गुण-सगुण, भक्त-प्रभु, जीव-माया। तथापि रामराज्य संतुलन मोटिफ का चरमोत्कर्ष है। इसमें काल को नकारा गया है कि निर्धनता, रोग, क्षय, परिवर्तन व्यवस्था के अभिशाप हैं, न कि प्रारब्ध। कलिकाल में तो इनका ही त्रिताप तथा आतंक है। अतः भविष्य की संयुक्तियों के लिए खोज तथा सिद्धि। संक्षेप में: हनुमान की खोजें, राम की खोजें, विभीषण की खोज। ये खोजें तुलसी के माध्यम से हमें पवित्र देह, पूर्णकाम समाज की ओर लिये जाती हैं अहिल्या-अनसूया-सीता के आधार हमें तारा-रूमा, मंदोदरी, शूर्पणखा-त्रिजटा की नारी-भव्यता तथा प्रणयोदात्य को देह की प्रार्थना सिद्ध करते हैं। यह भी लगता है कि तुलसी बाबा लौकिकता बनाम अलौकिकता से निरंतर जूझते रहे हैं। देवता के बजाय देवत्व के यथार्थ में आकर स्थिर हो गये हैं। मसलन स्वर्णमृग-प्रसंग के बाद श्रीराम की (नर) लीला तथा कर्म के बीच एकात्मक है। अंतर्लीनता कायम होती है। हम मालूम करें कि क्या यथार्थ का विपरीत आदर्श के बजाय क्रांति है (विपरीत तो सत्य है)? अतः यहाँ पात्र तथा घटनाएँ चरित्र ही नहीं रहती बल्कि प्रतीक तथा अवधारणाएँ भी हो जाती हैं। वे किसी न किसी महत् सामाजिक-पारिवारिक-धार्मिक मूल्य को प्रतिष्ठापित करने के संवादी कर्ता है।

मिथकों एवं महाकाव्यों की दुनिया भी परिवर्तनशील है जो समसामयिकता से भी जुड़ती-बिछुड़ती रहती है अर्थात्

उनमें यथार्थ आद्यरूपात्मक (आर्केटाइपल) होता है अर्थात् उनका आदर्श वास्तविकता के विपरीत न होकर आंतरिक अधिभूमिका वाले सत्य को प्रकट करता है। भाईजान, धर्म में जब 'लौकिक प्रमाण' से सदैव बात नहीं बन पाती, तभी 'दिव्य-प्रमाण' की पेशगोई होती है- यथा सती-मोहभंग, सीता की अग्निपरीक्षा, रावण-दरबार में अंगद का पाँव आदि आदि। इसी कड़ी में तुलसी के कलिकाल के समाज से छेड़छाड़ तो करें। उसमें टूटती वर्णव्यवस्था और टूटते कुटुंब की पीड़ा है। अतः बाबा ने किसी पात्र को नरक नहीं भेजा। उन्होंने सब कुछ डरावने पशु-पक्षियों के उपमानों की भरमार करके सामंतीय व्यवस्था की क्रूरता, भय, पाशविकता, रोग, अशिक्षा, आतंक, अन्याय, गरीबी, दुर्भिक्ष, महामारी को दस्तावेजबंद किया है। अतः ये बाबा तो (नागार्जुन की तरह) हमारे समासामयिक भी हैं।

यहाँ जरा विनिर्मिति (डि-कांस्ट्रक्ट) तो करें अगर 'महाभारत' के परिवृत से वासुदेव कृष्ण को हटा दें तो पंच पाण्डव व द्रौपदी सनातन वनवास भोगते हुए गुमनाम हो जायेंगे। फिर अगर 'रामचरितमानस' से अगर हनुमान को हटा दें तो श्रीराम-लक्ष्मण ऋव्यमूक पर्वत में भटकते रहते और मारीच-वध के बाद कोई लीला वीला नहीं कर पाते। ठीक है, न!

अब नतीजा तो निकालें, श्रीमान जी!

तुलसी का एक गहरा घाव जो निरंतर रिसता टीसता है वह अंततोगत्वा दरिद्रता है- दरिद्रतारूपी दशानन। इस निष्कर्ष से उन्होंने अपने सामंतयुग तथा 'रामचरितमानस' की उथल-पुथल-उठापटक कर डाली। इसी तरह 'मानस' के बाद जब उन्होंने जलती चिता से उठकर भागती हुई एक (सती?) नारी को देखा, तब से सदैव के लिए जीवन पर्यंत नारी-अवमानता को खत्म कर डाला। ये दोनों पक्ष ज्यादा प्रासंगिक तथा अजेय हैं। किंवा, चिरंतन वर्तमान हैं।

उन्होंने सामंतीय मध्यकाल में रावण के दस शिरनिर्णित बताये हैं- गरीबी, अकाल (दुर्भिक्ष), महामारी, राजयोग, अशिक्षा, कुशासन, पाप, अग्निकांड, टूटते कुटुम्ब तथा टूटती वर्णाश्रम प्रणाली। यह तो सामंतीय व्यवस्था का सच्चा जनवादी इतिहास दर्शन है। वे और भी पाखंडी मध्यकालीन वास्तविकता को भोगते हैं- उनके संदर्शन में

पशु-पक्षियों की भीड़ (विनय पत्रिका) जमा होती तथा संबोधनों के मुखौटे अपना चेहरा दिखाते हैं- साहेब (महेश), गरीब (नेटाज), सूर-सिरताज। ... यही नहीं, तुलसी बाबा का भाषिक लोक भी अजीब होता जाता है, संस्कृतधारा से विचलन करते हुए नई काव्यकृति (पोएटिक्स) प्रबल होती है-

आखर, अरथ, अलंकृति नाना, छंद, प्रबंध, अनेक बिधाना, भाव भेद, रसभेद अपारा, कबित, दोस गुन, विविध प्रकारा, धुनि, अवरेब, कबित, गुन, जाती, मीन मनोहर ते बहुभाँती। बचन प्रवीन/ कबित विवेक।

ऐसे में उनके रचना संसार में 'द्विपर्ण-विरोध' (बाइनरी अपोजीशन) अनवरत सक्रिय रहे हैं- ब्रह्म-माया, निर्गुण-सगुण, अवतार-उद्धार, ज्ञान-भक्ति, संत-सामंत, नारी-शूद्र, कुल-शील, भक्ति-मुक्ति इत्यादि। सामंतीय वास्तविकता तथा यातना की यह ज्यादा प्रामाणिक जनवादी एस्थेटिक्सा है। वे गणलोक अर्थात् कबीलाई समाज तथा जनगण को आर्य परिधि में शामिल कर लेते हैं। उनके पूज्य गण चिह्न प्रिय हैं। (टो टेम)- वानर, गृद्ध, रीछ या फिर निष्कपट निषाद, शबर आदि, बालकांड के पश्चात् तो सारा इतिवृत्त वन-पर्वत-गुफा-समुद्र आदि में घटित होता जाता है। राम इस तरह मर्यादा पुरुषोत्तम बनते चले जाते हैं। हनुमान में तो कई आयाम गुत्थम-गुत्थ हो जाते हैं। उनका तो अपना महालोक भी है।

इस खंड के अंत में 'द्विपर्ण विरुद्धता' के संसर्ग में क्राँच वध से लेकर सीता के पाताल-प्रवेश तक सर्वत्र करुणा और वियोग के विभाजन-विभक्तियाँ छाई हैं, दशरथ-राम, राम-सीता (हरण) लक्ष्मण-उर्मिला, कैकयी-भरत, राम-कौशल्या, विभीषण-रावण। इसके अलावा कबीलाई धुरी पर सुग्रीव-रूमा, बालि-तारा, मेघनाद-सुनयना, रावण-मंदोदरी भी हैं। ये यौन तथा सेक्स की आदिम, सहज, उन्मुक्त नीति के पालने वाले हैं। नारियाँ विधवा होने पर अन्य की आत्मीय सम्मानीय पत्नियाँ बनकर सुंदर-स्वस्थ जीवन बिताने लगती हैं।

यहाँ तुलसी समन्वय, संतुलन, मोक्ष, पुण्य, पापनाश आदि की तरकीबों का रूपांतरित इस्तेमाल करते हैं। इस भाँति एक कृषक-समाज तथा कृषक-रोमांटिसिज्म के

हाशिये तुलसी को भक्तकवि की टकूर में इहलोक संद्रष्टा भी साबित करते हैं। यह भी प्रकट होता है कि तुलसी ने एक **संकल्पित संप्रदाय** को लिया है। प्रकारांतर से कल्पित-समुदाय की भी छींटे छापी हैं।

घ) अब पात्रा तथा हस्तियों की अशेष चर्चा अथवा जिन्न करें।

एक सबसे पहले नब्बे पार तुलसी बाबा की समसामयिकता।

१) भारतीय लोकजन 'मानस' में निहित आद्य प्रारूपों (आर्केटाइप्स), मिथकों तथा प्रजातीय बिम्बों के निर्माण परिवर्धन में तुलसी की महत्ता (युगजीवणे की शाश्वत् एवम् सामाजिक संकल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिए)

२) ग्रामीण कृषक-समाज और आद्य संस्कृति की ऐतिहासिक और पारलौकिक अनुमितियों-मान्यताओं के बहुरूपी दर्पण (कृषक-समाज तथा कृषक-रोमांटिकता)।

३) मध्यकालीन शाही पवित्र शहरों तथा लौकिक इलाकों का उपनगर-निवेश (टाउन प्लानिंग), प्रशासन, जनसंख्या-रचना (डेमोग्राफी) डगर और गल।

४) आंचलिकता: अवधी, ब्रजी, बुंदेली, लोक रिवाज, लोक प्रथाएँ, लोक संकुल, लोकभूषा

५) अरण्य-संस्कृति का तापसी, सरल, पावन, भोला, उपछायाई दार्शनिक स्वरूप

६) स्वयं वयोवृद्ध (तुलसी बाबा का वर्तमान जीवन-बोध तथा मध्ययुगीन बोध)।

इनके संघट्ट में मध्यकालीन संबोध (अ) दास्य भाव तथा सेवाभक्ति

(ब) राजनीतिक-आर्थिक-पारिवारिक संदर्भों की जागरूकता

(स) सभी नैतिक सांस्कृतिक एवं सामाजिक संबंधताओं का उद्देश्य

(द) राम के प्रति उन्मुखता, हनुमान को माध्यम मानकर आराधना

स्वामी रामानंद के भक्ति-आंदोलन से प्रेरित तीन दिशाएँ- राम बनाम काम, कलिकाल बनाम रामराज्य तथा हनुमान बनाम अनाथ रामबोला। और आज-

संशय से विमुक्ति, लोकमंगल की चेतनता, कृषक मानसिकता की रिद्धियों, दिवास्वप्नों, अपेक्षाओं की जाँच-पड़ताल।।

प्रसंगात् ग्राम-संरचना में दलित तथा पिछड़ी जातियों (परजा-परजउरी) की सूची के प्रति तुलसी जागरूक रहें- नाई, धोबी, दर्जी, माली, कहार, भुंजवा, चूरीहारिन (मनिहारी), गँवहा (चमार), बलाहल (पासी), धड़कार आदि का संबंध किसानों जिंदगी से है। गाँव में इन्हीं को परजा या परजउरी कहते हैं।

अगर तुलना करें तो आधुनिक-वर्तमान भारतीय समाज में भी ये जनभेद कतिपय विद्यमान हैं।

.....

.....

दो: दूसरे नंबर पर तुलसी के कितने राम

पाँच या छै राम अथवा विष्णुराम, परब्रह्म राम

- रामलला नहछूँ मैं ग्राम वित्रम में राजमहल का विभ्रमित रसिक समाज में बालक राम, दूल्हे ठाकुर/ मस्ती, खुलापन।

- रामचरितमानस में परब्रह्म एवं मर्यादापुरुषोत्तम वनवासी रामावतार

- विनय पत्रिका में महाराजाधिराम का (आइने रामीयन) दरबार, सभासदों के साथ जहाँ तुलसी अपने उद्धार की अर्जी पेश करते हैं। गरीब नवाज राम। तदपि परिव्याप्त आतंक-अन्याय तथा भ्रम भी।

- 'कवितावली' में उस समय का भय और दुर्दशा, शिवनगरी काशी की दुर्गति, कलिकाल।

- 'गीतावली' में त्रासद विश्रान्ति (ट्रेजिक रिलीफ) की अनुभूति

- 'जानकी मंगल' अशुभ वेश, अशुभ गण भी शामिल (शिव पक्ष में)।

- पार्वती मंगल- वेदरीति तथा लोकरीति का संगम। इनमें राम सहसंयोजक (को-आर्डिनेटर जैसे हैं)।

- 'हनुमान बाहुक'- तालाबंदी, मोहभंग। तुलसी विक्षुब्ध हैं, पीड़ाग्रस्त। हनुमान से शिकायतें।

(इसी के कंट्रास्ट में **दरिद्रतारूपी रावण** से तुलना करते हुए 'धर्मरथ' का बहुविध सांगरूपक देखें तब योद्धा राम को भी चीन्हें)

तीन: तीसरे नंबर पर राम की विश्व यात्राएँ (इसके पहले अन्य रस तथा भव्य रूपकादि)।

तुलसी के अपरंपार विनयशीलता की पृष्ठभूमि में भी दिक्कतें आती हैं। काल की गति सर्वत्र सम नहीं होती। वह वक्र तथा खंडित तथा सापेक्ष भी होती है। भाववादी चिंतन रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों को भी जन्म देता है। तदपि कला तथा एस्थेटिक्स के बाहर भी मिथक का उन्मीलन होता है। 'मानस' की विवादास्पद स्थापनाओं को हम आधुनिकता के आयाम में खारिज करने के बजाय अंतर्विरोधों की जाँच कर सकते हैं। आजादी की शुरुआत तो रामराज्य के संकल्प से हुई क्योंकि वह कलिकाल तो हमारा भी है। फिर, नई पीढ़ी का तुलसी से शर्तनामा की कैसे शुरुआत करें। संप्रति कबीर तुलसी से आगे तथा नई पीढ़ी में मसीहा हैं। वे विप्लवी (रेडिकल) हैं, तुलसी की तरह संपूर्ण कालोत्तीर्णता में वे पीछे हैं। सो, क्या कबीर के सहवर्तन में तुलसी विरुद्ध नजर आते हैं? इसलिए धर्मभाव और श्रद्धा-अभिवृत्ति से नई शर्तें तय करो। वे मूलतः कवि हैं। इस स्वरूप में इन्हें देखते रहो। सुधारक के स्वरूप में उनकी प्रतिष्ठा शंका के घेरे में आ जाती है। केवल धर्मभाव से 'मानस' का पारायण नहीं करें। उसे इतिहास दर्शन का एक प्रमुख स्रोत बनाएँ। यह एक प्रासंगिक चिंतन की चुनौती है। आज हम भी 'प्राकृत जनो' का गुणगान नहीं कर सकते। तुलसी ऐसे खराबों के जयगान पर अपनी वाणी का सिर धुनवा कर पछताते हैं।

अब यात्राएँ! बुद्ध की तरह राम भी दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया की यात्राओं में चले हैं। वे एशिया के भूगोलयोजक हैं, बुद्ध की तरह महज कुछ टिप्पणियाँ:

जापान की 'रामाएन्शों' में हनुमान अनुपस्थित हैं। एक 'वामायाका' के पाठ में राम वंशीवादक हैं जो अपनी अपहृत पत्नी लिमेमीनी के साथ बच निकलते हैं जब उसका अपहरणकर्ता राजा बारामोन आखेट में गया होता है।

– चीन में रामायण-प्रभाव वानर-साम्राज्य की रचना में हुई। उसमें सुन बू कांग हनुमान हैं। (सोलहवीं सदी में)

– मंगोलिया में राम के साथ वनगमन लक्ष्मण के बजाय भरत करते हैं।

– मलय देश में वानर राजा हिजायत तथा हिमायत मेरी राम आते हैं।

– थाई देश में हनुमान जल अप्सरा पुतेरी ईमान से विवाह करते हैं।

– कंबोडिया अंगकोरवाट में 'रियमकेर' में अंगकोरवाट के मंदिर में रिलीफ में रामकथा उत्कीर्ण है।

– इंडोनीसिया (दसवीं शताब्दी) में काकाविन में कृष्ण तथा अर्जुन श्रीराम और लक्ष्मण से भेंट करते हैं।

ध्यातव्य हो कि राम सेतुबंध से वापस अयोध्या आ जाते हैं। फिर यात्राशर थाईदेश, फिर मलय सुमात्रा बाली में, फिर सुखोथाई में, लवदेश (लाओस) में, माँ गंगा (मीकांग), बंदर सेरी बागेवान (बोर्निया का बंदा श्रीभगवान), काली मंतान (इंडोनीसिया का कालिय मंथन) में फिर चीन, जापान आदि में व्यापारियों-गुरुजनों के द्वारा आच्छादित होकर गोबी के रेगिस्तान तक जारी रही थी। (श्रीकृष्ण तो मणिपुर से आगे नहीं गये।)

आज यह एक करिश्मा ही है कि तब के पवनसुत हनुमान तथा निर्धन अनाथपुत्र तुलसी की यह अनंत एकता है, मिथकेतिहास में। इसीलिए "तुलसीयाना" निरंतर देदीप्यमान है, आज तलक मंत्री जगजीवन राम से लेकर कांशीराम रामविलास पासवान तक।

हाँ हमने कितने रामों, कितने तुलसीयों से साक्षात्कार किया है, करते रहेंगे। तुलसी के राम अनंत, रामकथा अनंता है। यह इतिहास का श्रृंगार तथा गौरव और प्रारब्ध है।

.....

.....

अजीज हमनवाज़! सबसे अंत में सौंदर्य-शोभा तथा प्रकृति के हाशिये अतिरिक्त अनुसंधान की माँग करते हैं जो अविराम बेहिसाब चिंतन की अस्मिता वाला है। तथापि प्रकृति से हम समापन करते हैं। तुलसी की प्रकृति के दो पटल हैं- सागर व वनकांतार, फिर आश्रम में गोष्ठियाँ पहले नैतिकता का उपदेशात्मक अभिग्रहण है। दूसरे में चंद्रोदय देखकर राम द्वारा प्रकृति-सौंदर्य की सहज एस्थेटिक्स वाला है। इसमें राम को प्रतीतिसमानुभूति (इम्पैथी) परक है जिसमें विविधताएँ हैं।

संपर्क: फ्लैट सं. ३ (भू-तल), स्वास्तिक विहार, फेज-III

मनसा देवी कामप्लेक्स, पंचकूला-134109 (हरियाणा), मो. 9780774224

हिंदी जन-शोध: अर्थ एवं अर्थात् की खोज

प्रो. अवधेश नारायण मिश्र, राजीव रंजन प्रसाद

शोध, गहन एवं मौलिक चिंतन की एक विशिष्ट प्रस्तुति मानी जाती है। वैज्ञानिक शोध के तहत पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया सत्य के अनुसंधान में सहायक रही है। 'सत्य' शब्द का प्रयोग यों ही भर नहीं है। सामग्री जुटाना, तथ्यों का संकलन करना, उसका सारणीयन बनाकर बस परोस देना मात्र सत्यानुसंधान नहीं है। "तथ्य संकलन का अगर कोई सिस्टम नहीं है, तो वह सूचना बन कर रह जाता है। विचार में और आगे चलकर ज्ञान में ये होता है कि जो तथ्य होते हैं, वो एक सिस्टम में आते हैं। वे सिर्फ 'इन्फार्मेशन' नहीं रह जाते हैं। और विचारधारा का महत्त्व भी यही होता है कि वे तथ्यों को एक व्यवस्था देती है, इतिहास-बोध भी यही करता है तथ्य तभी सत्य बनते हैं।"^१ भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दृष्टियों में अनुसंधान अनुकरण नहीं; नवीकरण है। शोध को अपने देश में सदैव श्रेष्ठ कार्य समझा गया। शोध-कार्य में जुटे लोगों को सराहा गया। उन्हें अतिरिक्त मान, प्रतिष्ठा एवं यश की प्राप्ति हुई। यह देखना दिलचस्प होगा कि, "भारतीय मनीषा में वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिकता भी है और सूक्ष्म, पारदर्शी दार्शनिकता भी।"^२ "इस परंपरा में कई भारतीय इतिहासकार, भाषाविद् और पुरातत्त्वज्ञ भी शामिल हैं जिनके शोध, विश्लेषण और निष्कर्ष सर्वमान्य दंतकथाओं से बिल्कुल उल्टी दिशा में ले जाते हैं। हमारे शिक्षा संस्थानों और शोध-केन्द्रों में आज अगर यह धारा उपेक्षित, विस्मृत या बहिष्कृत है तो इससे इन क्षेत्रों पर साम्राज्यवादी चिंतन और उसके अंधानुकरण की जकड़बंदी ही साबित होती है।"^३ इन अर्थों में अन्तर्विषयी शोध (Interdisciplinary Research) का योगदान अप्रतिम है; क्यों यह व्यावहारिक और जनोपयोगी शोध की दिशा में सार्थक पहलकदमी है। साथ ही, अपर्याप्त की यथासंभव प्रतिपूर्ति भी। शब्दार्थ के स्तर पर 'अनुसंधान' मनुष्य की समस्त गतिविधियों और उसके प्रेरक अंतश्चेतना की खोज है। यह सार्वभौम मूल्यों की खातिर सार्थवाह की भूमिका निभाता है। इससे जन-समाज की चेतस सत्ता गतिमान-गतिशील अथवा विकासमान-विकसनशील बनी रहती है।

शोध: गहरे पानी पैठने की तमीज

शोध 'शुध' धातु से बना है जिसका अभिप्राय है- 'परिष्कृत' या 'प्रमाणित'। यानी प्रमाणीकरण और परिष्करण द्वारा तथ्यों का ज्ञान अथवा उसकी पुनःप्राप्ति शोध है। शोधकर्ता के समक्ष आदर्श लक्ष्य होते हैं- १) नवीन तथ्यों की खोज, २) तथ्यों या सिद्धांतों की नवीन व्याख्या और ३) वैज्ञानिक आधारों पर तथ्यों की सम्यक् प्रस्तुति। पारिभाषिक तौर पर सबकी एकमत है कि, "नवीन अनुमानों, प्रमाणों, प्रयोगों एवं व्याख्याओं के द्वारा तथ्यों में निहित सत्त्यों को प्रामाणिक बनाने की प्रक्रिया ही शोध (Research) कहलाती है। "यहाँ इस ओर भी संकेत दे देना असमीचीन न होगा

कि ऊपर से नया दिखने वाला हर सिद्धांत नया सिद्धांत ही हो- यह आवश्यक नहीं। यह भी संभव है कि नया दिखने वाले सिद्धांत के आधारतत्त्व तो पूर्ववत् बने रहें और अंतर केवल उसको अभिव्यक्त या व्याख्यायित करने वाले उपादानों में ही हो। ऐसी स्थिति में उसे नए सिद्धांत की संज्ञा देना, ज्ञान-क्षेत्र के विकास करने वाले उपादानों में ही हो। ऐसी स्थिति में उसे नए सिद्धांत की संज्ञा देना, ज्ञान-क्षेत्र के विकास की ऐतिहासिकता को झुठलाना होगा। नए सिद्धांत के लिए यह जरूरी है कि वह नए संदर्भ को ही न केवल उभारे, पर अपनी नई अभिव्यक्ति या व्याख्या की प्रेरक-शक्ति के रूप में नए आधारभूत प्राक्कथन (axiom) को भी वह जन्म दे। नया सिद्धांत न केवल संप्रति पाई जाने वाली असंगतियों के निराकरण में समर्थ होजा है वरन् ज्ञान के तत्कालीन पूरे आयाम (पैराडाइम) को ही बदल डालने की शक्ति रखता है। कवि एवं आलोचक अशोक वाजपेयी का यह कहना समीचीन है कि, “शोधकर्ता को सदा स्मरण रखना चाहिए कि उसके हर वाक्य का महत्त्व है। यहाँ तक कि विरामचिह्न भी महत्त्वपूर्ण है। वह एक जिम्मेदार विद्वान है और जो कुछ लिख रहा है वह पूरी जिम्मेदारी के साथ, पूर्ण ईमानदारी के साथ लिख रहा है। जिस बात को वह स्वयं जाँच नहीं कर सका और फिर भी उसका देना आवश्यक है, उसे पूरी ईमानदारी के साथ उसी पुस्तक से उद्धृत बताना चाहिए जहाँ से वह बात ली जा रही है।”^{१४} अशोक वाजपेयी ने इस बारे में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के एक मत का उल्लेख किया है, उद्धरणों को शुद्ध रूप में देना शोधकर्ता का विशेष उत्तरदायित्व है। यह मानकर चलना चाहिए कि गलत संदर्भ बताना और अशुद्ध उद्धरणों से प्रबंध को धरना लज्जाजनक बात है। मूल वाक्य (उसी भाषा में) उसी समय उद्धृत करना चाहिए जब उसकी अनिवार्यतः आवश्यकता हो। अंग्रेजी वाक्यों को भाषा में उद्धृत करने की आदत उस समय हास्यास्पद हो जाती है जब रूसी, जर्मन आदि भाषाओं से अनूदित पुस्तकों को मूल अंग्रेजी में लिखा मानकर उद्धृत किया जाता है। लंबे अंग्रेजी उद्धरण हमारे शोधकर्ताओं के आत्मविश्वास का अभाव, अपनी भाषा को सही-सही मानों में असमर्थ समझने की प्रच्छन्न हीनभावना और यूरोपीय

भाषा को आभिजात्य मानने की भूल अपनी हीनता-ग्रंथि का परिचायक है।^{१५} प्रो. अपूर्वानंद की दृष्टि इस किस्म की दृष्टि अथवा पूर्वाग्रह से बचने का माकूल सलाह देती है, “शोध का पेशा किसी भी वैचारिक आग्रह को शोध की पद्धतिगत दृढ़ता के ऊपर तरजीह नहीं दे सकता। जब कोई कहता है कि उसका मानना है कि आर्य भारत से बाहर गए थे, इसे सिद्ध करने के लिए शोध होगा, तो वह शोध की पेशेवर गरिमा से समझौता कर रहा है। या अगर कोई इतिहासकार अशोक को कुशवाहा सम्राट घोषित करता है तो वह अपने पेशे के साथ धोखा कर रहा है।”^{१६}

‘Research’ में ‘Re’ उपसर्ग सूक्ष्मतर सत्य को नवीनतम ढंग से उद्घाटित करता है। उक्त सूक्ष्मता की ओर निरंतर बढ़ते रहने की प्रक्रिया को पंडितराज जगन्नाथ ने ‘पुनः पुनः अनुसंधानात्मा’ कहा है। फ्रांस के फिल्म सिद्धांतकार आन्द्रे बार्जे ने माना है कि, “अपने दर्शकों के लिए सिनेमा एक खिड़की की तरह होती है, ऐसी खिड़की जिसे खोलने के बाद बाहर की दुनिया दिखाई जा रही हो।” शोध का काम इसी तरह की भूमिका का निर्वहन है जिसमें हम अपने समकालीन समय-समाज को भूत और भविष्य के बीच उचित रीति से सहमेल दिखाते हुए वर्तमान में गढ़ते हैं, एक सिद्धांत के रूप में, एक विचार के रूप में किंतु उचित रीति से, सम्यक् अध्ययन-विश्लेषण के साथ। अनुसंधान में जुटा शोधकर्ता की मूलप्रवृत्ति अथवा अभिवृत्ति सत्य का पता लगाना और उसे प्रामाणिक ढंग से लोगों के समक्ष कुछ इस तरह सामने लाना है कि उसकी सत्यापनशीलता संभव हो सके। यह एक दुष्कर कार्य है जिसमें सामान्य अभिरुचि अथवा योग्यता से काम नहीं चल सकता है। इसके लिए एक शोधकर्ता में निम्न गुणों का होना आवश्यक माना गया है- जिज्ञासा (curiosity), वस्तुनिष्ठता (objectivity), धैर्य (patience), साहस (courage), कठोर परिश्रम (hard work), निर्माणक कल्पना शक्ति (creative imagination) आदि। शोधार्थी के इन गुणों को पुख्ता करने में निर्देशक की भूमिका अन्यतम होती है। एक अच्छा शोध-निर्देशक शोधार्थी के सही और गलत दिशा में किए गए शोध कार्यों का ही अन्तर्वीक्षण नहीं करता है, अपितु वह शोधार्थी के सामग्री संकलन की रीति, अवलोकन

की विधि, चयन का आधार, सर्वेक्षण की पद्धति, विश्लेषण के निकष का भी निरीक्षण करता है। शोध-निर्देशक अधिक संतुष्टि पाता है जब वह देखता है कि शोधार्थी इन तथ्यों को सिर्फ विश्लेषित एवं सत्यापित ही नहीं कर सकता है, बल्कि वह प्राप्य निष्कर्षों का अभिकथन देने के अतिरिक्त उसकी पुष्टि भी कर सकता है।

हिंदी में 'शोध' के समानांतर और कई शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं। यथा: अनुसंधान, अनुशीलन, परिशीलन, गवेषण, अन्वेषण, खोज आदि। वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक शोध के लिए अनिवार्यतः जिन चीजों की आवश्यकता पड़ती है, वे हैं- १) अभिरुचि, २) उचित विषय ३) शोधकर्ता ४) मार्गदर्शन, ५) शोध-सामग्री, ६) शोध का स्थान, ७) उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, ८) सम्यक् प्रोत्साहन, ९) सकारात्मक माहौल, १०) आर्थिक सुरक्षा आदि। भारतीय मतावलम्बी मानते हैं कि- 'लङ्घ्य सम्भागा पुण्वकं, अभिनव चिन्तनं परिशीलन'। अर्थात् पहले से ही प्राप्त सामग्री की पृष्ठभूमि में अभिनव चिन्तन शोध है। वस्तुतः शोध का मुख्य लक्ष्य है:

१) विक्षिप्त का संग्रह: जो सामग्री यत्र-तत्र विकीर्ण रूप में उपलब्ध है, उनका संग्रह कर एक साथ नए ढंग से रखना।

२) उक्त का उपपादन: यहाँ 'उक्त' का अर्थ है 'कथित' अर्थात् कहा हुआ; 'उपपादन' का अर्थ है विस्तार। यानी सम्यक् कथन, अभिनव कथन इत्यादि। अतः उक्त का उपपादन कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्व में कही हुई सामग्रियों का आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को जानकर उसके अनुरूप व्यवस्थित किया जाए। इसे ही उपपादन कहते हैं।

३) अनुक्त का कथन: जो बातें पहले नहीं कही गई हैं, उनका कथन।

शोध-अनुसंधान की अकादमिक स्थिति

ज्ञान-परंपरा समाज द्वारा सृजित सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक निधि और मानवीय उपलब्धि है जिसे नए ज्ञान के निर्माण द्वारा समृद्ध किया जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, "नए युग का ज्ञान पुराने युग के ज्ञान से जुड़ा होता है। आर्थिक बुनियाद में बदलाव होने से नए युग का

आरंभ होता है, किंतु पुराने युग से संपूर्ण और निरपेक्ष रूप से नाता नहीं टूटता। नाता टूटता है, इसीलिए नए युग का आविर्भाव होता है; नाता नहीं टूटता क्योंकि पुराने ज्ञान के आधार पर ही नए ज्ञान का विकास होता है। परिवर्तन और विकास की यह प्रक्रिया सदैव द्वंद्वात्मक हुआ करती है।"^{१०} आधुनिक विचारकों में महत्त्वपूर्ण स्तंभ एडवर्ड सैड का कथन द्रष्टव्य है, - "मेरे विचार से ज्ञान की खोज विश्वविद्यालय में और मैं आशा करता हूँ बाहर के जीवन में भी एक वैयक्तिक प्रतिबद्धता है जिसके साथ जुड़ी है अंतहीन छानबीन, अथक तलाश और असीम संदेह। किसी अध्यापक द्वारा या किसी पुस्तक के अध्ययन द्वारा भले ही वह पुस्तक कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, इसकी जरूरत एकमुश्त पूरी नहीं की जा सकती।" इस तरह एडवर्ड सैड ने अपने अनुभूत और अर्जित ज्ञान को अस्थायी माना है, जिसमें फेरफार अथवा समुचित बदलाव संभव है। ध्यातव्य है कि, वर्तमान में, 'अनुसंधान' सांस्थानिक महत्त्व के घेरे तक सिमटे हुए मात्र हैं। यद्यपि विश्व-विद्यालयी शोध-कार्य केन्द्रीय भूमिका में है, किंतु ये अकादमिक संस्थान समाज में पसरे अधिसंख्य समस्याओं के बारे में बातें अच्छी कर लेते हैं लेकिन समाधान एक भी नहीं देते। अर्थात् वे समस्याओं को गिनाते हैं, संबंधित आँकड़ों को जुटाते हैं, तथ्य देते हैं, संदर्भ पेश करते हैं, ब्यौरेवार वर्णन करते हैं; लेकिन भाषा में प्रस्तुत सारे कार्यकलाप गुणात्मक कम मात्रात्मक बटोर अधिक दिखाई देते हैं। इस बारे में यह आलोचनात्मक टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है कि, "वर्तमान समय में शोध एक जिज्ञासा और नवान्वेषण की भावना से नहीं हो रहे हैं। शोधार्थी विश्लेषण और संश्लेषण की नई विधियों से अपरिचित हैं, वे उन्हीं शीर्षकों को चुनवाना चाहते हैं जिन पर एक ही स्थान में सामग्री मिल जाए और जिनकी प्रकृति विश्लेषणात्मक के बजाए संग्राहक हो, वे स्वयं किसी भी विषय की धारणा नहीं रखते और अपने अधीक्षक द्वारा चुने गए विषय पर बेसमझे काम शुरू करके जल्दी छुट्टी पाना चाहते हैं; वे किसी भी शोध संस्था तक में अनमने ढंग से जाने को तैयार होते हैं।" इसके लिए पूरा शैक्षणिक परिवेश और उसके कर्ता-धर्ता जिम्मेदार हैं। अज्ञेय सही कहते हैं, 'शिक्षण भी तो आज व्यवसाय है,

और युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर के अपने को 'कुलपति; कह लेने से स्थिति बदल थोड़े ही जाती है। बकरे को आप कामधेनु कहिए, कह सकते हैं; और काफी चिल्ला कर और दुराग्रह से कहेंगे तो सामने वाला कोई भी भला आदमी चुप हो जाएगा कि कहने दो; पर इतने पर ही गलस्तन से दूध नहीं दुह लिया जा सकेगा, किसी दूसरे इष्ट की तो बात ही क्या।'^{१४}

कार्ल जास्पर्स का कथन अत्यंत समीचीन मालूम देता है कि, विश्वविद्यालय प्रतिरूप ऐसा हो जो एक साथ एक व्यावसायिक स्कूल, एक सांस्कृतिक केन्द्र तथा एक शोध-संस्थान हों। शोध स्वयं में ज्ञान के संपूर्ण में अनुप्रवेश पर तथा सभी प्रकार के विशेषज्ञों से विनमय के अवसर पर निर्भर करती है। लेकिन विद्याडम्बरी और विषयासक्त अध्येता भौतिक सुविधाओं के पीछे ही व्याकुल रहें तो विश्वविद्यालय दरिद्र हो जाता है। यह तब भी दरिद्र हो जाता है जब वहाँ केवल भाषा विज्ञान होता है, दर्शन नहीं; केवल साहित्य होता है, संस्कृति नहीं; केवल तकनॉलजी होती है, सिद्धांत नहीं; अनन्त तथ्य होते हैं, विचार नहीं।' वस्तुतः "मीडिया घराने मार्केटिंग रिसर्च कराते हैं जिसके आर्थिक उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट होते हैं। बाकी जो अध्ययन होते भी हैं, तो वे मीडिया के विषयवस्तु विश्लेषण में उलझकर रह जाते हैं। विश्वविद्यालयों और मीडिया संस्थानों में भी वैचारिक-सैद्धांतिक अध्ययनों की बुरी हालत है। पूरा जोर विद्यार्थियों को मीडिया उद्योग में कामगार बनाने वाले कौशल सिखाने पर ज्यादा रहता है, नतीजतन मीडिया से संबंधित गंभीर शोध बहुत कम हो पाए हैं।'^{१५} हिंदी में संचार शोध की स्थिति और दयनीय कही जा सकती है। हमने हिंदी में शोध-परंपरा की तमीज विकसित ही नहीं होने दी। इस लिहाज से देखें, तो 'शेरिफ ने संस्कृत भाषा के लिए, ग्रियर्सन ने हिंदी की बोलियों के लिए, ग्राउस ने मथुरा-वृंदावन के पुनर्निर्माण के लिए और कर्निघम ने पुरातत्त्व के लिए जिस निरासक्त भाव से भारतीय संस्कृति के समन्वय को प्राथमिक जांच-पड़ताल का और तमाम जानकारी व्यवस्थित रूप से रखने की कोशिश की है, वह उस क्षेत्र के अनुसंधानकर्मियों को आज भी चुनौती देती है।'^{१६} ऐसे में अनायास विश्वविद्यालय जड़ता से घिर जाते हैं। शिक्षाविद्

डॉ. जाकिर हुसैन की दृष्टि में, 'स्वस्थ वैचारिकी एवं पारदर्शी ज्ञान-व्यवस्था नहीं होने के कारण विश्वविद्यालयों में बौद्धिक और दार्शनिक वाद-विवाद का स्वतंत्र संप्रेषण नहीं हो पाता। उच्चतर शिक्षा की वृद्धि के कारण नौकरियों की संख्या बढ़ी है और इसके साथ ही सुयोग्य प्रशिक्षित शोधार्थियों की कमी हुई है जिन्हें अनेक संकीर्ण आधारों पर चुनाव किया जाता है ताकि जाति, नेता, गुटनेता, गुरुनेता की गद्दी न डगमगाए।' अवांछित कारकों की इसी घुसपैठ के कारण मानव-जाति की गतिशीलता का बहुभाषायी, बहुविषयी, बहुपाठीय और बहुआयामी अध्ययन अकथित एवं अलिखित ही रह गया है। जबकि "शोध-कार्य, वस्तुतः प्राप्य ज्ञान को चुनौती देकर-आंदोलित कर उसकी अतिरिक्त उपलब्धि की नई दिशाएँ खोलता है।" तत्संबंधी मानव-सर्जना का तो लालित्य और नयापन मानव मस्तिष्क में उपजता है वही मनुष्य का 'आनुसंधानिक इतिहास' है तथा संभाव्य चेतना से पूरित वास्तविक दिशा-दृष्टि भी। इसकी वैज्ञानिकता और समकालीन अनिवार्यता को पुष्ट करने के लिए कार्य-कारण विश्लेषण आवश्यक है जो कि तार्किक स्तर पर परिणत होता है; और प्रासंगिक शोध का मुख्य अभिलक्ष्य माना जाना चाहिए। ऐसा नहीं होने पर शोध की दिशा-स्थिति महज एक 'कोरम' बनकर रह जाती है। डॉ. महीप सिंह कहते हैं, "हिंदी में तो शोध-प्रबंध प्रकाशित होते हैं। उनमें से विरले ही ज्ञान के क्षेत्र में कोई विशिष्ट योगदान कर पाते हैं। कई तो बस परिपाटी का निर्वाह भर होते हैं और इनके चक्कर में उन गंभीर शोधार्थियों का बहुत बुरा होता है जो अपना काम ठीक से करना चाहते हैं।"

जन-शोध यानी मीडिया शोध: एक गंभीर अनुशासन
संचार में 'शोध' की भूमिका एवं कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। किसी भी कार्य का अस्तित्व उसके प्रयोजन, उसकी अपेक्षाएँ आदि द्वारा निर्धारित होता है। संचार के तत्त्वों की शोध समाज-व्यक्ति-संसाधनों के बीच सम्यक् तालमेल, परस्पर भूमिकाओं एवं आगत के लिए श्रेष्ठ आधार उपलब्ध कराए जाने को लेकर अर्थपूर्ण होती हैं। संचार-विशेषज्ञों की दृष्टि में संचार-शोध के माध्यम से समाज को एक बेहतर दिशा, प्रभावी नीति, स्थितियों का सटीक आकलन एवं समस्या-निवारण के बेहतर विकल्प

पहलू उपलब्ध होते हैं। हम कैसे बेहतर समाज, बेहतर व्यक्ति तथा बेहतर परिप्रेक्ष्यों की ओर उन्मुख हो सकते हैं, यह इन्हीं शोध के माध्यम से रेखांकित किया जा सकता है। वस्तुतः मानवीय संस्कृति एवं मानव मस्तिष्क की संरचनाओं में संचार की प्रमुखता अनिवार्य है। मानव-हित, लोक-हित, जन-हित की दृष्टि से संचार हमारे व्यक्तित्व विकास एवं क्रिया-व्यवहार का मुख्य अंग है। रेमण्ड विलियम्स के मुताबिक, टेलीविजन देखना, अखबार पढ़ना और पत्रिकाओं को पढ़ना भी मुख्यतः एक शैक्षणिक अनुशासन एवं शिक्षण-प्रक्रिया ही है। औपचारिक शिक्षा के आयोजन में लगने वाले संसाधनों की तुलना में इस तरह की शिक्षा में अधिक संसाधन लगाए जाते हैं और इसका प्रभाव भी अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है। संचार-शोध इस तरह की गोचर-प्रवृत्तियों पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करता है। अनुप्रयुक्त संचार में प्रयोगशील भाषा का व्यावहारिक पक्ष बेजोड़ है जिससे विषयवस्तु का नामकरण होता है; स्थूल-सूक्ष्म पहचान होती है। अंततः उनका ज्ञापन और प्रकाशन होता है। प्रत्येक भाषिक संप्रेषण विशिष्ट संचार-प्रारूपों और विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों को संबोधित होता है। भाषा और ज्ञान को सामाजिक वर्ग या विशिष्ट समुदाय मात्र से नत्थी करके देखना सही नहीं है। भारत जैसे बहुभाषाभाषी और बहुलतावादी देश में इनका प्रयोग और निरंतर संप्रेषण व्यापक अभिव्यक्ति के दायरे में होता है। यथा: अनुक्रिया, प्रतिक्रिया, अंतःक्रिया, संलाप, संवाद, प्रोक्ति, उक्ति, कथन, वक्तव्य आदि। “भारतीय प्राचीनता का संदर्भ लें, तो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से शुरू कर उपनिषदों, महाकाव्यों, षड्-दर्शन, बौद्ध और जैन चिंतन, भक्ति काव्य आदि में गहरी प्रश्नाकुलता है। धर्मों, भाषाओं, पवित्र ग्रंथों, जीवनशैलियों, भोजन और वेश-भूषा आदि में भारतीय बहुलता रही है। प्राचीन भारत ज्ञानोत्पादन में अग्रणी था: दर्शन, विज्ञान, गणित, स्थापत्य, भाषा-चिंतन, साहित्य और कलाओं के शास्त्र निर्माण आदि इसका विपुल साक्ष्य है। भारतीय परंपरा का खुलापन भी उल्लेखनीय है। कितनी जातियाँ, संप्रदाय, शरणार्थी, आक्रांता, भगोड़े, मत-विमत, जीवनशैलियाँ, सन्नियाँ और फूल-पौधों, विचार आदि इस परंपरा में शामिल और आत्मसात होते रहे हैं।”^{११} यह

दुःखद है कि हमारा वर्तमान इस प्रकार के स्वतंत्र चिंतन दृष्टि से परिचालित नहीं है और न ही वास्तविक इतिहास बोध से जुड़ा हुआ है। यदि ऐसा होता, तो हमारे समक्ष संस्कृति-विमर्श और सभ्यागत संकट के प्रश्न नहीं सालता। अपनी सामाजिक व्यवस्था का मूल्यहीन होना आज एक ऐसी सच्चाई है तो हमारे अतीत की क्रूरताओं, भेदभाव, उत्पीड़न, शोषण आदि में उत्तरोत्तर इजाज़ा कर रहा है; कुल आध्यात्मिकता, आधुनिकता एवं प्रगतिशीलता के बावजूद। इस दृष्टिकोण से देखें, तो संचार-शोध का क्षेत्र व्यापक और अनुशासन-तंत्र बहुआयामी है। यह माना जाता है कि शोध-कार्य की प्रकृति नवोन्मेषी तथा अन्तरानुशासनिक हो, तो शोध के स्तर एवं गुणवत्ता में काफी फर्क दिखाई पड़ता है। अतएव, आधुनिक संचार-शोध के अंतर्गत होने वाले शोध-कार्यों का व्यावहारिक महत्त्व जितना अधिक हो और वे क्षेत्राधृत प्रकृति की हों, तो उनकी उपादेयता वैसे ही बढ़ जाती है। यथा: समाजवैज्ञानिक संचार-शोध, समाजभाषावैज्ञानिक संचार शोध, मनोविश्लेषणवादी वैयक्तिक संचार शोध आदि।

मीडिया-शोध का उद्देश्य

सर्वप्रथम संचार शोध उद्देश्य को देखें, तो तीन महत्वपूर्ण चीजें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं- १) किसी समस्या का आकलन, २) किसी तथ्य, घटना या स्थिति का वर्णन, ३) किसी तथ्य, घटना या स्थिति के निवारणार्थ व्यवस्थाएँ। इसके अतिरिक्त जन-मन का लोकतंत्रीकरण एवं चेतना का आधुनिकीकरण संचार-शोध का मुख्य प्रदेय है। लोकतंत्रीकरण एवं आधुनिकीकरण से अभिप्राय है: ‘व्यक्ति की स्वाधीनता, मानवाधिकारों की गारंटी, समता, समान अवसर, सामाजिक शांति, वर्गीय सहमेल, लैंगिक समानता, सांप्रदायिक सद्भाव, संपन्नता, सामाजिक प्रगति, आधुनिकता, वैज्ञानिकता, अन्तरराष्ट्रीयता, आध्यात्मिकता, विचारधारा आदि; तो आधुनिकीकरण का अर्थ है-प्रश्नवाचकता, बहुलता, ज्ञानोत्पादन, खुलापन, वस्तुनिष्ठता, निष्पक्षता, पारदर्शिता, निरंतरता, व्यापकता, बहुकोणिय, बहुदेशीय, बहुआयामी, बहुविधायी आदि। मूलतः ज्ञान की अभिवृद्धि के लिए जिज्ञासा और अनुसंधान दोनों जरूरी हैं। मनीषी साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन अपनी पुस्तक ‘विविध प्रसंग’ में मानते

हैं कि- 'जिज्ञासा ही दुनिया के बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों के करने में कारण हुई। यदि गैलिलियो बाइबिल के कहे अनुसार पृथ्वी को चिपटा मान लेता, तो उसे पृथ्वी के गोल होने का भान न होता। यदि कैपलर बाइबिल के सूर्य-भ्रमण को निभ्रात मान लेता, तो पृथ्वी के घूमने के अपने तीन नियमों का कहाँ से आविष्कार करता। वस्तुतः ग्रंथ के स्वतः प्रमाण मानने पर न्यूटन गुरुत्वाकर्षण का पता न लगा सकता और आइन्स्टाइन उसके संशोधक सापेक्षता के महान सिद्धांत का आविष्कार कर सकता।'^{१२} राहुल सांकृत्यायन का मानना था कि ग्रंथ अपने समय की रूढ़ियों, अंधविश्वासों और अज्ञातों से जकड़े होते हैं वे अपने समय के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवहारों के परितोषक होते हैं। अतः अज्ञात को ज्ञात करने का अथवा ज्ञात के बारे में नवीन एवं मौलिक ज्ञान प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण माध्यम शोध ही है। संचारविज्ञानी अध्ययन यह बताता है कि हमारे देश में जहाँ अशिक्षा और गरीबी के कारण माध्यम-लाभार्थी कमजोर हैं वहाँ प्रश्न पूछने का दायित्व संचार-शोधार्थियों पर जाता है। लेकिन यह जोखिम भरा काम है और कठिन भी है। मीडिया-शोधार्थी को अपने अनुशासन से जुड़े सभी परियोजनाओं का समग्र अध्ययन करना होगा तथा समस्याओं की जड़ में जाना होगा। यह प्रक्रिया लम्बी एवं शोधपरक होनी चाहिए ताकि जनमाध्यमों से आमजन को वास्तविक लाभ मिल सके। इस दृष्टि से एक संचार-शोधार्थी को निम्नांकित प्रक्रिया का निर्वाह करना पड़ता है: १) शोध-विषय या मुद्दे का चुनाव एवं शीर्षक निर्धारण, २) उपकल्पना एवं उद्देश्य तय करना, ३) सर्वेक्षण एवं तथ्य संग्रहण, ४) विशेषज्ञों से परामर्श, ५) जनमाध्यम के लाभार्थियों से संपर्क, ६) शासकीय एवं अशासकीय संस्थाओं से संपर्क, ७) अवलोकन ८) आलेखन एवं संपादन, ९) प्रस्तुति-प्रक्रिया, १०) चरणबद्ध मूल्यांकन, ११) निष्कर्ष की प्राप्ति, १२) परिशिष्टों एवं संदर्भों का निर्माण आदि। अस्तु, मीडिया शोध में शोधार्थी के सामने तथ्य मौजूद होते हैं। उसे उनमें से अपने ज्ञान एवं सूझबूझ द्वारा नवीन परिप्रेक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। 'प्रयोग' एवं 'विश्लेषण' के द्वारा वैज्ञानिक-शोध की प्रविधि को अपनाकर उसको कार्य रूप में परिणत किया जाता है। एक गंभीर एवं जवाबदेह

शोधकर्ता की कसौटी है- १) विशिष्ट लक्षणों में निहित ज्ञान का मूल स्रोतों से एकत्रीकरण, २) सामान्य सिद्धांतों का उद्घाटन, ३) सजगता, ४) योजनाबद्धता, ५) सुव्यवस्थित खोज, ६) तर्कपूर्ण निर्वैयक्तिक दृष्टि, ७) धैर्यपूर्ण एवं शीघ्रतारहित कार्य संलग्नता आदि। इस कसौटी का अगला चरण है- १) तथ्यों का वर्गीकरण, २) तर्कयुक्त सुव्यवस्थित मीमांसा और ३) विश्लेषण-संश्लेषण।

मीडिया शोध: नवता पर नजर, नवीनता की पहचान

संचारविज्ञानियों का स्पष्ट मत है कि जनमाध्यमों में आने वाले आम-आदमी नहीं है। यह आदमी वास्तविक है। उसका अपना अस्तित्व है। घर है, खेत है या व्यवसाय है। यहाँ गाँव-घरों में रहने वाला वास्तविक आदमी संचार-कार्यक्रम में भाग लेता है तथा अपने आस-पास की आर्थिक-सामाजिक क्रियाओं में नेता तथा अनुयायी की भी भूमिका अदा करता है। खेतों और उद्योगों में या व्यवसायों में कार्यरत आदमी इन संचार-माध्यमों द्वारा अपनी संघर्ष-गाथा, सफलता, सपने तथा विचारों को समाज के विकास के लिए प्रस्तुत करता है। यह जनमाध्यमों द्वारा अपना एवं समाज दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह मानकर चलना होगा कि जो समाज जितना अधिक संगठित होगा वह उतना ही प्रसन्न एवं संपन्न होगा। तनावों के कारण समाज में विघटन उत्पन्न हो जाता है। दरअसल, हर समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं तो असामाजिक व्यवहार करते हैं और समाज में कठिनाइयाँ उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। संचार शोध व्यक्तियों के व्यक्तित्व विकास एवं व्यवहार संबंधी अनुक्रियाओं का स्थूल-सूक्ष्म अध्ययन करते हैं क्योंकि समाज में व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता ही पड़ता है। वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन की गति अत्यंत तीव्र है। पुराने आदर्श, मूल्य, जीवन-प्रतिमान तीव्र गति से बदल रहे हैं। सामाजिक परिवर्तन की इस परिघटना से समाज भैतिक रूप से विकसित हो रहा है, तो मानवीय रूप से विघटित। संचार शोध अपनी अध्ययन एवं शोध-प्रणाली द्वारा इन परिवर्तनों, प्रतिक्रियाओं, परिघटनाओं आदि का वास्तविक पहलू अथवा पक्ष उद्घाटित करते हैं। वह यह भी जानने का प्रयास करते हैं कि सामाजिक दृष्टि से वंशानुक्रम (Reredity) की भूमिका क्या है और किन

सीमाओं तक व्यक्ति उससे बँधा हुआ है। इन दिनों युवा जीवन में उपद्रव, असंतुलन, तनाव, अवसाद, संघर्ष, नशे की लत, अति महत्वाकांक्षा आदि की बाढ़-सी आ गयी है। इस पर नियंत्रण करने और इसका समुचित समाधान तलाशने की दिशा में संचार शोध जरूरी हो गया है। राजनीतिक भ्रष्टाचार ने जनतंत्र की उपस्थिति को हास्यास्पद बनाकर रख दिया। जनतांत्रिक गतिविधियों एवं कार्यवाहियों में आपराधिक, दागी, पूँजीपति छवि-प्रतिछवि वाले राजनीतिज्ञों की घुसपैठ से शासन-व्यवस्था प्रतिगामी हो चली है। इस बारे में होने वाले संचार-शोध से राजनीतिक पारदर्शिता, निष्पक्षता, यथार्थता, सत्यता आदि को आत्मबल हासिल होता है और जनतंत्र की जड़ें मजबूत होती हैं। देशी-विदेशी सीमाओं पर विवाद, तनाव, संघर्ष, गतिरोध, विरोध, हिंसा, आतंकवाद आदि एक गंभीर समस्या बनी हुई है। इस दिशा में संचार शोध की भूमिका अन्यतम है। संचार शोध प्रविधि में इस समस्या की मनोवैज्ञानिक पड़ताल की जाती है तथा इसके उचित निदान हेतु सही कार्य-कारण संबंध प्रस्तुत किया जाता है। जनमाध्यमों ने आजकल पेशेवर रूख अपनाते हुए सचाई को तोड़-मरोड़ कर या फिर सनसनी बनाकर जनता के सामने परोसना शुरू कर दिया है। जबकि जनता के लिए संचार माध्यम 'अंधे की आँख' जैसी होती है। वह इनकी विश्वसनीयता (credibility) पर प्रश्न उठाने की बजाए आँख मूँदकर विश्वास कर लेता है। लेकिन आज अधिसंख्य संचार-माध्यम सरकारी नीतियों की आलोचना-प्रत्यालोचना प्रस्तुत करने की जगह वह सरकारी अनुयायी का रवैया दर्शाने लगी है। ऐसे जनसमाज के लिए सजग-संवेदनशील संचार शोध प्रणाली की जरूरत सबसे अधिक अनिवार्य हो जाती है। यह इसलिए भी कि आजकल मीडिया एजेंडे के अनुसार मुद्दे को प्राथमिकता और अनावश्यक महत्त्व देने लगा है। प्रश्न स्वाभाविक है कि, "मीडिया का क्या कोई अपना 'एजेंडा' है? क्या मीडिया के एजेंडे और जनता की जरूरतों और प्राथमिकताओं के बीच की दूरी बढ़ नहीं रही है? क्या मीडिया यह सब प्रस्तुत करता है जो वास्तव में 'वस्तुनिष्ठ सत्य' है? कहीं उपभोक्ताओं के लिए 'न्यूज' नामक 'प्रोडक्ट' को 'मैनुफैक्चर' करके जनमत को विकृत तो नहीं किया गया है? इन प्रश्नों को और इनकी

प्रासंगिकता को जानने-समझने के लिए मीडिया की सकारात्मक भूमिका का विश्लेषण और उसकी नकारात्मक भूमिका की समीक्षा आवश्यक है।

भारत में जन-शोध: मीडिया के बरास्ते

भारत में संचार संबंधी शोध-वृत्ति का हाल खस्ता है या कह लें सब कुछ गड़बड़झाला है; इनमें उपेक्षित अनुक्रिया और सहज लगाववृत्ति का अभाव है। यद्यपि संचार संबंधी अवधारणा के निर्माण में वैश्विक दृष्टिकोण भी कोई खास मददगार नहीं है। "बीसवीं सदी के मध्य में संचार संबंधी अध्ययन ने एक प्रमुख अनुशासन के रूप में उभरने की कोशिश की थी। यह अलग बात है कि अलग-अलग किए गए इन तमाम महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रयासों के बावजूद आज संचार अध्ययन का कोई सुपरिभाषित अनुशासन मौजूद नहीं है।"^{१३} ज्यां पॉल सार्त्र ने कहा था, आज अगर कोई उपयुक्त लेखन है तो वह राजनीतिक लेखन, मीडिया लेखन, शोध और अन्वेषण ही है। वजह कि आम-आदमी कि जिंदगी में क्रांतिक बदलाव दीर्घकालीन आयोजनों द्वारा ही संभव है। ये आयोजन वस्तुस्थिति और वस्तुदृष्टि दोनों को बदल देते हैं। हर स्थिति को ऐसे व्यवस्थित करते हैं कि वस्तु नया रूप धारण कर ले, हर स्थिति नया अनुभव दे ताकि हमारी ग्लानि और गंदगी से भरी जिंदगी एक न्यायपूर्ण, शुद्ध और सुंदर जिंदगी जी सके। संचार-शोध की दृष्टि से हमारी चेतनता और सक्रियता के वास्ते स्वतंत्रता ही अनादि, अनंत तथा आदिम प्रतिश्रुति है। आज रेडियो, टेलीविजन, अखबार, इंटरनेट, सोशल मीडिया अन्य नवमाध्यम इत्यादि जन-संप्रेषण के साधनों पर सरकार अथवा निजी पूँजीदारों का कब्जा है। लिहाजा, ये दोनों 'ज्ञान' तथा 'सूचना' पर भी अधिकार रखते हैं; अर्थात् सूचना-संचारण की सभी राष्ट्रीय धमनियों के प्रवाह को ये अपने अनुसार नियोजित करते हैं। जनमाध्यमों के संचालन एवं नियंत्रण के लिए विशाल पूँजी की जरूरत होती है, इससे संपन्न ये दोनों संस्थाएँ सर्वशक्तिमान हो जाते हैं। इनके माध्यम से मनुष्यों के मस्तिष्कों को छिपकर नियंत्रित किया जाता है ताकि वे बाहरी दशाओं और आंतरिक चेतना के बीच संतुलन गाँठ सकें। आज हमारी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रताएँ वास्तव में मिथक बनकर रह गई हैं। सभी संचार-माध्यम इन दिनों

केवल संप्रेषण कर रहे हैं; अस्मिता कायम नहीं कर पा रहे हैं। अतः उनके अर्थ सार्थक और चरितार्थ नहीं हो पा रहे हैं। उनके अर्थ शालीन और सामंतीय, मर्यादित और आत्मछल वाले हैं जो आज की फूहड़ता, शोषण, नंगेपन और भयानक पाखण्ड पर सिर्फ टीका-टिप्पणी कर रहे हैं; उसे उघाड़ नहीं पा रहे हैं। ये सिर्फ चीख और गर्जन का, फंतासी और संवेदनशून्यता का संप्रेषण कर रहे हैं।

मीडिया शोध: वैज्ञानिक दृष्टि, उपकरण और औजार

संचार-शोध की जरूरत वर्तमान देशकाल को इसी कारण है, क्योंकि शोधकर्ता वर्तमान से जुड़कर महज प्रश्न ही नहीं उठाता है, वरन् अप्रश्नेय को चुनौती देता है। शोधकर्ता की दृष्टि में, “शब्दों के जो सतही अर्थ हैं उनमें अधिक विलक्षणता नहीं मिलती; विलक्षणता तो उन शब्दों के भीतर छिपी हुई व्याप्तियों में निहित है। किंतु, आज के युग में इन व्याप्तियों तक पहुँचने की शक्ति या धीरता अधिक लोगों में नहीं पाई जाती। ज्यादा लोग तो ऐसे ही हैं जो भाव-जगत को ही गलत समझते हैं।^{१४} जबकि इस तरह की क्रियाशीलता किसी व्यक्ति-विशेष का व्यक्तिगत प्रयास मात्र नहीं होता जितना कि उसकी मनोवृत्ति, जीवन की दशा, प्रश्न के स्वरूप, ऊर्जा के रूप से है इस तरह के अनुसंधान के अंतर्गत वैज्ञानिक निस्संगता (Scientific Objectivity) भी अपेक्षित है, ताकि वह तथ्यों की खोज या ज्ञात तथ्यों या सिद्धांतों के नवीन प्रत्याख्यान (Reinterpretation of facts or theory) को प्रकाशित कर सके। इसके अतिरिक्त अन्तर्विषयी अनुसंधान में स्फीति, अन्विति व पुष्टता अनिवार्य हैं। संचार-शोध की प्रक्रिया में प्रायः जिन मुख्य चीजों की आवश्यकता पड़ती है, वे हैं- १) निरंतरता (regularity), २) ढाँचा (structure), ३) कार्य (function), ४) परिवर्तन (change) और ५) अर्थ की अवधारणा (concept of meaning)।

संचार शोध में वैज्ञानिक पद्धति का होना अपरिहार्य है क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति का निष्कर्ष पक्षपात रहित यथार्थ निरीक्षण को प्राप्त करने तथा इन निरीक्षणों से तर्क को पूर्णतया यथार्थ बनाने से होता है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि संचार के बढ़ते दायरे (न्यू मीडिया, सोशल मीडिया, कन्वर्जेंस, डिजिटलाइजेशन, ऑनलाइनीकरण इत्यादि) ने

अन्तरसांस्कृतिक संवाद तथा वैश्विक कार्रवाई में सीधी भागीदारी में हमारे संचार संबंधी दृष्टिकोण को बदलकर रख दिया है। ऐसे तीसरी दुनिया के देश शक्तिशाली, वर्चस्वशाली नवसाम्राज्यवादी सूचना-माध्यमों की सूचना-राजनीति और संचार-नीति से बुरी तरह प्रभावित हैं। सही सूचनाओं की गेटकीपिंग हो रही है, तो इम्बेडेड सूचनाओं को ‘सॉफ्ट नोशन’ के साथ प्रक्षेपित किया जा रहा है। बाजार पूँजीकरण (मार्केट कैप) के प्रवेश तथा प्रभाव में स्थानीय स्वशासन एक व्यक्तिकेन्द्रित अहंवाद में जकड़ता जा रहा है। अहंवाद की व्याख्या प्रभाव में स्थानीय स्वशासन एक व्यक्ति केन्द्रित अहंवाद में जकड़ता जा रहा है। अहंवाद की व्याख्या करते हुए शेरिफ एवं शेरिफ^{१५} कहते हैं, उन उद्देश्यों, व्यक्तियों, घटनाओं आदि का उसी तरह मूल्यांकन, जिस तरीके से उन्होंने अपने मूल्यों या सामाजिक नियमों का आत्मसातीकरण या अन्तःव्यवस्थित कर लिया है, जैसा स्वयं उनका विचार है... इस प्रवृत्ति को अहंवाद कहा जाता है। अतएव, किसी भी वस्तु-विशेष की प्रकृति अथवा उसके क्रिया-व्यवहार को समझने के लिए उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को जानना अत्यावश्यक है। इतिहास या इतिहास बोध की महत्ता इस कारण अन्यतम है जो मनुष्य को विगत से जोड़कर विराट बनाता है। इस विराटत्व को मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार एवं उसके मन-मानस द्वारा अनुभूत मूल वृत्तियों एवं संप्रत्ययों के आधार पर समझना या फिर इनका वस्तुपरक विश्लेषण करना अनुसंधान के महनीय परंपरा का ही लक्षण है। यही नहीं “इतिहास की कसौटी परंपरा नहीं, पुरातत्त्व है। जिस ऐतिहासिक बात को पुरातत्त्व का समर्थन नहीं प्राप्त है, उसकी नींव बालू पर है। इस प्रकार, प्राचीन साहित्य, प्रामाणिक साहित्य, महाभारत को नहीं जानता, न तत्कालीन पुरातात्त्विक सामग्री उसके बारे में बताती है, फिर उसके लिए हमारे ऐतिहासिकों का इतना आग्रह क्यों? पूर्वग्रह, दुराग्रह और ऐतिहासिक अनुसंधान साथ-साथ नहीं चल सकते। अर्थात् हमें वहीं निष्कर्ष निकालने चाहिए जो तथ्यों पर आधारित हों। इतिहास ऐसा विषय है, जिसमें कि अधिकांशतः निष्कर्ष को सत्य के समीपतम होने का ही दावा किया जा सकता है। वही सत्य हो सकता है, जिसके

लिए पुरातत्त्व, पुरालिपि, मुद्रा या तुलनात्मक भाषातत्त्व स्पष्ट समर्थन प्रदान करते हों।... यह भी ख्याल रखना चाहिए कि हमारी अगली पीढ़ी बाबा-वाक्य-प्रणाम को मानने वाली नहीं हो सकती। वह भी हमारा उपहास करेगी- यदि हम जबरदस्ती अपनी अवैज्ञानिक धारणाओं को उनके ऊपर लादना चाहेंगे।”^{१६} टैगार्ट ने स्पष्ट किया है कि, “विज्ञान उद्देश्यों, सत्ताओं, वस्तुओं तथा उनके संबंधों से संबंध रखता है; इतिहास अपना संबंध घटनाओं से रखता है।”^{१७} स्पष्टतया वैज्ञानिक अधिगम पर आधारित संचार-शोध द्वारा हम यह अंतर कर पाने में सक्षम होते हैं कि- “इन्द्रियानुभव व्यवहार है और ज्ञान परमार्थ। इन्द्रियानुभव के विषय अनित्य, क्षणिक और मिथ्या है; ज्ञान के विषय नित्य, अपरिणामी और सत्य हैं। ज्ञान के विषय ‘सामान्य’ हैं और इन्द्रियानुभव के विषय ‘विशेष’ या ‘व्यक्ति’ हैं। सत्य ज्ञान इन सामान्यों का ज्ञान ही है। विशेषों का ज्ञान केवल व्यवहार है। यानी विशेष सामान्य की क्षीण ‘प्रतिकृतियाँ’, ‘प्रतिलिपियाँ’, ‘प्रतिरूप’ या ‘प्रतिबिंब’ हैं जबकि सामान्य हमारी बुद्धि की कल्पना नहीं है। इनकी वास्तविक सत्ता है।” कार्ल पियर्सन के अनुसार, “सत्य एक दरवाजे से गुजरने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है।” इस वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताएँ हैं: १) अवलोकन (observation), २) कारणता (Causality), ३) आनुभविकता (Empirical), ४) सार्वभौमिकता (Universality), ५) तार्किकता (Logicality), ६) ब्रह्मबद्धता (Systematic), ७) भविष्यवाणी (Forecast), ८) संचयी ज्ञान (Cumulative knowledge), ९) अध्ययन-पद्धति (Method of study) आदि। वैज्ञानिक दृष्टि के लिए जो तत्त्व वांछित हैं, वे हैं- १) वस्तुनिष्ठता (Objectivity), २) कार्य-कारण-संबंध (Cause-Effect-Relationship), ३) तार्किकता (Logicality), निश्चितता (Definiteness), सत्यापनशीलता (Verifiability), सामान्यता (Generality), भविष्यवाणी (Prediction), सैद्धांतिकरण (Theorization) आदि।

मीडिया शोध की प्रविधि: सिद्धांत से व्यवहार के प्रयोगशाला तक

उपर्युक्त संदर्भों में दो अहम प्रश्न हैं- पहला यह कि अन्तर्वस्तु विश्लेषण की दृष्टि से किसी व्यक्ति विशेष के मन-मस्तिष्क तथा उसके समाज सापेक्ष मानवीय अंतःक्रिया एवं भाषा-व्यवहार (शाब्दिक-अशाब्दिक दोनों) को कैसे आँका परखा जाए? दूसरा, इस आकलन-मूल्यांकन में यदि समाजभाषावैज्ञानिक तथा मनोभाषिक अध्ययन-अनुसंधान महत्वपूर्ण है, तो इस पूरी प्रक्रिया का मूलाधार किसे माना जाए? समय के साथ संचार-शोध की प्रविधि और सम्बद्ध औजार बदले हैं। जहाँ पहले किसी विषय, व्यक्ति समूह, संस्था, संगठन विशेष से संबंधित अनुसंधान के तहत जीवन इतिहास का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था। अब इधर वैयक्तिक अध्ययन (case study) किया जाने लगा है। यांग शिन पाव के अनुसार, “वैयक्तिक शोध अध्ययन एक व्यक्ति के सर्वांगीण गहन अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें अनुसंधानकर्ता अपनी संपूर्ण चतुरता एवं विधियों का प्रयोग करता है अथवा यह विधि एक व्यक्ति के बारे में पर्याप्त सूचना का एक व्यवस्थित संग्रह है जिसमें कोई व्यक्ति यह समझ सके कि वह पुरुष या स्त्री समाज की ईकाई के रूप में कैसा कार्य करता या करती है।”^{१८} लेकिन ये व्यक्तिगत अध्ययन भरोसेमंद कम तथ्यों, आँकड़ों, सूचनाओं, घटनाओं आदि का उथला अधिक हैं। पूँजीवादी प्रवृत्ति में नधाए मीडिया संस्थानों ने भी गुणात्मक संचार शोध के स्थान पर मात्रात्मक संचार शोध को अधिक बढ़ावा दिया है। प्रायः इस तरह के शोध में निदर्शन प्रणाली (Sampling Method) का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। साक्षात्कार, प्रश्नावली, प्रक्षेपण परीक्षा विधि (projective), वर्ग-श्रेणी (Rating scale) एवं अन्य सांख्यिकीय (statistical) पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। जबकि गंभीर संचार-शोध के लिए इसके अतिरिक्त संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक प्रक्रिया को अपनाने पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। ध्यान दिए जाने योग्य है कि वैज्ञानिक संचार शोध में उपकल्पना का निर्माण शोध-कार्य के आरंभ में ही प्रस्तावित किया जाता है तथा उसे तर्क की कसौटी पर रखा जाता है। यदि वे सत्य सिद्ध होते हैं तो उन्हें केवल उपकल्पना (Hypothesis) के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। संचार-शोध में उपकल्पना का अभिप्राय

उस कथन से होता है तो एक दशा या वस्तु के दूसरी दशा या वस्तु से संबंध को व्यक्त करता है, जो इसके उपरांत तथ्यों के द्वारा सिद्ध की जा सकती है उस कल्पना को कार्य-कारण उपकल्पना कहते हैं। इसके उपरांत तथ्यों का अवलोकन के द्वारा उनका सत्यापन (Varification) और पुनः सत्यापन (Re-Varification) किया जाता है। यहाँ अवलोकन बेहद महत्वपूर्ण शब्द है। अवलोकन यानी 'पहचानी हुई वस्तुओं और घटनाओं के कार्य, उनके निश्चित संबंध भी हमारे मानसिक अनुभवों की प्रत्यक्ष सत्कर्ता हैं।'^{१९} यथा समस्या का चयन (Selection of the problem), उपकल्पना का निर्माण (Formulation of hypothesis), अनुभूति परीक्षण (empirical testing), वर्गीकरण का निरूपण (classification of description), सामान्यीकरण (generalization) इत्यादि।

सामग्री संकलन: सूचनाओं के अंबार से विचार छूटने का काम

मीडिया-शोध के अंतर्गत आने वाले पहलुओं को देखें, तो उनकी संख्या कम नहीं है। यथा: १. वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Approach), अवलोकन (observation), आँकड़ों का विश्लेषण (Data Analysis), सामान्यीकरण (Generalization), सत्यान्वेषण (Knowing Truth), कार्य-कारण-संबंधों का स्पष्टीकरण (Explanation of cause-Effect-Relation), आकलन (Evaluation), प्रतिपुष्टि (Feedback), मीडिया हैबिट (Media Habits), जनमत सर्वे (Public Opinion Survey), चुनाव पूर्व सर्वेक्षण एवं एग्जिट पोल (Pre-election Studies & Exit polls), श्रोता-सर्वेक्षण (Audience Surveys) आदि। यहाँ सूचना-संसाधन की वैज्ञानिक-पद्धति जान लेना अनिवार्य है। कोई सूचना उपलब्ध होने मात्र से कोई तथ्य सही/गलत नहीं हो सकती है। सबूत और साक्ष्य झूठ की प्रतिष्ठा के निमित्त थोकभाव मिल जाते हैं। अतः इसके लिए स्थूल-सूक्ष्म विवेक का होना आवश्यक है। विवेक वैज्ञानिक चिंतन-दृष्टि की प्राणवायु है। अर्थात् तथ्यों, सूचनाओं, आकड़ों, संदेशों आदि का अर्थ-द्योतन के लिए इनका मनोभाषिक पड़ताल तथा समाजभाषावैज्ञानिक जिरह आवश्यक हो जाते हैं। यह दृष्टिकोण अपनी तरह से

व्याख्या-विश्लेषण करता है और नए तथ्यों का उद्घाटन मात्र नहीं, अपितु उसे प्रामाणिक बनाकर सिद्ध भी करता है। उदाहरण के लिए किसी दल-संगठन के मुखिया अथवा नेतृत्वकर्ता के व्यक्तित्व-व्यवहार से जुड़े संचार-गुण को लेकर संचार-शोध करना हो, तो शोधकर्ता संबंधित राजनीतिज्ञ की लोकप्रियता, गतिविधियाँ, जनपक्षधर आंदोलन एवं संघर्ष, पार्टी में स्थिति, जनता से संवाद, संगठन पर पकड़, संसदीय कार्यों में सक्रियता, चुनावी दौरे-रैली-रोड शो आदि के बारे में अधिक से अधिक जानना चाहता है और अपेक्षित जानकारी जुटाता है। यथा: तथ्य, सूचना, आँकड़े, घटना एवं गतिविधियों के ब्योरे आदि जुटाता है। इस बारे में उस व्यक्ति से जुड़े महत्वपूर्ण लोगों से साक्षात्कार लिया जाता है। परिचय, प्रभाव और लोकप्रियता के बारे में पता लगाने के लिए प्रश्नावली तैयार की जाती है। तदुपरांत अपनी सीमा एवं सामर्थ्य में संचार-शोधकर्ता यह जानने का विनम्र प्रयास करता है कि समान रूप से स्वीकृत जनतांत्रिक मूल्यों, विश्वासों, धारणाओं, आकांक्षाओं, मतों इत्यादि की मनोभाषिक प्रवृत्ति (मानसिक-शारीरिक आचरण एवं भाषिक क्रिया-व्यवहार) क्या है और वह आचरण-व्यवहार में किस तरह क्रियाशील अथवा अभिव्यक्त है? अमुक राजनीतिज्ञ क्या-कुछ और किस प्रकार से अपना निर्णय लेता है? साथ ही उसके समस्त कार्य-व्यवहार, कथनी-करनी आदि में व्यक्तित्व, व्यवहार एवं नेतृत्व संबंधित कौन-कौन सी अनुक्रिया-प्रतिक्रिया, साम्य-वैषम्य घटित होते हैं? और संचार-गतिविधि के रूप में उस राजनीतिज्ञ के व्यक्तित्व, व्यवहार, नेतृत्व आदि में स्पष्टतया परिलक्षित हो रहे हैं। सामग्री संकलन के लिए संचार-शोध पद्धति के रूप में सर्वेक्षण (Survey), प्रश्नावली (questionnaire), साक्षात्कार (Interview), जीवन-इतिहास (life-history) आदि का प्रमुखता से इस्तेमाल किया जाता है। इसके लिए शोध-विषय से संबंधित द्वितीय प्रलेखों को जुटाया जाता है, तो क्षेत्र-सर्वेक्षण के माध्यम से भी तथ्य, आँकड़े, सूचनाएँ आदि व्यवस्थित ढंग से प्राप्त किया जाता है। यथा: सामाजिक सांख्यिकीय पद्धति (statistical method), सामाजिक पर्यावलोकन (social survey), सामाजिक वैयक्तिक जीवन के अध्ययन की पद्धतियाँ (social

case study method), सामुदायिक अध्ययन पद्धति (community study method), समाजमिति (sociometry), प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method) आदि। आजकल संचार-शोध में ऑनलाइन सर्वेक्षण लोकप्रिय है। जन-संपर्क और जन-संवाद की दृष्टि से यह पद्धति आसान, सुलभ और तीव्र प्रतिक्रियाशील है। प्रायः प्रश्नावली के माध्यम से 'ऑनलाइन' सर्वेक्षण की पद्धति अपनाई जाती है जिसमें बंद (close) और खुले (open) दोनों प्रकार की प्रश्नावली प्रस्तुत की गई होती है। दूसरी ओर 'ऑफलाइन' प्रश्नावली को दो तरह से तैयार किया जाता है- १) प्रश्नबद्ध और २) सूचीबद्ध। सर्वेक्षण-फार्म के द्वारा सामग्री-संकलन हेतु उचित माध्यम का अनुप्रयोग किया जाता है; ताकि अधिक से अधिक लोगों की राय अथवा मंतव्य शोधकर्ता को प्राप्त हो सकें। ऑनलाइन एवं ऑफलाइन सर्वेक्षण फॉर्म के अन्तर्गत सामान्य जन से वैसे संबंधित प्रश्न पूछे जाते हैं जिसके बारे में अनुक्रिया अथवा प्रतिक्रिया देने के लिए उनके पास बहुत कुछ होता है। ऐसे विषय जिनके बारे में वे स्थानीय/प्रान्तीय/राष्ट्रीय या कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जानते हैं तथा उनके कार्य-प्रणालियों एवं क्रिया-व्यवहार से परिचित हुआ करते हैं। प्रश्नावलियों के अतिरिक्त सीधे साक्षात्कार पद्धति भी अपनायी जाती है जिसका उद्देश्य शोध विषय के संदर्भ में महत्वपूर्ण किसी व्यक्ति से उन समस्त जानकारीयों को प्राप्त करना जो उसके शोध-विषय के संदर्भ में महत्वपूर्ण किसी व्यक्ति से उन समस्त जानकारीयों को प्राप्त करना जो उसके शोध-विषय से जुड़ी होती है और इस विधि से कुछ नए तथ्य, विचार, आँकड़े, सूचनाएँ आदि प्राप्त होने की संभावना सबसे अधिक होती है। संचार शोध की यह प्रणाली अपनाए जाने के पीछे मुख्य तर्क यह है कि, "किसी भी समय कोई व्यक्ति क्या अनुभव करता है इसका उत्तर वह व्यक्ति स्वयं ही दे सकता है। इससे स्पष्ट है कि एक व्यक्ति की भावनाएँ, मत, धारणाएँ, उद्वेग, उत्तेजना, संवेग इत्यादि का जानना दूसरे व्यक्ति के लिए अत्यंत कठिन है। इन्हें तो स्वयं उसी व्यक्ति को बताना होगा जो इनका अनुभव कर रहा हो। आल्पोर्ट सही सुझाव देता है कि, यदि हमें ज्ञात करना है कि व्यक्ति कैसे महसूस करते हैं और क्या

अनुभव करते हैं, उनके क्या उद्देश्य हैं और क्या प्रेरणाएँ और तर्क उनके कार्य, जैसा वे करते हैं, क्यों न उनसे ही पूछा जाए?"^{२०}

वैयक्तिक संचार शोध: व्यक्तिगत कुछ भी नहीं सिर्फ एक जगह केन्द्रित

इसके अन्तर्गत व्यक्तियों की डायरियाँ, पत्र, जीवन-इतिहास तथा प्रलेख (documents) आते हैं। जीवन-इतिहास के अन्तर्गत पारिवारिक पृष्ठभूमि, वे पारिवारिक घटनाएँ जिन्होंने व्यक्ति के जीवन को प्रभावित एवं परिवर्तित किया, परिस्थितियों के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ, जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ, संपूर्ण जीवन के अनुभव, जीवन को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण व्यक्ति एवं घटनाएँ, तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार भविष्य की धारणा इत्यादि। इस शोध प्रविधि में यह मानकर चला जाता है कि मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं। प्रत्येक समाज में कुछ नियम होते हैं, तो वाक्-व्यापार एवं भाषा-व्यवहार के विशिष्ट प्रणाली। इन्हीं नियमों के अनुकूल अथवा अनुरूप मनुष्य को कार्य करना होता है। जब सामाजिक नियमों और जन्मजात प्रवृत्तियों में विरोध होता है तो व्यक्ति जन्मजात प्रवृत्तियों को दबा देता है और सामाजिक नियमों के अनुसार कार्य करता है। इसके परिणामस्वरूप मन में एक खिन्नता, अवसाद या निराशा छा जाती है। यह मनःस्थितियाँ बाद में अचेतन मन में चली जाती हैं। जब कभी यह अचेतन से चेतन में दाखिल होती हैं तो व्यक्ति का व्यवहार एकदम विचित्र हो जाता है। इस विचित्र व्यवहार के कारण सामाजिक संबंध प्रभावित होते हैं और व्यक्ति सामान्य नहीं रह पाता है। ऐसे व्यक्तियों से संबंधित किए जाने वाले वैयक्तिक संचार शोध में व्यक्ति की पूर्व स्थितियों का चित्र तथा घटनाओं की निरंतर तस्वीर प्राप्त होती है। उपकल्पनाओं के निर्माण में यह विधि अत्यधिक सहायक होती है। इसी प्रकार किसी भीड़, श्रोताओं या कि जनता की एक समूह स्थिति होती जिसमें व्यक्ति के स्वयं का स्थान बिल्कुल विशिष्ट होता है। संचार शोध में इस तरह की समूह स्थितियों एवं उनके सामूहिक व्यवहार का भी अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। संचार शोध में भाषा का पक्ष बेहद मजबूत और बहुआयामी है। दरअसल, जीवन में भाषिक शब्द ही

सत्तावान हैं। नाटक-संगीत तो इस विधा के आभूषण भर हैं। इसीलिए जन-जीवन की समस्त अभिव्यक्तियों को समाजविज्ञानियों ने भाषा के बरास्ते देखने की चेष्टा की है। संचार-शोध में समाजभाषावैज्ञानिक एवं मनोभाषावैज्ञानिक पहलू पर हमारा बल दरअसल, सचाई को समग्रता में देखने एवं संपूर्णता में पाने की उत्कट चाह मात्र है। इस दिशा में हो रहे संचार-शोध सचमुच स्तुत्य हैं।

सावधानी एवं सीमाएँ

शोधकर्ता के समक्ष बड़ी चुनौती स्वयं को विषय निरपेक्ष और तटस्थ साबित करना होता है। क्योंकि सामाजिक संसार का उस पर प्रत्यक्ष-परोक्ष बहुत अधिक दबाव रहता है। किसी समाजभाषावैज्ञानिक या मनोभाषावैज्ञानिक के लिए यह सर्वाधिक परीक्षा की घड़ी होती है क्योंकि उसका निरीक्षण-परीक्षण, अध्ययन-अनुशीलन, संश्लेषण-विश्लेषण अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर घटित होता है। वह अपने ही धर्म, परिवार, आर्थिक संस्थाओं, राजनीतिक संगठनों आदि का विश्लेषण कर रहा होता है और इन सबमें ही उसका दृष्टिकोण पूर्व-निर्धारित होता है। कई बार अध्ययनशील विषय के समूह या समूह के व्यक्तियों का दबाव भी रहता है। शोधकर्ता को अपनी शोध की शब्दावली में ऐसी कोई भी बात कहने से बचना होता है जो समूह के नैतिक आचार-विचारों एवं मूल्यों के विरुद्ध हो। शोधकर्ता को वस्तुनिष्ठ स्थापना की खातिर स्वयं की मानसिकता से भी लड़ना होता है। क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को प्रत्येक समस्या के विषय में पूर्ण अधिकारी (authority) समझता है जबकि वास्तविकता ऐसी नहीं होती। संचार शोध में यह छूट नहीं होती कि घर बैठे शोध के सभी प्रलेखन (documentization) का काम निपटा लिया जाए। वह अपने शोध-विषय से संबंधित सभी कारकों पर नियंत्रण नहीं रख सकता और न ही उनमें अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तन ही ला सकता है। उदाहरण के लिए चुनाव के दौरान मतदाता के व्यवहार का अध्ययन, भीड़ की मानसिकता एवं नेता चुने जाने पर जनता की प्रतिक्रियाओं को जानना आदि के लिए शोधकर्ता को क्षेत्र में जाना होगा और इससे जुड़ी ढेरों तथ्य, सामग्री, सूचनाएँ, आँकड़े, जानकारी आदि प्राप्त करना होगा। इसके लिए

संचार शोध का 'एप्रोच' प्रयोगात्मक होगा। हार्टमैन ने एक चुनाव के वोटों से कई प्रार्थना के तार्किक एवं संवेगात्मक पक्षों का अध्ययन किया। लेविन तथा अन्य ने एक अध्ययन क्लब में लड़कों के नेतृत्व संबंधी प्रतिमानों पर किया है। समाजभाषावैज्ञानिक एवं मनोभाषावैज्ञानिक संचार शोध विधि की अनेक सीमाएँ हैं। यह सीमित अध्ययन है तथा निदर्शन प्रणाली पर आधारित नहीं है। यह अत्यधिक खर्चीली एवं समय लेने वाली प्रणाली है।

भ्रामक, अटपटापन, झूठे तथ्यों से किनारा

संचार शोध को लेकर तकलीफदेह सवाल यह उठाए जाते हैं कि इस तरह के शोध अक्सर प्रयोगशाला से बाहर व्यक्ति, समूह अथवा लोगों के बीच घटित होते हैं। यह एक भ्रामक तथ्य है जिससे संचार शोधकर्ता को बचना आवश्यक है। समाजभाषाविज्ञानियों ने साफ शब्दों में कहा है कि, कुछ लोगों की ऐसी कल्पना है कि परखनली में लाल हरे रंग के रसायन या मैग्नेटोमीटर द्वारा प्रमाणित सिद्धांत ही केवल विज्ञान हो सकते हैं, पर यह कल्पना एकदम निरर्थक है। किसी वस्तु का अध्ययन कहाँ होता है। इससे उस वस्तु की वैज्ञानिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, यह अवश्य है कि शोध के अन्तर्गत ज्ञान प्राप्त करने में अवलोकन-प्रक्रिया के समय वस्तु के वास्तविक चित्र को ही चित्रित करते हैं और उस पर किसी भी प्रकार का आन्तरिक या बाह्य प्रभाव नहीं पड़ने देते। यह आसान कार्य नहीं है क्योंकि समाजभाषावैज्ञानिक एवं मनोभाषिक अध्ययन का क्षेत्र काफी विस्तृत है। यथा: व्यक्ति भाषा, भाषा-अर्जन, भाषा-व्यवहार, अन्तरराष्ट्रीय राजनीति एवं अन्तरसांस्कृतिक संबंध, वैश्विक उद्योग, जातीय संघर्ष, पारस्परिक तनाव, सामुदायिक पक्षपात, सामाजिक स्तरीकरण, असंख्य भीड़, जनतांत्रिक राजनीति, युवा नेतृत्व, सामंती मानसिकता, पितृसत्तात्मकता, बहुभाषिकता, व्यक्ति-केन्द्रित निरंकुशता, अराजक प्रभुसत्ता, संचार कौशल आदि का गहन और वैज्ञानिक विधियों से अध्ययन करता है। शोधकर्ता को इस दिशा में प्रवीणता हासिल करने के लिए उन समस्त चीजों का अवगाहन (Profound study) करना होगा जो उसके अन्तर्विषयी शोध-कार्य से संबंधित हैं। अर्थात् संचार-विज्ञान, मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, समाजविज्ञान, नृविज्ञान आदि की दिशा-दृष्टि तथा बहुविध

आयामों को आधार बनाकर जो स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए हैं उनका अध्ययन, चिंतन एवं विचार जरूरी है।

संदर्भ:

१. त्रिपाठी, (डॉ.) विश्वनाथ; कथाक्रम; अप्रैल-जून, पृ. ११
२. वर्मा, (डॉ.) हरिश्चंद्र, 'भारतीय काव्यशास्त्र', हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण: २००५, (भूमिका)
३. शर्मा, रामविलास, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, सन्-१९९४, पृ. ९
४. वाजपेयी, अशोक, हजारि प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली में उद्धृत
५. तदैव
६. अपूर्वानंद, 'पेशेवर की नैतिकता', जनसत्ता, २८ जून २०१५
७. शर्मा, (डॉ.) रामविलास, 'पाश्चात्य दर्शन और सामाजिक अन्तर्विरोध: थलेस से मार्क्स तक', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: २००१, पृ. २९०
८. अज्ञेय, आत्मनेपद, ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, तीसरा संस्करण, २०१०, पृ. ७२
९. विष्ट, पंकज, सिंह, भूपेन, 'मीडिया, बाजार और लोकतंत्र', शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण: २०१२, पृ. ७

१०. वर्मा, केशवचंद्र, 'भारतीयता की पहचान', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नई दिल्ली, पृ. ७०
११. वाजपेयी, अशोक, जनसत्ता, २६ अप्रैल २०१३, पृ. ०६
१२. सांकृत्यायन, राहुल, 'विविध प्रसंग', पीपीएच पब्लिकेशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, २००८, पृ. २
१३. दुवे, अभय कुमार, समाजविज्ञान विश्वकोश, पृ. १८४९
१४. कुमार (सं.) वीरेश, 'रामधारी सिंह दिनकर: संकलित निबंध' एन.बी.टी. प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति: २०१०, पृ. ४७
१५. तोमर, रामबिहारी सिंह, सामाजिक मनोविज्ञान, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, पृ. ४४
१६. सांकृत्यायन, राहुल, 'विविध प्रसंग', पीपीएच पब्लिकेशन, नई दिल्ली, आवृत्ति, २००८, पृ. ३३
१७. तोमर, रामबिहारी सिंह, सामाजिक मनोविज्ञान, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, पृ. ४७
१८. तोमर, रामबिहारी सिंह, सामाजिक मनोविज्ञान, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, पृ. ८०
१९. तदैव
२०. तोमर, रामबिहारी सिंह, सामाजिक मनोविज्ञान, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, पृ. ६९

संपर्क:

डॉ. अवधेश नारायण मिश्र

प्रोफेसर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी- 221005, मो. 9415991344

राजीव रंजन प्रसाद

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनी हिल्स, दोईमुख,
अरुणाचल प्रदेश- 791 112, मो. 9436848281

‘मुक्तांचल’ का उपन्यास केन्द्रित अंक

श्रीनिवास

साहित्य संपादक ‘छपते-छपते’ (हिंदी दैनिक)

हिंदी उपन्यास पर केंद्रित ‘मुक्तांचल’ त्रैमासिक (अप्रैल-जून २०१६) का अंक के लिए धन्यवाद! यह उपयोगी अंक है। संपादकीय में आपकी बात से सहमत हूँ कि ‘कोई भी सत्ता विकास की उद्घोषणा लेकर व्यवस्था की बागडोर थामती है लेकिन उस छलावे में कहीं मानवता के विकास का लेश भी नजर नहीं आता।’ समस्याएँ और भी मुँह बाए खड़ी हैं। आपने सही लिखा है कि.... “हमारे संवेदन के समस्त सहारे जटिल और प्रभावहीन होते जा रहे हैं। केवल ‘उपभोग’ ही हमारा प्रेम हो गया है। उपभोक्ता संस्कृति हमें मानवीय संवेदना-शून्य कर रही है, सुख की मृग-तृष्णा में भटक रही है।”

देवनाथ सिंह आनंद गौतम का मतव्य कि ‘नयी कहानी के उद्भव की प्रेरणा कहानीकारों को प्रेमचंद की विश्व विख्यात कहानी ‘कफन’ से मिली है, सही नहीं है। हिंदी की आधुनिक भावबोध युक्त कहानियों पर पश्चिम का प्रभाव है। नई कहानी में भी अंतर्धाराएँ थीं। व्यक्ति के अस्मिता से संबंधित कहानियों पर ‘अस्तित्ववाद’ का प्रभाव है। वस्तुतः यह समाजवाद बनाम व्यक्तिवाद के वैचारिक संघर्षों का परिणाम हैं।

नामवर सिंह ने भी प्रगतिशील कथाकारों की उपेक्षा की थी। उन पर निर्मल वर्मा, उषा प्रियवंदा का भूत सवार था। डॉ. राणा प्रताप ने ‘बीसवीं सदी का अंत और उपन्यास’ शीर्षक आलेख में हिंदी उपन्यासों के विविध पक्षों को रेखांकित करने का ईमानदार प्रयास किया है। सही है कि.... “हिंदी में उपनिवेशवाद यानी साम्राज्यवादी शोषण, दमन और उत्पीड़न पर एक भी अविस्मरणीय उपन्यास नहीं है। जादुई उपन्यासकार मार्खेंज के ‘एकांत के सौ वर्ष’ (Hundred year of solitude) जैसे उपन्यास हिंदी में नहीं है।

डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ ने ‘समकालीन हिंदी उपन्यास’ के फ्रेम में ‘लोकतंत्र’ विषय पर आधृत अपनी संक्षिप्त टिप्पणी में सही कहा है- “संसदीय लोकतंत्र व्यवहार में बुर्जुआ लोकतंत्र है तथा जन-अकांक्षाओं की पूर्ति में असफल तंत्र ही सिद्ध हुआ है। वस्तुतः यह पूँजीवादी जनतंत्र है।

छापामार युद्ध के माध्यम से व्यवस्था-परिवर्तन की क्षीण संभावना है। डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र का कथन कि ‘लेखन में लेखक निरा एकाकी होता है’- उचित नहीं है। साहित्य सामाजिक कर्म है। रचना क्रिया है। उसका कोई प्रक्रियात्मक फार्मूला नहीं होता। फिर भी यह एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। लेखक के साथ उसकी जीवनानुभवों का संसार तो होता ही है।

वेश्याएँ आदि से रही हैं तथा मानव-सभ्यता के अंत तक उनका अस्तित्व कायम रहेगा। डॉ. छोटेलाल बहरदार ने ‘रेणु’ पर ‘फ्रायडवादी’ होने का ग़लत आरोप लगाया है। रेणु ने गाँव के गाँवई परिवेश, ग्रामीणों का बौद्धिक स्तर, वहाँ की स्थितियों-परिस्थितियों का स्वाभाविक

चित्रण किया है। लेखक की रोमांटिकता अपराध नहीं है। लेखक होने की यह भी एक शर्त है। टॉलस्टाय, रवीन्द्र नाथ, प्रेमचंद, मण्टो, फ्रेडेरिक नीत्शे आदि अनेक नाम हैं। महिलाओं के बारे में पितृसत्तात्मक समाज में विचारों, व्यवहारों से आप भलीभाँति परिचित हैं।

डॉ. पुनीत कुमार ने प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यासों में ग्राम्य जीवन का सही खाका खींचा है। गांधी जी के पंचायती राज के सपना का क्या हश्र हुआ है? पंचायती चुनावों ने गाँवों को राजनीति, द्वेष-विद्वेष, हत्या का अखाड़ा बना दिया है। गांधी जीवित होते तो 'आत्महत्या कर लेते।

वृंदावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों का सही मूल्यांकन अभी शेष है। 'कुंभीपाक' का सभ्यता-विमर्श पूँजीवादी समाज का स्त्री-विमर्श है। अमेरिका में तो 'सेक्स की दुकानें' (sex shops) हैं। बर्नार्ड शॉ ने तो विवाह-प्रथा को 'कानूनी-वेश्यावृत्ति' (legalised Prostitution) कहा है।

कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास के मानदण्डों पर खरा नहीं उतरता। यह एक प्रकार का रिपोर्टाज है। तसलीमा नसरीन का उपन्यास 'लज्जा' भी इसी कोटि का है। फिर भी दोनों लेखकों की कृतियों का जबर्दस्त स्वागत

हुआ। अनुवाद हुए। 'लज्जा' ने तसलीमा को स्थापित कर दिया। कहावत है- 'घी का लड्डू टेढ़ा भी भला'। 'कितने पाकिस्तान' विभाजन की त्रासदी, धर्म-युद्ध, मजहबी कठमुल्लापन की प्रवृत्ति का करारा जवाब है। बुद्ध धर्म बिना किसी खून खराबा को दुनिया के कई देशों में फैला। परंतु कठमुल्लों को कोई फर्क नहीं पड़ता।

जगदीश्वर चतुर्वेदी का आलेख 'उत्तर आधुनिक अवस्था' गंभीर विमर्श की अपेक्षा रखता है। उत्तर-आधुनिकता नकारात्मकता और निषेध का दर्शन है। जॉक देरिदा के विखंडन को उत्तर-आधुनिकता, उत्तर संरचनावाद से जोड़ा जाता है। हैबरमास और देरिदा काण्ट को भी महत्त्व देते हैं और अपने को मार्क्सवादी भी कहते हैं। प्रश्न है कि वैश्विकता का बिंब कहाँ से मिला? इसके पीछे कौन है? इतिहास और विचारधारा के अंत की घोषणा के पीछे क्या कोई विचारधारा सक्रिय नहीं है? योरप के बुद्धिजीवियों, लेखकों ने जिसे बंजर भूमि (वेस्ट लैंड) (टी.एस. इलियट) कहा, हम भारत के लोग उसका जूठन चाटने को लालायित हैं। दिमागी गुलामी का इससे बढ़िया दूसरा उदाहरण और क्या हो सकता है? कविताओं, गज़लों का चयन अच्छा है। राकेश भारतीय, सुशांत सुप्रिय की कहानियाँ ठीक-ठाक हैं।

संपर्क: 09674686351

रीतिकाल के संदर्भ में

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्येतिहास दृष्टि

अमृत कुमार

पीएच.डी. (हिंदी)

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल (१६४३ई.-१८४३ई.) महत्वपूर्ण कालखंड रहा है। हिंदी साहित्येतिहास लेखन में रीतिकाल को लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य का इतिहास', विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की 'हिंदी साहित्य का अतीत भाग-२', डॉ. नगेन्द्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका' और महेन्द्र कुमार की 'हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल' ऐसे ग्रंथ हैं जो रीतिकालीन साहित्य को व्यापक रूप में हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य की भूमिका' और 'हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास' का अपना अलग महत्व है। निःसंदेह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन के प्रमुख क्षेत्र 'आदिकाल' और 'भक्तिकाल' रहे हैं, परंतु रीतिकाल के संदर्भ में उन्होंने जितना भी लिखा है वह सारगर्भित और सार्थक लेखन है। वस्तुतः रीतिकालीन साहित्येतिहास लेखन उनके परंपरावादी दृष्टि का ही परिणाम है जो हिंदी साहित्य में रीतिकाल की नवीनता को उद्घाटित करता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल पर सर्वप्रथम 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (१९४०) में 'रीति-काव्य' शीर्षक से लिखा है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि रीतिकाल में लिखे जाने वाले शृंगारिक मुक्तकों का संबंध केवल संस्कृत के साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों से ही नहीं है अपितु ईसवी सन् की पहली शताब्दी में लिखी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मुक्तकों से भी है। इन मुक्तकों का उद्देश्य न तो किसी आश्रयदाता की संस्तुति था और न ही इनमें किसी प्रकार की पारलौकिक चिंता ही परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी इस तरह के काव्य को ऐहिकतामूलक काव्य कहते हैं, जिसे अंग्रेजी में 'सेक्यूलर कविता' कहा जाता है। वह इनका आरंभ प्राकृत में 'हाल' के सतसई से मानते हैं। वह लिखते हैं, "प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रंथ में अतिशय जीवंत रूप में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहिरिनों की प्रेरणाएँ, ग्राम-वधूटियों की शृंगार-चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुंदरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है।" वस्तुतः 'हाल' की इस परंपरा का विकास संस्कृत साहित्य और फिर रीतिकाल में होता है। इसके उपरान्त द्विवेदी जी भारतीय परंपरा की खोजों की शाखा का सहारा लेते हैं और स्पष्ट करते हैं कि रामायण, महाभारत बाण की चंडी शतक, मयूर का सूर्य-शतक आदि में अभिव्यक्त भगवत धर्म का मिलन जब लोकभाषा में गोप-गोपियों की प्रेम लीलाओं से हुआ, जैसे- हाल की सतसई, तब लोक-काव्य प्रचुर मात्रा में शास्त्र-प्रभावित काव्य में अंतर्निहित होने लगा। द्विवेदी जी आगे कहते हैं, "भारतीय खोजों के कवि भक्ति-भाव से गद्गद जब भी कविता करते थे तो शिव, दुर्गा, विष्णु आदि देवी-देवताओं की शृंगार-लीला के वर्णन करने में कभी कुंठित नहीं होते थे।"^१

द्विवेदी जी यह स्पष्ट करते हैं कि प्राकृत और अपभ्रंश में प्रेम की लीलाएँ जो दिखती हैं वह आगे चलकर विद्यापति, सूरदास की लोक-भाषा में लिखित रचनाओं में संपूर्ण विकसित रूप में पाई जाती है और फिर बंगाल के रूप सनातन और जीव गोस्वामी ने सर्वप्रथम अलंकारों और नायिकाओं के विवेचन के लिए राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं को उदाहरण के रूप में सजाया। वह कहते हैं, "इस प्रकार लोक-भाषा का यह रूप, जो बहुत दिनों तक

भीतर-ही-भीतर पक रहा था, शास्त्र की उँगली पकड़कर अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा। हिंदी में वह अपने गीत-रूप से स्वतंत्र होकर विकसित हो सकता, अर्थात् अपने प्राचीन फुटकल पद्य-रूप में विकसित हुआ।^३ वस्तुतः द्विवेदी जी रीतिकाल को लोक-भाषा के साहित्य का ही विकास माना है परंतु फिर भी वह स्पष्ट करते हैं कि रीतिकालीन कविता लोक साहित्य नहीं है क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष लोक-जीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा पाने की प्रक्रिया गौण है।

द्विवेदी जी की दृष्टि निश्चय ही परंपरावादी है क्योंकि वह साहित्य के इतिहास में अतीत और वर्तमान के विकासशील संबंध को पहचानते हैं। परंतु इसके अतिरिक्त रीतिकालीन साहित्येतिहास लेखन में उनकी लोकवादी दृष्टि निरंतर सक्रिय रही है और उन्होंने रीतिकालीन साहित्य की अवधारणा को लोक से जोड़कर देखा है। वस्तुतः किसी भी युग का साहित्य का इतिहास केवल परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा के इतिहास से पूरा नहीं होता अपितु उस काल की संपूर्ण सामाजिक चेतना, भावना और विचारधारा को समझने के लिए लोक भाषा के साहित्य पर भी ध्यान जरूरी है जो द्विवेदी जी के रीतिकालीन साहित्य में निरंतर विद्यमान है। इसी कारण द्विवेदी जी रीतिकालीन साहित्य के उन बिंदुओं को पहचान सके जिसके बिना रीतिकाल को समझना अधूरा प्रतीत होगा।

‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ के उपरांत १९५२ ई. में ‘हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास’ के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की एक महत्वपूर्ण साहित्येतिहास ग्रंथ सामने आता है। इस ग्रंथ में द्विवेदी जी ने रीतिकाल को ‘रीतिकाव्य’ के अंतर्गत रखते हुए चर्चा की है। इस ग्रंथ में द्विवेदी जी रीतिकालीन साहित्य का संबंध समाज से जोड़ते हैं और रीतिकालीन समाज के ढाँचे के बारे में लिखते हैं, “इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में स्पष्ट रूप से दो श्रेणियाँ हो गईं— एक तो उत्पादक वर्ग, जिसमें प्रधान रूप से किसान और किसानों से संबंध रखनेवाली जातियाँ; बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि थीं और दूसरा दल भोक्ता (राजा रईस, नवाब आदि) या भोक्तृत्व का मददगार था। मुगल शासन के अंतिम दिनों में भारत में ये ही दो आर्थिक वर्ग थे— राजा-सामंत, मनसबदार आदि भोक्ता वर्ग; और कृषकों और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग।”^४ वह

आगे स्पष्ट करते हैं कि रीतिकाल इसी सामंती व्यवस्था का ही पतनशील रूप है और दोनों वर्गों का संबंध क्रमशः क्षीण होता गया क्योंकि दोनों वर्गों की दुनिया एकदम अलग हो चुकी थी। वस्तुतः द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि सामंतविरोधी तो है ही परंतु यहाँ पर भी उन पर प्रगतिशील आंदोलन का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है। अपनी प्रगतिशील दृष्टि के चलते ही वह स्पष्ट करते हैं कि इन दो वर्गों के मध्य जो कवि और चित्रकार वर्ग था, जो आश्रयदाताओं के मनोरंजन करने हेतु जिस जीवन से परिचित होना था, वह उन्हें ज्ञान नहीं था और इसलिए उन्होंने पुस्तक-विद्या के रूप में भानुदत्त की ‘रसमंजरी’, जयदेव की ‘चंद्रालोक’, ‘रति रहस्य’, ‘दशरूपक’, ‘दंडी का काव्यादर्श’ आदि कामशास्त्रीय, नायिका-भेद, अलंकार-शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, “द्विवेदी जी ने रीतिकालीन कविता के वर्गीय आकार, सामंती जीवन व संस्कृति से उसके संबंध और उसमें प्राप्त स्त्री-पुरुष संबंधों के किताबी रूप का विश्लेषण करके उसके असली स्वरूप का उद्घाटन किया है।”^५

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्येतिहास लेखन में मानवतावादी दृष्टि निरंतर बनी रही है और यही दृष्टि रीतिकालीन इतिहास लेखन के संदर्भ में भी स्पष्ट होती है। वह अलंकारग्रंथों को आधार बनाकर कहते हैं, “इन ग्रंथों के पाठक के चित्त में न तो मनुष्य-जीवन के किसी बड़े लक्ष्य को प्राप्त करने की स्फूर्ति संचारित होती और न काव्य के ही किसी व्यापक स्वरूप का परिचय मिलता है। यहाँ सब कुछ उक्ति-चमत्कार में ही सीमाबद्ध हो गया है।”^६ वस्तुतः द्विवेदी जी मानते हैं कि जो काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों से जितना कम आबद्ध होता है, वह मनुष्य मुक्ति का उतना बड़ा संदेश देता है।

द्विवेदी जी ने रीतिकालीन साहित्येतिहास लेखन में रीतिकाव्य की मनोवृत्ति को भी जगह-जगह उद्घाटित करते हुए यह स्पष्ट किया है कि रीतिकालीन साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है और जो काव्य लेखन हो रहा है, वह केवल नारी-देह की शोभाओं और चेष्टाओं के अवलोकन तक ही सीमाबद्ध है। वह लिखते हैं, “रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओं को गरीबी के वातावरण में नहीं

देख सकता। बिहारी से लेकर ग्वाल और पजनेस तक सभी कवियों के चित्त में नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्यदीप्त शोभा का भाव था जिनमें कटाक्ष-विक्षेप की क्षमता न हो, ऐसी गोबर पाथती हुई, खेत निराती हुई, गृहकर्म में उलझी हुई स्त्रियाँ उनके काव्य का विषय नहीं हो सकती थीं, क्योंकि उनमें वक्तव्य को मादक बनाने की क्षमता नहीं थी।^{१३}

द्विवेदी जी मानते हैं कि रीतिकालीन काव्य में नारी के सामाजिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति का अभाव है। वस्तुतः इसी कारण रीतिकाल की नायिका आभूषणों से लदी होकर भी निष्प्राण है। द्विवेदी जी की दृष्टि निश्चय ही रीतिकाल के नायिका-विवेचन में प्रगतिशील है जो सौंदर्य की खोज ग्रामीण स्त्री के उसके दैनिक कार्यों में देखने को इच्छुक है।

द्विवेदी जी रीतिकाल के संदर्भ में मौलिकता को महत्त्व देते हैं। हालांकि वह यहाँ पर आचार्य शुक्ल से प्रभावित दीखते हैं। आचार्य शुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ में यह स्पष्ट करते हैं कि केशवदास, भूषण, देव, आदि ने काव्य के वर्णन में सामग्री कहाँ-कहाँ से ली है। यहाँ पर द्विवेदी जी मूल रूप से शुक्ल और नगेन्द्र की ही परंपरा को विकसित करते हुए उनका समर्थन करते हैं और कहते हैं, “कहने का मतलब यह है कि काव्य-शास्त्र का सांगोपांग विवेचन करने वाले इन कवियों ने कोई नई बात नहीं कही।”^{१४}

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल में जिस तरह बिहारी को स्थापित किया है और उनके एक-एक दोहे को हिंदी साहित्य का रत्न माना है, ठीक उसी तरह द्विवेदी जी ने ‘मतिराम’ को केन्द्र में रखा है। वस्तुतः रीति-कवियों में चर्चा के केन्द्र प्रायः केशव, बिहारी और देव ही रहे हैं। परंतु मतिराम को सबसे ऊपर लाने का साहस द्विवेदी जी करते हैं। आचार्य शुक्ल मतिराम के काव्य में स्वाभाविकता और अनाडंबरपूर्ण भाषा के चलते उनकी प्रशंसा करते हैं, परंतु द्विवेदी जी उनकी कविता में गार्हस्थ्य-भावना की खोज करते हैं। वह लिखते हैं, “प्रथा के अनुसार, मतिराम ने विभिन्न श्रेणी की नायिकाओं का लेखा प्रस्तुत किया अवश्य है, पर मूलतः वे गृहस्थी के कवि हैं। मध्यकाल की अनुरागवती गृह-वधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया

है, वैसा अन्य कवियों ने नहीं किया।”^{१५} यह द्विवेदी जी के सामंतविरोधी दृष्टिकोण का ही परिचय है।

द्विवेदी जी ने रीतिकाल के संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से भी कवियों का वृत्तांत प्रस्तुत किया है। मुख्यतः ‘बिहारी’ को लेकर बिहारी की तुलना उन्होंने मतिराम, देव और पद्माकर से की है और मतिराम की भाषा की सहजता और काव्य-चित्रण में चकाचौंध की जगह वास्तविकता अपनाने के कारण उन्होंने मतिराम को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया है।

वस्तुतः वह ‘मतिराम’ के संदर्भ में रीतिकालीन भाषा की भी बात करते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि भाषा वही होनी चाहिए जो सहज हो और बिना तोड़-मरोड़ के अर्थ को स्पष्ट करती है और जो चित्त को बहा ले जाती हो। द्विवेदी जी यहाँ पर साहित्य की भाषा में ‘भाषा की सामाजिकता’ के साथ-साथ मतिराम की निजी सृजनशीलता को भी प्रकट करते हैं। वस्तुतः साहित्य की भाषा के उपर्युक्त दोनों पक्षों पर विचार करना प्रत्येक साहित्येतिहासकार के लिए अनिवार्य है।

इसके उपरान्त वह पद्माकर को मतिराम की ही परंपरा को ठीक से निभाने वाले कवि मानते हैं। वे देव को आधारफलक और गार्हस्थ्य प्रेम के कारण बिहारी से श्रेष्ठ मानते हैं तो बिहारी को छंदों के चुनाव में देव से श्रेष्ठ मानते हैं। ‘बिहारी’ के मूल्यांकन के अंतर्गत द्विवेदी जी सतसई-परंपरा का भी विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि उन पर हाल की ‘गाथा सप्तशती’ गोवर्धन की ‘आर्या सप्तशती’ और अमरुक के ‘शतक’ का प्रभाव ही नहीं पड़ा अपितु बिहारी ने स्वयं भी इनका विस्तृत अध्ययन किया था। वह लिखते हैं, “बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सभी बड़े कवियों की रचनाओं का निपुण अध्ययन किया था और इस बात का पूरा प्रयत्न किया था कि उनके दोहे अधिक व्यंजक, अधिक मर्मस्पर्शी, अधिक भाववाहक और अधिक सुथरें हों। उन्होंने पुराने कवियों के भाव को ग्रहण किया था, उसे सँवारा था, उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया था और उसे ‘अपना’ बना दिया था।”^{१६} वस्तुतः द्विवेदी जी यहाँ परंपरा के साथ संबंध जोड़ते हुए उसके विकासमान प्रक्रिया की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं तो उनके परंपरावादी इतिहास-दृष्टि का प्रमुख केन्द्र है।

आचार्य शुक्ल के समान ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी रीतिकाल के रीति-निरूपक कवियों से भिन्न अन्य कृतिकारों के लिए एक स्वतंत्र खाता खोलते हैं। हालांकि, शुक्ल जी ने 'रीतिकाल के अन्य कवि' के अंतर्गत रीतिमुक्त कवि और भक्ति, नीति के कवि को स्थान दिया तो वहीं द्विवेदी जी 'रीतिमुक्त काव्यधारा' नाम से कवियों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं और संभवतः साहित्येतिहास में रीतिकाल को 'रीति-मुक्त' में विभाजित करने वाले पहले साहित्येतिहासकार थे। उन्होंने रीतिमुक्त को 'फारसी साहित्य' से प्रभावित माना और लिखते हैं, "फारसी कविता में बड़े मोहक रूप में वर्णन किया गया है, उसका थोड़ा-सा आभास ठाकुर और घनानंद जैसे स्वच्छंद प्रेमवादी कवियों की रचनाओं में मिल जाता है। पर यह परंपरागत रीतिकाव्य के बाहर की बात है।"^{१९} वस्तुतः द्विवेदी जी रीतिमुक्त काव्यधारा को फारसी के ऐकांतिक प्रेमवादी कवियों की रचनाओं से प्रभावित मानते हैं।

द्विवेदी जी का रीतिकालीन साहित्येतिहास शुक्ल जी और अन्य साहित्येतिहासकारों की तुलना में संक्षिप्त है और द्विवेदी जी ने केवल प्रमुख रीतिकालीन कवियों को आधार बनाया है, हालांकि वह घनानंद जैसे प्रभावशाली कवि का सिर्फ नामोल्लेख ही करते हैं जबकि घनानंद जैसे समर्थ रचनाकार को किसी भी साहित्येतिहास से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता है। वस्तुतः द्विवेदी जी इस काल के साहित्य की एक परंपरा को हमारे सामने रखते हैं। वह रीतिकाल के खोतों को हमारे सामने स्पष्ट करते हुए तत्कालीन समाज में रह रहे वर्गों और कवियों की मनोवृत्ति को दर्शाते हैं। द्विवेदी जी 'रीतिकाल' का वृत्त-संग्रह नहीं तैयार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने 'रीतिकाल' का विवेचन उतना ही किया, जिससे उस काल से जुड़ी परंपरा, समाज, प्रवृत्तियाँ आदि बातें सहज ढंग से प्रकट हों।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकाल के संदर्भ में संक्षिप्त परंतु अत्यंत सार्थक इतिहास लेखन किया है। उनके रीतिकालीन साहित्येतिहास लेखन में एक लयात्मकता है जो पूरे लेखन में सर्वत्र विद्यमान है। द्विवेदी जी की परंपरावादी दृष्टि 'रीतिकाल' के उन महत्वपूर्ण बिंदुओं से

साक्षात्कार कराती है जो इससे पूर्व के साहित्येतिहासकारों नहीं किया था, तो वहीं दूसरी तरफ उनकी सामंतविरोधी और प्रगतिशील दृष्टिकोण रीतिकालीन साहित्य और समाज के संबंध को विभिन्न स्तरों पर विवेचित करती है। रीतिकालीन इतिहास लेखन में लोक की अवधारणा उनके सामने निरंतर बरकरार रही है और उन्होंने स्पष्ट किया है कि दरबारी संस्कृति से जुड़ी रूढ़िबद्ध कविता से उस काल की लोकगीत बेहतर है। लोकवादी और मानवतावादी जीवन दृष्टि के कारण ही वह रीतिकाल न साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव मानते हैं। वस्तुतः द्विवेदी जी रीतिकालीन साहित्य को भारतीय साहित्य के इतिहास के अंग के रूप में देखते हैं और यही उनकी इतिहास दृष्टि की व्यापकता और विकासशीलता का प्रमाण है।

आधार ग्रंथ:

१. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१५

२. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली २०१०

सहायक ग्रंथ:

१. शुक्ल, रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, २०१३

२. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन, बेनी माधव प्रेस, रांची, १९६०

३. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, २००९

४. शर्मा, आनंदनारायण, हिंदी साहित्य का इतिहास-दर्शन, अनुपम प्रकाशन १९८७

५. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, २०१४

६. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, हिंदी साहित्य का इतिहास और उसकी समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, २०१६

७. डॉ. नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९

८. राजे, सुमन, साहित्येतिहास: संरचना और स्वरूप, ग्रंथम प्रकाशन, १९७५

नवल

बात है

रात है, मैं हूँ, कलम है, शब्द है
 शब्दों में सिमटे कई-कई अर्थ हैं
 रात की निस्तब्धता में
 मैं उनकी आवाज सुनता हूँ
 कलम उनकी आवाज को लिप्यांतरित करती है
 शब्द का वही तो अर्थ नहीं होता
 जिसको हम जानते हैं पढ़ते या सुनते हुए
 वह तब मात्र माध्यम होता है संवाद के लिए!
 शब्द केवल उतना ही नहीं होता
 जितना हम उसे जानते हैं
 जैसे माँ एक शब्द नहीं है
 वह एक उत्स है
 जिसके साथ जुड़े होते हैं
 उनके अनेक संदर्भ, बहुविध आयाम
 माँ जाग रही है मेरे रतजगे के साथ
 मुझे शब्दों के उद्गम तक पहुँचाती
 उनकी इतिहास कथा सुनाती
 उनका संदर्भ बताती
 तो मुझे लगता है
 कि शब्द माँ की तरह होते हैं
 जो हमें अपना होना बताते हैं
 और कुछ-कुछ हमें दूसरों तक पहुँचाते हैं।

तुमने मेरे पथरीले घर में कदम रखा

तुमने मेरे पथरीले घर में कदम रखा
 और वहाँ एक मीठे पानी का चश्मा फूट पड़ा
 पूरा गाँव उस चश्मे का पानी ले जाता है
 उसमें नहाता है, पीता है
 और पूरे गाँव से उदासी भाग गयी है
 मैं इस करिश्मे से खुश हूँ और परेशान भी
 अगर मुझे मालूम होता कि इस खुशी के एवज में
 उदासी तुम्हारे दिल में घर कर जायेगी
 तो मैं...

दिन ख्यालों को राहत देने के लिए बना

दिन ख्यालों को राहत देने के लिए बना
 हुस्न दिल को बहलाने के लिए
 मुकद्दर और फ़िराक्रापरस्ती खुद को बाँटने के लिए
 गुनाह हमने किए
 और दूसरों पर मुकद्दस बने रहने का फरमान जारी किया
 आजादी, हमारी दुनिया की सबसे खूबसूरत नेमत थी
 वह हमारे वहशी दिल की शिकार बनी
 और उस पर हुकूमत की नींव पड़ी
 हुकूमत के लिए जंग
 जंग के लिए भेड़ें
 और यहीं से शुरू हुआ
 हमारी बेचारगी का सफ़र

कड़ी धूप में बादल के एक टुकड़े के नीचे

कड़ी धूप में बादल के एक टुकड़े के नीचे
 मैं उससे पहली बार मिला था
 सड़क पर धूप चमक रही थी
 धूप में उसके पाँव
 मानो समन्दर की लहरों पर चल रहे थे
 पत्तों से छनकर आती धूप की तरह
 हम एक दूसरे को देख लेते थे
 धूप आसमान की बलंदियों को छू रही थी
 धूप समन्दर की सतह पर बिखरी हुई
 और हम दोनों बर्फ़ ढके पहाड़ों की तरह थे
 जेठ की धूप
 उसके सिर पर बादल का टुकड़ा
 किसी आने वाली बारिश की शुरुआत थी

समझो

समझो यह आखिरी सफ़ा है
जिस पर तुम्हें
अपनी आखिरी इबारत लिखनी है
समझो
यह आखिरी मौका है
जब तुम्हें आखिरी बार बोलना है
समझो
यह आखिरी सांस है
जिसे तुम्हें खुद में भरकर
बाहर निकाल देना है!
समझो!
यह तुम आखिरी छलांग लगाके
जिसमें तुम्हें समंदर पार कर जाना है
समझो यह आखिरी वक्त है
जो तुम्हारी अपनी मुट्ठी में है
समझो और इत्मिनान की सांस लो
जरा सोचो
कि तुम कैसी इबारत लिखोगे
क्या बोलोगे
और भरपूर सांस लेते हुए
कितनी दूर छलांग लगाओगे ?
समझो!
जिंदगी का हर लम्हा आखिरी हो सकता है
और हम नादानी में
उसे पहला समझ जाया करते हैं।

फाव

प्यास ने मुझे उड़ान दी
और जोड़ दिया आकाश से!
देकर दर्द रखा मुझे जिंदा
और मेरे लिए
पिछली सदियों
और अनागत के द्वार
खुलते चलते गए!

मैंने सोचा है

मैंने सोचा है
अब कभी नज्म नहीं लिखूँगा
क्योंकि जो भी लिखा जायेगा नज्म के नाम पर
वह कुछ और होगा
मुहब्बत, खुदा और सच्चाई
तक़रीबन
हवाई घोड़ों की लड़ाई जैसी है
जिन पर बैठकर आप फ़तह का मर्सिया
लगातार पढ़ते रह सकते
और अपनी जवांमर्दी को याद कर सकते हैं
यादें जाड़े के दिनों में लिहाफ़ का काम करती हैं
गर्मी के दिनों में ठंडी हवा का
बरसात के दिनों में छाते का
लेकिन मौसमों के असर से वे
आपको बचा तो नहीं सकती!
नज्म आपको अपने दिलफ़रेब घेरे में लेकर
बचा तो सकती हैं
लेकिन आप जानते हैं
कि वे आखिरकार दिलफ़रेब हैं
न तो उनका वास्ता आप से है
न आपकी मुहब्बत से
न आपके खुदा से
और न ही आपकी सच्चाई से
मैंने सोचा है
अब कभी नज्म नहीं लिखूँगा
क्योंकि जो लिखा जायेगा नज्म के नाम पर
वह आखिरकार झूठ होगा
तो यक़ीनी तौर पर मेरे रिसते घावों पर
मरहम का काम भी न करेगा

संपर्क :

162/ए/12, लेक गार्डेंस, कोलकाता- 700045

शिवकुमार अर्चन

कविता

एक

आइने में
अभी अभी तुम्हारा चेहरा था
अब
कविता लिखी है

दो

तुम हांफ रहे हो
उखड़ रही हैं तुम्हारी सांसें
बेहद थके लगते हो तुम
आओ
कुछ देर कविता के पास बैठें

तीन

कहीं से भी
शुरू हो सकती है कविता
नदी, पेड़, चिड़िया
रेल, पुल, बाज़ार, घर
कोई मुझे बताए
कविता खत्म कहां होती है।

चार

इस समय
जब हम मुब्तिला हैं
कविता के विमर्श में
कहीं लिखी जा रही होगी

कविता

पाँच

खेत से पगडंडी
पगडंडी से सड़क
सड़क से महानगर
कविता
अब तुम कहाँ हो

छः

तुम भले
औरों के लिए
बहता पानी हो
नदी तुम
मेरे लिए कविता हो

आठ

गमले में गुलाब खिला है
हवा में खूनक है
ईगुर से भरी थाल लिए
सूरज खड़ा है
परिन्दे प्रभाती गा रहे हैं
पत्तों की कानाफूँसी है
घर पर चमक रही हैं बूंदें
वाह,
क्या रात भी कविता लिखती है

आठ

चित्रकार कहता है
हिलो डुलो नहीं
चित्र बिगड़ जाएगा
मैं कहता हूँ
चेतन रहो
कविता बन जाएगी

नौ

धरती के पृष्ठ पर
प्रकाश की कलम से
लिखा गया प्रथम शब्द
कविता थी
और अंतिम भी
कविता हो
आमीन

दश

शब्द की ईंट
अनुभव का गारा
भाषा का पलस्तर
कविता एक घर है
जिसमें रहता है कवि।

संपर्क : 10, प्रियदर्शिनी वैली, ई-8 एक्सटेंशन, अरेरा कॉलोनी, भोपाल- 4620039, मो. 09425371874

अनूप अशेष

काँच भरे दिन

हिरन की कुलाँच-भरे दिन
 इकहत्तर पार
 घिसे-
 काँच भरे दिन।।
 कब आए कब गए
 सीढ़ियाँ उतर गए,
 साल-साल
 की गाँठें
 बाँधते बिखर गए।
 पीढ़ी से पाँच
 झरें दिन।।
 कोलाहल थे टूटे हल थे
 विस्मृति के पल थे,
 माई की
 गोद भरे
 सूखे में जल थे।
 अपनों की नाच
 डरे दिन।।
 रातों के भोरों के
 उँगली के पोरों के,
 गलियों खोरों
 भटके
 पाँव लिए मोरों के।
 आँगन की आँच
 चरे दिन।।

मछुआरों के जालों

मछुआरों के सूखे जालों
 मरी मछलियाँ हैं।।
 पानी में है गंध
 रेत में बैठे धूप-दिवस,
 सरपत के पेड़ों
 में डैने
 खुले हुए परवश।
 नदियों की भीटों पर फेंकी
 फटी थिगलियाँ हैं।।
 जाल समेटे घर जाने को
 बच्चों की दुपहर, आँतें सूँघ रहीं
 कुछ बाहर
 भीतर रहीं उतर।
 पेटों के कुठलों तक फूटीं
 कितनी गलियाँ हैं।।
 तट पर नाव खड़ी ठीके बिन
 काँखों में पानी,
 मरने मुरझाने
 की व्यवस्था
 करता राजा दानी।
 उँगली-सा आकाश और
 नाखून बदलियाँ हैं।।

हम हुए छोटे

दिन बड़े होते गए
 हम हुए छोटे।।
 हर बड़े बाजार का
 नक्शा नया है,
 घोंसले को
 जोड़कर
 भरती बया है।
 मशीनों की धुंध में
 हैं किले परकोटे।।
 पुतलियों से दूर वह
 रस्ता पुराना,
 सुबह कल की
 आज किसने
 उसे जाना।
 माथ की आभा रहे जो
 आज खोटे।।
 इस व्यवस्था में कहीं
 निस्तार हैं हम,
 हवाओं में
 हाथ हैं
 संसार है कम।
 जहाँ अपने थे नहीं
 हम वहीं लौटे।।

संपर्क: अतुल मेडिकल स्टोर, हास्पिटल रोड, सतना- 485001 (म.प्र.), मो. 9424934472

आनंद गुप्ता

वसंत एक उम्मीद का नाम है

उम्मीद
 एक नवजात चिड़ियाँ की आँखों में बसा
 खुले आकाश की पहली उड़ान है
 हर पतझड़ के बाद
 खिलखिलाते वसंत का आगमन
 एक उम्मीद लिए आती है
 आम के पेड़ों पर लदी मंजरियाँ
 डालियों पर छाये
 पलाश, सेमल और कचनार
 तेज धूप में
 बहादुर सैनिक की तरह डँटा
 दुपहरिया का फूल
 कटे पेड़ की टूँठ पर सिर उठाए
 ताजे टटके पत्ते
 एक उम्मीद की तरह उग आते हैं
 उम्मीद एक नाविक की आँखों में
 कलकल बहती नदी है
 तूफानी रातों में समुद्र को
 राहें दिखाता आकाशदीप
 धरती की आँखों पर आकार लेता
 सबसे सुंदर सपना
 वसंत एक उम्मीद का नाम है
 इस वक्त धरती
 उम्मीद से कितनी हरी-भरी लग रही है।

तुम्हारी आँखों में उतर आया है चाँद

आज की रात चाँदनी से नहाई हुई है
 तालाब में बैठा चाँद
 तरंगों के साथ अठखेलियाँ करता
 हमें टुकुर-टुकुर निहारता है
 बागीचे में खिला हरसिंगार
 सीधे तुम्हारी नींद से झरता हुआ

मेरी आँखों पर बरस रहा है
 तुम्हारी साँसों से बहती फागुनी बयार
 मेरे गालों को छूती साँसों में घुलती है
 मेरे अंदर महक उठते हैं कचनार
 आज की रात
 आकाश हमारा बिस्तर है
 हम पूरे ब्रह्मांड को मापने निकले
 आकाश गंगा में भटकते दो नक्षत्र
 हम आकाश पर घुमड़ते
 बरसने को आतुर बादल के दो टुकड़े
 भीगेंगे आज साथ-साथ
 सुनो प्रिये!
 तुम्हारी आँखों में उतर आया है चाँद
 चाँदनी से नहायी
 मेरे बिस्तर पर पड़े आकाश को बाँहों में थामे
 जी भर प्यार करूँगा
 टाँक दूँगा चाँद पर असंख्य चुम्बन।

भृष्टि में प्रेम

किसी विराट पिण्ड के प्रेम में पड़
 धरती ने छोड़ा होगा सूरज का घर
 विरह की आग में धधकी होगी
 साल दर साल
 तड़पी होगी विरहिणी की तरह
 जब थमी होगी ज्वाला
 धरती का कण-कण प्रेममय हुआ
 जब कण-कण मिलें
 जब कण-कण जुड़े
 हुई सृष्टि
 अंकुरित हुई धरती
 धरती के वक्ष से फूटे स्रोत
 निकली नदियाँ
 जितना विराट हुआ प्रेम

उतने ही विशाल समुद्र
उतने की विशाल जंगल
धरती के प्रेम का हर भाव
बनी एक-एक ऋतु
धरती हुई प्राणमयी
प्रेम सृष्टि
प्रेम ब्रह्मा
प्रेम ही सत्य
प्रेम शिव है
प्रेम इस धरती का
सबसे आदिम अनुभव है।

प्रेम में बेट होना

रेत की देह पर
नदी की असंख्य प्रेम कहानियाँ हैं
नदी पत्थर को छूती है
पत्थर कांपता है
और बिना कुछ सोचे नदी को चूमता है
नदी उसका आलिंगन करती है
पत्थर उतरता है धीरे-धीरे
नदी के दिल में
गहरे और गहरे
नदी के साथ प्रेम क्रीड़ा करता हुआ
पत्थर बहता है नदी के साथ
पत्थर मदहोश हो
टकराता है पत्थरों से
टूटता है पिघलता है
और अंततः रेत बन जाता है
प्रेम में हर पत्थर
हर चट्टान को
अंततः रेत होना होता है
जिस पर बच्चे खेलते हैं
जिस पर एक प्रेमी लिखता है
अपनी प्रेमिका का नाम
जिससे घर बनते हैं।

शीर्षकहीन

(सीरिया के एक स्कूल का ध्वंसास्तूप देखकर)

कभी जहाँ खिलते थे मासूमीयत के फूल
आज हवा में बारूद की गंध है
अब यहाँ शब्द नहीं गूँजते
यहाँ सन्नाटा बोलता है
और कभी-कभी गूँजती है
बमों और गोलियों की आवाजें
टूटी हुई दीवार पर टंगे घंटे को
अरसे से किसी जिंदा हाथ का इंतजार है
मलबे से झाँकता है
कोई अधजला यूनीफार्म
अधजली किताबों का अक्षर-अक्षर घायल
अधजली कापियों से उड़कर
कब की दूर चली गयी हैं तितलियाँ
स्थगित है वसंत का आगमन
जमीन पर पड़े ब्लैकबोर्ड पर
शब्दों की जगह खून के छींटे हैं
आँसूओं की न जाने कितनी बूँदें
दफन है इस मिट्टी में
कितनी टूटी आशाएँ
कितने बिखरे सपनों के बीच
सारी बर्बरता को परास्त कर
एक अंकुरित पौधे ने उठा रखा है अपना सिर
बारूद से पटी धरती पर
जीवन की उम्मीद अभी भी कायम है।

संपर्क:

गली नं 18, मकान सं. 2/1, मानिकपीर,
पो. कांकिनारा, उत्तर 24 परगना, प. बं.- 743126

घनश्याम कुमार देवांश

जौकरी एक जूता

ये मैं नहीं हूँ- सुबह साढ़े दस बजे
अपने जूतों के फीतों को बांधता हुआ
ये मेरे मालिक के हाथ हैं
जो मुझे जूतों में कैद कर रहे हैं
यह मेरी गाड़ी नहीं है
दरअसल यह जूता है जिसके भीतर बैठकर
मैं हर रोज हाज़िर होता हूँ
इस जूते के बाहर एक ब्रांड का लेबल चस्पा है
बेशक यह एक महंगा जूता है
और मैं इस बात पर फक्र कर
सकता हूँ कि करोड़ों लोग
अपने फटे हुए जूतों और चप्पलों
के रिकशे पर बैठकर आते हैं
और मुझे सामने पाकर सलाम ठोंकते हैं
लेकिन यह शायद मैं ही जानता हूँ कि
इस जूते के भीतर कितनी घुटन और बेचैनी है
एक दुर्गन्ध में लथपथ रोज लौटता
हूँ मैं अपने घर के सीलिंग फैन के नीचे
मैं एक इतवार का इंतजार करता हूँ
इस पसीने भरी दुर्गंध को
अपने वजूद से सुखाने के लिए।

मालिक का इंतजार

बुरे समय में
मालिक के चुटकुले सुनाने से आरामदायक व
सुकूनभरी बात कोई और नहीं हो सकती
जबकि अपने लड़के की किलकारी पर आप उसे
एक झापड़ रसीद कर सकते हैं,
बीवी की मुस्कान पर बालू की तरीदार सब्जी
वॉशबेसिन के हवाले कर सकते हैं

और दोस्तों की महफिल से
भरी जूतों में हल्के पैर लिए
देर रात अपने घर लौट सकते हैं
दरअसल बुरे समय में सूर्य
यह बताने की ताकत खो देता है
कि अभी अँधेरा नहीं हुआ है,
चिड़िया, बच्चे और हरी घास से भरा मैदान
ये बताने के लिए काफी नहीं रह जाते
कि दुनिया में मुस्कुराने के लिए
मालिक का इंतजार नहीं किया जाना चाहिए

.....

जब मालिक खुश होता है
जब मालिक मुस्कुराता है
तो लगता है
चाँद की बंजर पथरीली धरती पर
सूरजमुखी उग रहे हैं
जब मालिक गाता है
तो नाचने लगते हैं आठों ग्रह
जब मालिक नाचता है
तो सूरज भी अपनी स्थिरता त्यागकर
कहेकहे लगाने लगता है
जब मालिक खुश होता है
तो किसी भी दुःख में रोना
या मायूस रहना
पाप सा लगने लगता है
और जब मालिक
चुप-चुप रहने लगता है
तो जैसे रास्ता काटने लगती है बिल्लियाँ
और पैरों में

कविता

एक झुनझुनाहट सी रहने लगती है
आठों पहर

जब मालिक डांटता है
तो हिमालय भी सागर में समा जाता है
तारे टूटने लगते हैं
और आने लगते हैं बुरे-बुरे सपने

जब मालिक नाराज होता है
तो अकेले में भी मुस्कराते हुए
डर सा लगने लगता है।

बातूनी लड़की

बातूनी लड़की बातों का पंखा झलती थी
दिन-रात लगातार
इस तरह वह वक्त को बैठने नहीं देती थी
अपनी आत्मा पर
लड़की दुनिया के बारे में कुछ नहीं जानती थी
न ही दुनिया को पता था कुछ
उसकी दुनिया के बारे में
लड़की और दुनिया के बीच यह लड़ाई लंबे समय
से चल रही थी
और इस लड़ाई में वक्त भी दुनिया के तरकश में
शामिल था

लड़की कितनी अकेली थी
और कितनी अकेली थीं उसकी बातें,
कैमरे और आईने से
उसकी मोहब्बत दिन-ब-दिन बढ़ती जाती
वह अपने अक्स में अपने आप को ढूँढ़ती
अपने बालों में, अपनी आँखों में, अपने माथे पर
अपनी हथेलियों में,
वह अपनी त्वचा को अपनी उँगलियों से छूती
और अपने आप से पूछती क्या यही हूँ मैं
पूरी रात वह अकेली सोती
पूरी रात वक्त उसके सिरहाने बैठा रहता

पूरी रात चाँद छत पर टहलता
पूरी रात हवा खिड़की पर बैठी रहती
पूरी रात दुनिया में सन्नाटा पसरा रहता
जब थकी हुई बातूनी लड़की चुपचाप
अपनी आँखों के भीतर सोई रहती।

जादुई घोड़ा और जिराफ

एक हरा भरा पहाड़ी रास्ता
आकर खत्म हुआ तुम पर
एक पूरा झरना तुम्हारी देह में घुल गया
इस तरह पहाड़ों, नदियों, वृक्षों,
पक्षियों व बादलों से भरी पृथ्वी
और आकाश के जरिये किया तुमसे प्यार
एक खामोश उदास बेंच पर
रची सृष्टि तुम्हारे साथ
बनाया एक जादुई घोड़ा
और आकाश की पत्तियाँ चबाने वाला एक जिराफ
जेब में पाले रहस्यमयी बिल्लियों के बच्चे
और पहाड़ी याक के थनों से
छाना ढेर सा एकांत
प्रलय भरे प्रेम के साथ।

चिड़िया जिंदा थी

वह बहुत देर चुप रहा
इतना चुप कि उसे घबराहट
होने लगी कि वह है भी या नहीं
उसने उसी खामोशी में
एक पत्थर सूरज की ओर उछाला
एक चिड़िया खट्ट से नीचे गिरी
वह उसके पास गया और उसे उठाकर देखा
चिड़िया जिंदा थी
उसकी आँखों में वह था
उसकी जान में जान आई यह जानकर
कि वह है।

संपर्क : 431, पी एंड टी कॉलोनी, आर.के.पुरम सेक्टर-6, नई दिल्ली- 110022, मो. 9582532501

मिथिलेश कुमार

पैसे पत्र चलता है आदमी

सुबह से लेकर
शाम तक
आदमी चलता है
पैसे के ऊपर
पैसे के बलबूते
पैसे के सहारे।

चूँकि पैसा
हर आदमी की जरूरत है
सबका सहारा है
हाथ-पाँव है
एक तरह की बैशाखी है
आदमी की ताकत है।

और पैसे के बिना
आदमी अपाहिज के समान
क्योंकि पैसे की कमी
आदमी को बना देता है
लूल्हे और
लंगड़े से भी बदतर
कि बना देता है
बिल्कुल गूंगा
बिल्कुल निःशक्त।

आज जबकि पैसे की कमी
रोग है... रोग
एक घिनौना रोग
जैसे कोढ़
क्योंकि आदमी कन्नी काटता है
कोढ़वाले व्यक्ति को देखकर
ठीक वैसे ही आदमी भागता है
रास्ते काटता है पग-पग पर
बिन पैसे वाले को सामने से

आते हुए देखकर।
चूँकि पैसे के बिना
आदमी का कोई मोल नहीं होता
आज बात करो तो पैसा
कहीं घूमने जाओ तो पैसा
कुछ खाओ तो पैसा
या घर से बाहर निकलो तो पैसा।

क्योंकि हर जगह चाहिए
आज पैसा ही पैसा
सोने से पहले और
जगने के बाद
पैसे पर ही चलता है आदमी।

सैलरी

बड़े लम्बे इंतजार के बाद
हाथों में आती है
सैलरी
उड़ती हुई, फड़फड़ाती हुई
ख्याली पुलाव पकाती हुई
आदमी को तरसाती हुई
बहुत देर के बाद
हाथ में आकर
जल्दी चली जाती है
हाथ से बाहर।

सैलरी आते ही आते
ढूँढ़ लेती है
अपने रास्ते,
अपनी जगह,
जैसे बच्चों की फीस,
रूम का किराया,

दूध का कर्जा और
राशन दुकान का खर्चा।
पहले खूब उथल-पुथल
मचता है मन में
लेकिन, ज्योंही हाथ लगती है
सैलरी
तब सिमट कर चला जाता है
आदमी अपनी सीमा के भीतर।

आदमी लाख सोचता है
बड़े-बड़े सपने देखता है
लेकिन क्या होता है
छोटी-सी सैलरी के सहारे
नप जाता है उसका कद
छोटी पड़ जाती है
उसकी औकात
चकाचौंध की दुनिया के आगे।

तड़प

तुम्हें सत्ता की भूख लगी है
और अपने लिए
राजगद्दी की पड़ी है
यहाँ रोटी के लिए
भूखों मर रही है
जनता
जरा भी नजर नहीं आती
कितना तड़प रही है!

संपर्क: ग्राम व पोस्ट- कोईरीगावाँ,
थाना- बड़हरिया, जिला- सीवान (बिहार),
पिन- 841232, मो. 966115352

डॉ. वेद मित्र शुक्ल

गजल

एक

कलम उठती जो लिखने को तो उसका नाम लिखता था,
सफ़ा पर डायरी के रोज सुबहो शाम लिखता था।
गजल के शेरों में यादों को कुछ ऐसे पिरोया था,
कि कहने को गजल तो थी मगर पैग़ाम लिखता था।
नहीं की कोशिशें मैंने ये कहना झूठ ही होगा,
संदेशे भेजता तो था मगर बेनाम लिखता था।
उसी के जिक्र से तो शायरी थी खास बन जाती,
मगर खुद को तो बंदा वो गजलगो आम लिखता था।
फसाने सैकड़ों थे पर उसी का जिक्र था सबमें,
उसी से हर समय आगाज औ अंजाम लिखता था।
नहीं यीशू भी था वो जो कि सूली पे लटक जाता,
उठाये अपने सर ऊपर सभी इल्जाम लिखता था।

दो

धरती से हूँ इससे ही सदा हमको जुड़ करके रहना है,
सहती है भार जहाँ का वो हमको भी तो कुछ सहना है।
हसरत है नहीं हमको तो यारो आसमान छूने की,
हमको तो पहाड़ों से रिस-रिस कर धरती ऊपर झरना है।
झर-झर के चाँदनी अम्बर से इस धरती पर छा जाती है,
आँखों की राह से उसी तरह हमको भी दिल में उतरना है।
चौराहों पर तो धूप, हवा, पानी बिकने को आये अब,
तज कर इस शहरी दुनिया को अपनी बस्ती में बसना है।
आ गये दूर तक, और दूर तक अब भी हमको जाना है,
जीवन का मतलब यारो चलना है केवल चलना है।

तीन

सच यदि हर किरदार बोलता,
झूठ नहीं अखबार बोलता।
मिल जाये सम्मान अगर तो,
सत्ता की जयकार बोलता।
रिश्ते-नाते सब बेमानी,
सिर चढ़कर बाजार बोलता।
बस, इतना कानून यहाँ है,
जितना थानेदार बोलता।
साँठ-गाँठ करता चोरों से,
खुद को पहरेदार बोलता।
अपना उल्लू सीधा करता,
बातें लच्छेदार बोलता।

चार

खुद से जब परिचय होता है,
जीवन यह सुखमय होता है।
जितना कहती है जिह्वा, क्या-
उतना ही आशय होता है ?
ले रहा शपथ सच कहने की,
पर, उस पर संशय होता है।
जीवन हो एक कैलेण्डर सा,
ऐसा क्या कुछ तय होता है ?
पल में क्या कब घट जायेगा ?
अनहोनी से भय होता है।
आना-जाना इस दुनिया में,
होता है, लयमय होता है।

संपर्क: अंग्रेजी विभाग, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली- 110015, मो. 09599798727

कविता की जिद पर - अशोक वाजपेयी

अपने लड़कपन के दो प्रसंग अब तक याद हैं। सागर जैसे छोटे शहर में हम दस-बारह कवि कहीं जमा थे, एक गोष्ठी में अपनी कविताएँ एक-दूसरे को सुनाने के लिए। एक कवि जब अपनी कविता सुना रहा था तभी चाय आ गयी और उसकी प्यालों की खनक की ओर एक बुजुर्ग कवि का ध्यान चला गया। कवि क्षुब्ध होकर बोला: अध्यक्ष जी, मैं अपनी कविता सुना रहा हूँ और आपका ध्यान चाय पर है।' अध्यक्ष ने कहा: 'कविता अच्छी है पर चाय बेहतर है।' सरकारी स्कूल में दसवीं कक्षा खत्म होते ही हमारे प्रिय गुरु लक्ष्मीधर आचार्य का तबादला हो गया: हम सब छात्र बहुत रोये-गाये। मैंने उनके साथ पहली बार चाय पी थी, होटल में समोसा खाया था, जीवन की पहली फिल्म देखी थी, अज्ञेय-पंत के कवितासंग्रह, 'शेखर एक जीवनी' के दो भाग, 'कल्पना' के अंक उनके दिये पढ़े थे। वे मेरे कंधे पर हाथ रखकर बोले: 'तुम्हारा परिवार प्रशासकों का है सो तुम्हें भारतीय प्रशासन सेवा में आना चाहिए पर मरना कवि की तरह।'

२

कविता लिखते अब साठ से अधिक बरस हो गये। इस बीच आलोचना लिखना भी शुरू किया और जारी रखा, संपादन, आयोजन, संस्था-निर्माण आदि कई काम किये, ३५ वर्ष प्रशासन सेवा में बिताने के अलावा। कविता लिखने में बड़े अंतराल आये इतने कि पहले के बाद दूसरा संग्रह १८ वर्ष के बाद निकला। पर कविता से मन कभी उचाट नहीं हुआ। अपने बाकी सबको कविता का विस्तार ही मानता रहा। हमारे समय और समाज में अपनी ही नहीं समूची कविता की विफलता का तीखा-गहरा अहसास मुझे है। लेकिन आस उस दर से छूटती ही नहीं, जा के देखा, न जा के देख लिया' जैसा कि फैज़ ने कहा था। अगर कहीं भी मेरी मानवीयता पूरी होती या उसका भ्रम महसूस करती है तो कविता में ही। मेरे लिए जीना कविता के लिए जीना है। कविता के बाहर बहुत सारा जीवन है यह सही है और मुझे पता है। पर सही या गलत मेरे लिए वहीं जीवन अर्थ रखता है जो कविता में हैं या जिसे कविता रचती है। यह कविता में एक तरह की अबाध आस्था नहीं है: यह आस्था है उसकी घटती जगह और साख को जानते हुए। यह एक 'हारी होड़' है। हारी है पर होड़ है।

३

इसका मुझे अहसास है कि अपने या अपनी कविता के बारे में बात करना अब विफलता के औसारे में किये गये विलाप की तरह है। यहूदी कहावत है: मनुष्य के सामने हैंसो, ईश्वर के सामने रोओ।' कवि का ईश्वर तो कई तरह से उसके पाठक या रसिक ही होते हैं। उन्हीं के सामने निस्संकोच कुछ देर विलाप किया जा सकता है।

४

कविता से दुनिया को समझने, सहने, उसमें शिरकत करने, उसे थोड़ा सही बदलने की कोशिश की, कुल मिलाकर नाकामी सामने है। 'कविता पर्याप्त नागरिकता है' की मान्यता सही नहीं ठहर पायी। अपने समय और समाज में, कविता से अक्सर मुँहफेरे समय और समाज में कविता की जगह बनाने-बढ़ाने की

चेष्टा भी अंततः विफल हुई लगती है। ६० वर्षों पहले जब कविता लिखने की शुरुआत की थी तब हिंदी समाज कविता से इतना दूर न था जितना आज है। आज समाजतंत्र को, राजतंत्र को, मीडिया आदि को कविता में न तो दिलचस्पी है, न उसकी कोई परवाह।

कविता से न तो नागरिकता, पर्याप्त नागरिकता या उसका सत्यापन संभव हुआ, न किसी तरह का मूल्य-संवर्द्धन ही। भाषा को सघन-उत्कट-बहुत कविता करती है- भाषा को कविता में लाती-रखती है- आज भाषा पर ध्यान देने की किसी को फुरसत या ज़रूरत नहीं रह गयी है।

कविता के माध्यम से कोमलता, सहकार, प्रेम, आसक्ति, लालित्य आदि के पुनर्वास की कोई आशा बची नहीं: जिस 'हम' और 'वे' का द्वैत कविता ध्वस्त करती रही है वह द्वैत बढ़ाया जा रहा है; नित-नये दूसरे हर रोज बनाये जा रहे हैं और उन्हें अपमानित-त्रस्त-दण्डित किया जा रहा है। घृणा-विद्वेष-हिंसा-हत्या-प्रतिबंध-निषेध आम घटनाएँ हैं जैसे सूर्योदय और सूर्यास्त।

भयानक और व्यापक आत्मरति और हर दिन बढ़ती संकीर्णता में कविता में आत्मालोचन, आत्मसंघर्ष और आत्माभियोग न के बराबर रह गये हैं। अज्ञेय की व्यक्ति-गरिमा, मुक्तिबोध की विवेकवेदना और शमशेर का आत्मालोपन भूली-बिसरी बातें हैं और उनकी कोई जगह हमारी कविता में नहीं रह गयी है। कविता में नवाचार और तोड़फोड़, अवगार्द की संभावना मानों चुक गयी है। कविता अस्तित्व और नियति, ब्रह्माण्ड और काल का प्रश्नांकन करना छोड़ चुकी है।

५

बड़े स्वप्नों का सूर्यास्त हो चुका है: दुनिया बदलने का काम हमने निर्दय संकीर्ण नायकों के जिम्मे कर उससे छुट्टी पा ली है। हम बहुत छोटे, सीमित, कई बार टुच्छ सपने देखने में मगन हैं।

स्वतंत्रता, समता और न्याय की जिस मूल्य-त्रयी को चरितार्थ करने और उनकी ओर से निगरानी करने की अघोषित जिम्मेदारी हमने स्वीकार की थी वह न तो हम ठीक से निभा पाये और न अब उसमें हमारी कोई दिलचस्पी रह गयी है। उनके जिक्र से ही हमें ऊब होने लगी है। इन मूल्यों में हर रोज कटौती हो रही है और हमने उदासीनता-विवश स्वीकार की समझौता-परस्त संस्कृति विकसित कर ली है।

लोकतंत्र के लिए ही नहीं कविता के लिए भी कुछ संस्थाओं की दरकार होती है। शिक्षा, बुद्धि और ज्ञान की संस्थाएँ, संस्कृति से संबंधित प्रतिष्ठान, मीडिया आदि। ये सभी पतन और जो बड़े स्वप्न धूलिसात् हुए या आज इतिहास के घूरे पर पड़े हैं उन्हें लेकर हमने कोई निर्मम आकलन या आत्मालोकन नहीं किया है। हमारी वैचारिक संकीर्णता आज की वैचारिक संकीर्णता की जननी है यह हम न देख पाते हैं, न मान।

सच्चाई इतनी क्रूर, आतंककारी, हिंसक हो उठी है कि हमने विकल्प की कल्पना तक करना बंद कर दिया है। हम एक अबोध, लगभग मूर्ख आशा कर रहे हैं कि सब कुछ अन्ततः ठीक हो जायेगा और हमारे कुछ किये बिना भी समय सुधर और बेहतर हो जायेगा।

६

कई मायनों में हम स्वप्नहारे और पथहारे हैं, हममें से कई। पर हम कई उम्मीद हारे, मन हारे या अन्तःकरण हारे नहीं हैं। हम जानते हैं कि आज जब बहुत चकाचौंध है और उसकी चपेट में बहुतेरे हैं कविता का काम 'अंधेरे में' होना, अँधेरों की शिनाख्त करना है। यह वह दमभर, हिम्मतभर करती रहे यही शुभकामना की जा सकती है। इसी में उसकी नैतिकता और अध्यात्म है: उसकी सच्ची राजनीति भी। कवि होने के नाते हम सब जानते हैं कि दुनिया बयार में बसती है, सामान्यीकरणों या सरलीकरणों में नहीं: हम दुनिया को उसके व्यौरे में ही चरितार्थ करते और एक तरह से स्थापित करते हैं। हमारी आवाज ज्यादा नहीं सुनी जाती, यह सही है। व्यास और भवभूति की आवाज भी उनके समय में नहीं सुनी गयी थी। नहीं या कम सुनी जाती है इस कारण हम अपनी आवाज़ उठाने से चूक नहीं सकते। अगर शब्द अन्ततः अक्षर है तो इस आवाज का कुछ तो बचेगा ही।

कविता समय और समयातीत को जोड़ने की एक अनोखी विधि है: वह समय में बिंधकर ही समयातीत तक पहुँचती है। हमारे पास बहुत रौशनी शायद नहीं है, शायद कभी नहीं रहती। पर जितनी है उससे हम दुनिया को कुछ बहुत थोड़ा प्रकाशित तो कर ही सकते हैं। आज जब अभिव्यक्ति की बाधित करने की अनेक राजनैतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक शक्तियाँ सक्रिय हैं, स्मृति को लगातार षड्यंत्रपूर्वक दुर्विनियोजित किया जा रहा है, अन्तःकरण को विजड़ित करने का अभियान चल रहा है तो कविता को इन सबके विरुद्ध और बरक्स स्वयं स्वतंत्रता, स्मृति और अंतःकरण बन सकना चाहिए। इससे कम की यह अभागा समय कवि से माँग और अपेक्षा नहीं करता।

चलो, छैठकर उम्मीद का एक कन्था बुनते हैं

चलो, बैठकर उम्मीद का एक कन्था बुनते हैं
अँधेरा बहुत है और रोशनी बहुत कम है
नज़र कमजोर पड़ गयी है—
उम्मीद का कुछ भी कहीं दिखायी नहीं देता,
फिर भी, आदतन सही, उम्मीद का एक कन्था बुनते हैं।

वह जो सरे आम एक मरा चूहा मुँह में दबाये
अपनी तकलीफ पत्थर दिलों के सामने बता रहा है;
वे जो सूखे में कहीं बंजर में दूसरों को पानी पिला सके
इसके लिए कुआँ खोद रही है;
वे जो देवताओं की फूहड़ मूर्तियों के बजाय
जिज्ञासा की पुस्तकें बचाने में लगे हैं,
वे जो मंदिर में आरती रोक देते हैं ताकि अजान पूरी हो जाये;
वे जो मदद करने से पहले घायल से उसकी जाति या धर्म नहीं पूछते,
वे जो लकड़ी चरमराती पुलों को पार कर स्कूल पढ़ने जा रहे हैं...
उन सबको लेकर उम्मीद का एक कन्था बुनते हैं।

हम दूसरों के लिए की गयी प्रार्थनाओं, उन्हीं के लिए देखे गये सपनों,
अत्याचार के विरुद्ध जयकार के नारों में दुबकी हुई चीख,
अकारण मारे गये लोगों के लिए विलाप,
बच्चों की फूल-जैसी कोमल गदेलियों ओर बूढ़ों की आँखों में थम गये आँसुओं से
युवा कसमसाहट और आवेग से, स्त्रियों की हँसी और सिसकियों से
चलो उम्मीद की एक कन्था बुनते हैं
रंगारंग, टुकड़ों में, पर साथ-साथ जुड़ा-जमा हुआ,
अधूरा सही:
हम कवि हैं और कोई बाद में यह तो नहीं कह पायेगा कि
जब अंधेरे तेजी से बढ़ और रौशनी तेजी से घट रही थी तो
हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे लाचार और हारे-थके
और हमने उम्मीद का एक कुन्था बुनने की कोशिश तक नहीं की।
चलो, उम्मीद की एक कन्था बुनते हैं।

अभी बन रहा है

हमारी हार का नक्शा अभी बन रहा है:

हम जहाँ से चले थे उसकी याद तो हमें है
पर रास्ते में कितना धूल-धक्कड़ मिला,
कितने लोग साथ थे, कितने अलग हो गये,
कितने सपने झर गये, कितने सच हम बटोर नहीं पाये,
यह सब अब याद नहीं है।
अब जब बहुत सारे हारे लोग साथ है
लेकिन अब भी थके नहीं हैं, उनकी यादें धुँधला रही हैं।
उनके कुछ मोह बरकरार हैं और सच्चाई की डरावनी शक्तों के बावजूद
उनके कुछ सपने अब भी उनकी आँखों में ही लगे हुए हैं:
हमारी हार का नक्शा अभी बन रहा है।

काल से हारता जीवन, पर समय से नहीं,
सच्चाई से हारते हैं सपने, पर अपमान से नहीं,
हम बहुत पहले जान गये थे कि हम जीत नहीं पायेंगे
और हमें पता था कि हमारी हार तय है:
पर मनुष्य होने की भोली मूर्खता से हम फिर भी
यह मानते रहे कि चीजें बेहतर होंगी।
दुनिया जितनी बदली उतने से ज्यादा बदल गये हैं
पर न थकने पर अड़े हैं। एक बूढ़ी ज़िद है
जिसके सपने अब तक युवा हैं और जिसे अब तक थकान नहीं लग रही है
और न ऊब घेर रही है।
हमारी हार का नक्शा अभी बन रहा है।

कहाँ खोजें उम्मीद

‘सम्लने दे मुझे ऐ नाउम्मीदी क्या कयामत है’ मिर्जा गालिब
अँधेरे में भटकते हुए हम कहाँ खोजें उम्मीद।
एक क्रतार में चलती चींटियों में
जो इस यकीन में चली जा रही है कि उन्हें खाने कुछ मिलेगा—
सुबह-सुबह हरी घास पर फुदकती दो चिड़ियों के पास
जो मिले न मिले दाना चुगती नज़र आती हैं...
गुलमोहर के झरे मुरझाये फिर भी लाल बने हुए फूलों में...
कहाँ खोजें उम्मीद !

बच्चे के लिए रोटी बनाकर स्कूल से उसके लौटने के इंतजार में माँ के पास...
हर सुबह चमकती हुए सब्जियों में कुंजड़े के पास
पुरानी पुस्तकों में
जिनके पन्ने पीले पड़ गये हैं
पर जिनके सच धुँधले नहीं पड़े हैं...
कहाँ खोजें उम्मीद !

उम्मीद अब नहीं रहती चमकदार-हवादार मकानों में,
लकदक दमकती दूकानों में,
गोलियों की धाँय-धाँय से भरे सुनसानों में,
हरेक की जेब से तुरंत निकलने वाली पहचानों में,
उजालों-कहकहों-जयकारों-फूत्कारों में...
शब्दों के धीमी पड़ती उजास में,
भाषा में घिरते अँधेरों में,
विन्यास की शिथिल पड़ती इबारतों में..
कहाँ खोजें उम्मीद !

राजकुमार

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

उस तरफ़ से कभी कोई कुछ नहीं बोलेगा

उस तरफ़ से कभी कोई कुछ नहीं बोलेगा
जितना भी मेरी ओर से कहा गया
सब तो सुन लिया तुमने
मैंने तुम्हें पुकारा भी
तुम्हें बताया भी...
कभी कोई कुछ नहीं बोलेगा उस तरफ़ से
(मैं आज तुम्हें प्रेम कर रहा था)

क्या जन्म से मैं कवि था
उस तरफ़ से कभी कोई कुछ नहीं बोलेगा
जो प्रेम करता है
(मैं वह)

दो शब्द उसके लिए:

मौन,

प्रतीक्षा

देखो

आज हरी घासों पर धूप उग आई है,

सूरज आत प्रेम में डूबा हुआ है

...यह जब तुम देखो,

मुझे बताना

उस तरफ़ से कभी कोई कुछ नहीं बोलेगा

बंझाव ब्याह मोती-झा जगमग

यह किसकी रचना है

मैं अपने से पूछना चाहता हूँ

चुपचाप

कहता क्या

कि संसार मृत्युबोध से जन्में

रहस्य कि एक छोटी भूल है,

नहीं!

संसार मेरी कवित्व कल्पना-सा है
जिसे बार-बार जानने की
जरूरत महसूस होती है
और मेरे कवि को जन्म लेने की,
दोनों क्या एक ही आत्मा के हैं
संसार और कवि की आत्मा
मैं नहीं कहूँगा...
मैं अनीश्वरवादी हूँ!

देश

ओ पृथ्वी!

मैं इसी संसार का अदना मानुष

निरीह प्राणी

कहाँ भटक रहा हूँ...

ओ पृथ्वी!

तुम थोड़ी जगह दो

तुम्हारे सिवा

मेरा कोई 'देश' नहीं

कि जहाँ रह सकूँ।

ओ पृथ्वी,

ओ पृथ्वी...

तुम सुनती हो कि नहीं

ये 'देश' क्या होता है?

संपर्क: कमरा नं. 10, नर्मदा छात्रावास,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

नयी दिल्ली- 110067, मो. 9971915375

उठो मैंने माया है रंजना श्रीवास्तव

मुझे लगा आसमान रो रहा है और उसकी सिसकियों में जज़्ब बारिश मुझ तक पहुँच रही है। मैं भींग रही हूँ हालांकि मैं भींगना नहीं चाहती क्योंकि बारिशों से घबरा जाती हूँ और मेरे भीतर फिर से वही लड़की पैदा होने लगती है जिसे वर्षों पहले मैंने उम्र के किसी मोड़ पर छोड़ दिया था और उससे ऊँगली छुड़ाकर दौड़ती चली गयी थी भविष्य की ओर। भविष्य हमेशा सपना नहीं हुआ करता... कभी-कभी उदास शामों के अनवरत सिलसिले का नाम ही भविष्य हुआ करता है जहाँ दम तोड़ती इच्छाओं की चिता जलती रहती है सार्थक का चेहरा इन दस-बारह सालों में इतना धुंधला हो चुका है कि उसे याद करने के लिए उस चेहरे में कैद उजालों की ओर जाना असंभव सा लगने लगा है। अरसे से उससे दूर रहकर भी जी रही हूँ जबकि उसके बगैर एक पल भी जीना मुश्किल लगा करता था। मैं यादों के मंचान पर खड़ी उम्र के उन हरे-भरे खेतों को निहार रही हूँ जिन पर कभी मेरा कब्जा था। मेरे पास सार्थक जैसा साथी था, जिंदगी थी, सपने और उम्मीदें थीं और कुछ कर गुजरने का ज़ज्बा भी। वक्त की रफ्तार का पीछे से लौटना शुरू हो गया है और मैं देख रही हूँ कि कोहरा घना होने लगा है। कोहरे को चीरती एक ही तस्वीर उभर रही है...ये तस्वीर बेहद खामोश और डरी-डरी सी है... रात के करीब एक बजे का समय ...लेडीज होस्टल का वह कमरा और भय, घुटन और दहशत की खौफ़जदा तस्वीर ...मेरे बगल के बिस्तर पर मुक्ता का अचेत शरीर और उसकी मुट्टियों में कैद कागज का वह टुकड़ा जिसे कानूनी भाषा में सुसाइड नोट कहा जाता है ...उस कागज के टुकड़े में अपराधी के तौर पर अंकित थी मैं। बगैर अपराध के भी क्या ऐसी सजाएँ होती हैं जब भी सोचती हूँ उदासियों से घिर जाती हूँ। ऐसी सजाओं से आप ताउम्र उभर नहीं पाते।... मैं भी छटपटा रही हूँ। उसने लिखा था.... “मैंने उसके बॉयफ्रेंड सार्थक को उससे छीना है और सार्थक के बगैर उसके लिए जीना मुश्किल है ...मैं यानि शिवानी सक्सेना।” ये घटना ऐसी रील है जो मेरे दिमाग में हर वक्त चलती रहती है और गुजरा हुआ वक्त इसके जरिए हर बार लौट आता है...वो वक्त मेरे लिए किसी सजा से कम नहीं है। एक लंबा अरसा बीत जाने के बाद भी बिलकुल ताजा सी लगती वो घटना। अब दृश्य मेरे जेहन में आगे बढ़ रहा है और मैं उसे थामकर कहानी को आगे की ओर ले जा रही हूँ।

उसने (मुक्ता ने) नौद की गोलियाँ निगल ली थीं और मैं उसकी रूममेट हुआ करती थी उस समय इसलिए वो दृश्य सबसे पहले मेरे हिस्से आया था। मैं उसकी हालत देखकर बुरी तरह से डर गयी थी पर मैंने हिम्मत से काम लिया था और अफरा-तफरी में कॉलेज के प्राइवेट नर्सिंग होम को फोन लगाकर एम्बुलेंस बुलवाया था फिर लड़कियों की सहायता से उसे नर्सिंग होम तक पहुँचाया था।

इस तरह से मुक्ता को तुरंत मेडिकल हेल्प मिल गई थी और दो-तीन घंटों में ही वहाँ के मेडिकल स्टाफ ने उसे खतरे से बाहर घोषित कर दिया था। अगर कॉलेज की ओर से यह व्यवस्था न होती तो उसका बचना मुश्किल था। मैं इस दृश्य के नकारात्मक पहलू के बारे में सोचकर खौफज़दा हो जाती थी उस समय और आज भी कुछ-कुछ वैसा ही महसूस होता है। मैं उसकी प्रतिद्वंद्वी उसके निशाने पर कब आ गई, पता ही नहीं चला। मुझे तो इस बात की भनक तक नहीं थी। उस दिन जब हम दोनों मिले डरे-डरे से थे। सार्थक बोल रहा था... 'क्या है शिवानी यह सब? ये कैसा षड्यंत्र है हमारे खिलाफ? कैसे-कैसे लोग हैं इस दुनिया में। ज़िद और पागलपन की भी कोई हद होनी चाहिए न?'

'तो क्या इस बारे में उसने तुम्हें कोई हिंट नहीं दिया था?' शिवानी ने सार्थक से सवाल किया था।

“हाँ, एक बार उसने अपनी चाहत का इज़हार किया था मुझसे पर मैंने उससे साफ-साफ कह दिया था कि मैं शिवानी को चाहता हूँ और तुम्हें सिर्फ अपना दोस्त मानता हूँ।” सार्थक बोल पड़ा था।

ओह! तो ये एकतरफा प्रेम का मामला था जिसे सनक की हद तक ले जाकर ये भयावह खेल खेला गया था। मैं बेहद जिंदादिल हूँ और मुझे ऐसी ज़िदें व नफरतें बिल्कुल पसंद नहीं। हालांकि मुग्धा बचा ली गयी थी पर हम दोनों का मरना उसी पल से शुरू हो गया था। हम बगैर अपराध के ही सजा के हक़दार हो चले थे। सार्थक और मुझसे एक लंबी पूछताछ का सिलसिला चला था। हम इतने आहत और उदास थे कि हमारे भीतर के तमाम रंग सूखते चले गये थे। मोहब्बत की तितलियों के पंख नोचकर उनकी उड़ानें रद्द कर दी गयी थीं। प्रिंसिपल ए.के.रस्तोगी ने हमें सुरक्षित तौर पर बचा लिया था मामला पुलिस तक पहुँचने के पहले ही यूनिवर्सिटी कैंपस में दबा दिया गया था। चूँकि हम दोषी नहीं थे इसलिए हमें बख्शा दिया गया और मुग्धा को प्रिंसिपल ने एक तीखी डांट पिलाते हुए उसे भविष्य के लिए वार्निंग दे डाली थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब ये वाक्या हुआ पतझर का मौसम चल रहा था। पेड़ों से पत्तियों का झरना मुझे गहरी उदासी में लपेट देता है। मैं अपराधी नहीं थी फिर यह कैसी कचोट थी जो हर वक्त

तारी रहती थी और मेरा सीना छीलती रहती थी। मैं एक ऐसे कोहरे की गिरफ्त में थी जिससे बाहर निकलने की मुश्किलें इतनी मायूस थी कि हंसी के मौसमों का पतझर में बदलने की कवायदें शुरू हो गईं। सार्थक से जब भी मेरा सामना होता मैं उससे कतराकर निकल जाती। मेरी इन हरकतों से वो बेहद परेशान और उदास सा रहने लगा था। आखिर एक दिन उसने मुझे घेरते हुए पूछ ही लिया था...“शिवानी ऐसा क्यों कर रही हो तुम? मेरे साथ ऐसा मत करो नहीं तो मर जाऊंगा मैं। तुम बताओ तो कि आखिर मेरा गुनाह क्या है?”

बात करते समय उसकी आवाज की भींगी सिसकियाँ मैं साफ़-साफ़ सुन रही थी पर पिघलने के मौसमों ने पत्थर की पोशाकें पहन ली थीं। मैंने मुश्किल से कहा था... “तुमने कोई गुनाह नहीं किया सार्थक, बस एक लम्हे की शमशीर ने हम दोनों का कत्ल कर दिया है। तुम मेरे जरिये जिंदा होने की फ़िराक में हो पर मेरे आसपास की हवा में ऑक्सीजन मानो खत्म हो चली है। मुग्धा का अचेत शरीर मेरे जेहन में ऐसी आंधियाँ पैदा करता है कि हमारी मोहब्बत का चेहरा दागदार होने लगता है।”

वह लगभग रोने वाले अंदाज़ में बोल पड़ा था...“शिवानी मुझे तनहा मत छोड़ो प्लीज। मैंने तुम्हें चाहा है, तुमसे टूटकर मोहब्बत की है। तुम्हारे बगैर मेरे भीतर का इंसान पूरी तरह से बिखर जायेगा। मुग्धा हमारे बीच कभी थी ही नहीं, ये तो महज एक इत्तेफाक था कि कोई लम्हा हमारी खातिर कयामत बनकर आया था। अब जबकि सब कुछ साफ हो चुका है तुम्हारा यूँ मुझे अपने से अलग कर देना मुझे समझ में नहीं आ रहा है।”

“सार्थक मैं तुम्हारे बगैर जीने की मुश्किल सी कोशिश में उलझी हूँ। तुम मेरी इस मुश्किल को आसान बना दो दोस्त और मुझसे बहुत-बहुत दूर चले जाओ। हमारी मोहब्बत पर किसी और मुग्धा का साया पड़े इसके पहले ही खुद को रोक लो। सार्थक मेरे भीतर एक डर पैदा हो गया है जो मुझको तुम तक आने से रोकता है। ये डर तुम्हारी सुरक्षा को लेकर है। मैं किसी भी हाल में तुम्हारा नुकसान होते नहीं देख सकती। सार्थक ये तुम्हारा फाइनल इयर है। तुम मन लगाकर पढ़ाई करो और मुझे अपनी जिंदगी के कैनवास

से हमेशा के लिए डिलीट कर दो। हमारे और तुम्हारे बीच के वो तमाम लम्हें मर चुके हैं सार्थक जो मुझे मोहब्बत से भरकर जिंदगी सौंपते थे। ये एक लम्हा उन सभी लम्हों पर भारी पड़ रहा है जो समन्दर की लहर बनकर रेत के दामन को भिगोते रहते थे। अब यहाँ मेरी सांसें में दुःख के एक ऐसी आग जलती रहती है जिसे खामोश करने के लिए मुझे एक लंबा वक्त चाहिए। मैं बहुत-बहुत मजबूर हूँ सार्थक।” मैंने अपनी विवशता उसे बतायी थी।

सार्थक ने चुपचाप मेरी बातें सुनी और बगैर बोले बेहद खामोशी से वहाँ से चला गया। उसने एक बार भी मुझे पलटकर नहीं देखा था ...जानती हूँ उसे मुझसे ऐसी उम्मीद कतई न थी और मेरी बातों ने उसे गहरी चोट पहुँचाई थी पर अपने भीतर के अंधड़ से लड़ना मेरे लिए बहुत कठिन था। दूसरे दिन पता चला था कि सार्थक ने हॉस्टल छोड़ दिया था और कॉलेज आना भी बंद कर दिया था।

मैं ये सब सुनकर बहुत उदास हो गयी थी। उसके जाने के बाद अपने भीतर के हाहाकार से महीनों लड़ती रही थी मैं। मेरे पास उसका कोई कांटेक्ट नंबर नहीं था इसीलिये उम्मीद की कोई गुंजाइश नहीं बची थी। मैंने खुद ही उससे संपर्क के सारे रास्ते बंद कर दिये थे। पूरी तरह से निराश हो चुकी थी मैं। किसी तरह कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके मैं नौकरी की तलाश में जुट गयी क्योंकि मैं इस खामोश और उदास शहर को अलविदा कह देना चाहती थी। बहुत शीघ्र ही मुझे कामयाबी मिल गयी थी मुझे गुडगाँव की एक प्राइवेट कंपनी में नौकरी मिल गई थी। मैं खुश थी कि अब ये शहर मुझसे दूर हो जायेगा। यहाँ रहते हुए सार्थक की यादें मेरा पीछा करती रहती थीं। मैंने बगैर सोचे-समझे ही उसे अपने से अलग करने की सजा दे डाली थी। मैं समझ गयी थी कि मुझे इस अफसोस के बाहर निकलकर ही जिंदगी जीना सीखना होगा। ऑफिस के नये-नये माहौल में मेरी उदास दुनिया बदलने लगी थी। कलीग, सीनियर्स, दोस्त और काम की जिम्मेदारियों ने मेरी मशरूफियत बढ़ा दी थी। मैंने भी दूसरों की खुशी में खुश होने का तरीका ढूँढ़ लिया था। सार्थक की यादें धीरे-धीरे धुंधली होती जा रही थीं। सार्थक अब मेरे लिए एक उदास तस्वीर की तरह था जिसे याद करने की कोशिशों से भी मैं कतराने लगी थी।

इस बीच पापा मेरे ऊपर शादी का दबाव डालने लगे थे और इसके लिए मैंने उनसे दो साल का समय माँगा था लेकिन माँ जानती थी कि मैं कभी भी शादी के लिए हाँ नहीं करूँगी। वक्त के इसी दौर में एक दिन हार्ट अटैक से पापा का इंतकाल हो गया था और मैं उनसे किये हुए वादे से मुक्त हो गयी थी। माँ घर में अकेली रह गई थीं इसलिए मैं उन्हें अपने साथ ले आयी। जिंदगी फिर से अपने ढर्रे पर चलने लगी थी। उन्हीं दिनों इरफान ने मेरी कंपनी ज्वाइन की थी। वो कभी मेरा क्लासमेट रहा था जिसकी सार्थक से गहरी छनती थी। उसे देखते ही सार्थक की यादें ताजा होने लगी थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि हमारी यूनिवर्सिटी के बॉयज हॉस्टल के दाहिने वाले गेट के बाहर चाय बेचने वाले की एक छोटी सी दुकान थी जहाँ के समोसे और छोले-भटूरे खूब बिका करते थे। वहीं पर सार्थक और इरफान का गुप बैठकर चाय पीता और अखबार भी पढ़ा जाता। राजनीति और देश तब इनकी बहस का मुद्दा हुआ करती था। ये वर्ष १९९१-९२ का था जब बाबरी मस्जिद ढहाई जा रही थी और अयोध्या के खून में उबाल आ गया था। उन दिनों यूनिवर्सिटी के परिसर में गरमागरम बहसें चला करती थीं। इरफान ने बताया था कि सार्थक उस समय अयोध्या जाना चाहता था पर उसके पापा ने उसे डांट-डपटकर रोक लिया था। उन्होंने उससे कहा था... ‘खबरदार कभी राजनीति जैसी दोगली चीज की ओर रुख न करना। चुपचाप पढ़ाई पूरी करो और नौकरी में लग जाओ। मेहनत-मजदूरी करके रोटी कमाना सीखो।’ सार्थक तब यूनिवर्सिटी के स्टूडेंट यूनियन का प्रेसीडेंट था और ग्रेजुएशन कर रहा था। राजनीति और मोहब्बत ये दो काम ही तब उसके पसंदीदा हुआ करते थे।

कॉलेज और मोहब्बत छोड़ने के बाद सार्थक के चरित्र में एक बड़ा बदलाव आया था। शिवानी से अलग होने के बाद वह राजनीतिक गतिविधियों में तेजी से सक्रिय हो गया। वह एक के बाद दूसरी पार्टी बदलता रहा। धीरे-धीरे वह राजनीति का एक नकारात्मक चेहरा बनकर उभरने लगा। उसका नाम और तस्वीरें अखबारों की सुर्खियाँ बनने लगी थीं। कभी यूथ कांग्रेस तो कभी वामपंथी राजनीति की अगुवाई में अपनी उटपटांग टिप्पणियों के जरिये हमेशा

चर्चा में बना रहता। उसकी नकारात्मकता ने उसे चैनलों में छाये रहने का अवसर दे दिया। सार्थक के ऐसे चेहरे से मेरी पहचान तक न थी। बाद में पता चला वह राजनीति से उबकर नक्सलियों से जा मिला है और उन्हें उनके हक के लिए एकसाने और देश विरोधी कार्यों को अंजाम देने में अग्रणी भूमिका निभाने लगा। उस समय नक्सल आंदोलन पूरी तरह से अपनी उठान पर था। पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी नाम की जगह से इस आंदोलन की शुरुआत हुई थी। यह आंदोलन कम्युनिस्ट गोरिल्ला ग्रुप की सक्रियता के साथ १९६७ में मार्क्ससिस्टों की अगुआई में किसानों, मजदूरों, आदिवासियों के हक की लड़ाई में एक मजबूत विचारधारा के साथ उभरा था और दस सालों के दौरान छत्तीसगढ़, उड़ीसा और आंध्रप्रदेश के अंदरूनी हिस्सों में फैलता गया था। धीरे-धीरे मछुआरे, किसान, मजदूर, बांस काटने वाले इस आंदोलन से जुड़ते चले गये थे। पुलिस, आर्मी और सरकार के विरुद्ध शांतिपूर्ण ढंग से अपनी मांगों के साथ यह आंदोलन शुरू हुआ था लेकिन बाद में हिंसात्मक गतिविधियों ने इस आंदोलन के मुख्य आदर्शों को भटकाकर बेहद उग्र बना दिया और आम आदमी भी इसके शिकंजे में कसते चले गये थे। सार्थक छत्तीसगढ़ के किसी आदिवासी इलाके में पनाह लेकर अपने ग्रुप का सरगना बन बैठा वह अपने ग्रुप को संगठित करता और फिर हथियार उठाकर हिंसात्मक गतिविधियों को अंजाम देता। उसने अपना नाम भी बदल लिया था। उसकी गतिविधियों ने नेता, पुलिस और आम आदमी सबकी नींदें उड़ा दी थीं। आंदोलन को भटकाने और हिंसा करने में उसे खास मजा आने लगा था जैसे पूरे देश को तबाह करके ही दम लेगा। ये २००९ के आस-पास की कहानी है जब सार्थक का चेहरा लोगों की नजर में पहचाना जाने लगा। पता नहीं किससे बदला लेना चाहता था वह। आये दिन रेल की पटरियाँ उड़ाने, आगजनी जैसी घटनाओं को जन्म देने, सरकारी कार्यालयों पर धावा बोलने और स्कूल और कॉलेज परिसरों में बम धमाका करने की वजह से लोग नक्सलियों से भी डरने लगे थे। सरकार की नाक में दम करने की वजह से यह ग्रुप बेहद खतरनाक होता जा रहा था। सार्थक को पकड़ने के लिए इनामों की घोषणाएँ भी की गयीं पर यह सब इतना आसान

नहीं था ...फिर धीरे-धीरे वह वर्तमान सरकार के निशाने पर पूरी तरह से आ गया था वह। उसे पकड़ने के लिए इनामों की घोषणाएँ भी हुई थीं।

मैंने तब तक अपनी नौकरी छोड़कर एक डेली न्यूज पेपर के कार्यालय में नौकरी करनी शुरू कर दी थी। लेखन और पत्रकारिता ने मुझे पुरानी यादों से निकालकर जीने का मकसद सौंपा इसीलिये सार्थक के बारे में जानने के बाद मुझे उससे नफरत सी होने लगी। सार्थक देश का दुश्मन बनकर उभर रहा था और धीरे-धीरे मेरी मोहब्बत को कुचलता जा रहा था। मुझे भी अपनी बेचैनियों से निजात मिलती जा रही थी। अक्सर सोचती कि अच्छा हुआ, मैंने सार्थक को खुद से दूर कर दिया। ४-५ सालों के बाद मैं उस अखबार की ब्यूरो चीफ बना दी गयी। सार्थक अब मेरी आँखों में दिन-रात खटकने लगा था। वो देश और आम आदमी के लिए खतरनाक बनता जा रहा था। मेरी उसके प्रति संजोयी गयी तमाम कोमलताएँ इतनी कठोर होतीं गयी कि मैंने उसे पकड़वाने का बीड़ा उठाया। मैंने गुपचुप ढंग से राज्य सरकार और वहां के पुलिस कमिश्नर से संपर्क साधा और अपनी इच्छा जतलाई। उसे पकड़ने के लिए जो जाल बिछाया गया उसमें अहम् भूमिका मेरी रही। उसका मोबाइल नं. मुझे मिल गया था और मैं जानती थी कि वो खुद को मेरे बुलावे पर कभी रोक नहीं पायेगा। मैंने उस खास दिन, रात के ठीक ९ बजे उसका फोन मिलाया...‘हैलो’... उधर से पहले तो खामोशी की ही आवाज़ आयी थी फिर पता नहीं कब उसके ‘हैलो’ की आवाज मेरे कानों में पड़ी थी। बात को आगे बढ़ाते हुए मैंने उससे पूछा था ...“कैसे हो सार्थक। मुझे पहचाना?”

“कैसे भूल सकता हूँ तुम्हें। तुम सिर्फ मेरी मोहब्बत नहीं हो बल्कि मेरी बर्बादी का कारण भी तुम्हीं हो।” वह कड़ुआहट से बोल रहा था और मैं जानती थी कि हमारी कॉल टेप हो रही है इसीलिये अतिरिक्त सावधानी बरतनी थी। मैंने उससे धैर्यपूर्वक कहा था ...“हर कोई अपनी बरबादी की दास्तान खुद लिखता है। मैं तुम्हारी तरह कमजोर नहीं हूँ कि अपने दुखों की सलीब पर पूरी दुनिया को लटका दूँ। तुम अगर चाहते तो सही रास्ता चुन सकते थे पर तुमने ऐसा बिलकुल नहीं किया। सार्थक अब भी

वक्त है, समर्पण कर दो तो तुम्हारी माफी तुम्हारी सजा को कम कर देगी।” मैंने उससे कहा था।

“तुम सरकार की एजेंट बनकर बोल रही हो क्या? मेरे लिए कोई नेक काम नहीं बचा था तुम्हारे पास।” वह घृणा से बोला था।

“नहीं, मैं तुमसे मिलने के लिए बेताब हूँ। पता नहीं कल तुम्हारा भविष्य क्या हो सार्थक क्योंकि तुम एक खतरनाक रास्ते पर चल पड़े हो इसीलिये एक बार अपने सार्थक को देखना चाहती हूँ। उसके भीतर के उस इंसान से मिलना चाहती हूँ जिसे मैंने टूटकर चाहा था, मोहब्बत की थी और जो देश और समाज के लिए मर-मिटने को तैयार था। खैर! छोड़ो इन बातों का अब क्या फायदा? एक बार आओ सार्थक...क्या तुम मेरी ये इच्छा पूरी कर पाओगे?” मुश्किल से मैंने अपनी बात खत्म की थी क्योंकि मेरी कठोरता भीतर ही भीतर पिघलने लगी थी।

“जरूर आऊंगा...तुम बुलाओ और मैं न आऊँ, भला ऐसा कभी हो सकता है क्या? यहाँ तो सांसें भी तुम्हारे ही नाम की चलती हैं शिवानी। अपना पता व समय बता दो।” वह बोला था।

एक बार मन भीतर से कांपा था लेकिन मुझे खुद को मजबूत करना जरूरी था इसीलिये मैंने बात आगे बढ़ाते हुए अपना पता व समय उसे बता दिया था। उस दिन सार्थक निर्धारित समय पर शिवानी के पास पहुँच गया था। दरवाजे पर ठकठक हुई तो शिवानी ने दरवाजा खोला था। माँ को उसने अपनी सहेली कविता के यहाँ किसी काम के बहाने छोड़ दिया था। उसे विश्वास नहीं हो रहा था सार्थक अपना मुस्कुराता चेहरा और बड़ी-बड़ी आँखें लिए उसके सामने खड़ा था। शिवानी उसे देखते ही सब कुछ भूलकर अतीत के गर्भ में उतरती चली गयी थी। शिवानी याद कर रही है कि ...जब वह मेरे बेहद करीब था तो मुझ पर मदहोशी सी छाने लगी थी... मुझे चूमते हुए वो मेरे जिस्म की एक-एक पंखुरियाँ खोलता चला गया था। मेरे जिस्म के रेशे-रेशे पर उसके प्यार की मुहर लग चुकी थी ...मेरे भीतर की औरत बरसों बाद संतुष्टि की बारिश में ऐसे भीग रही थी कि मेरे और सार्थक के बीच तमाम निराश लम्हें जश्न का माहौल पैदा करने लगे थे। एक तीखी धूप में बरसों चलते रहने के

बाद मोहब्बत की बारिश मुझे अंदर तक भिंंगो रही थी। मुझे लग रहा था कि सार्थक के जाने के बाद मेरे मिट्टी में उसकी कोंपलें ज़रूर फूटेंगी। अचानक याद आया कि मैंने सार्थक को किसलिए बुलाया है तो मेरी रूह काँप उठी थी। सार्थक कहीं से भी अपराधी नहीं लग रहा था। उसके चेहरे से मासूमियत टपक रही थी। मेरे भीतर की आँधी भूचाल बनने लगी थी। मुझे पता था कि सार्थक की मौत अब बेहद करीब है पर मैं विवश थी, उसे रोक पाना मेरे लिए कर्तई संभव न था। बाहर जिला एस.पी. की अगुवाई में पुलिस की पूरी की पूरी फौज खड़ी थी सार्थक के एनकाउंटर के लिए ये जाल देशद्रोही सार्थक के खिलाफ यहाँ के मुख्य अखबार की ब्यूरो चीफ शिवानी ने ही तो बिछाया था। शिवानी भूल गयी थी कि सार्थक उसका प्रेमी नहीं एक खतरनाक अपराधी है। उसने अंतिम बार मेरे माथे पर चुम्बन लेते हुए खुद को विदा किया था। सार्थक के अंतिम शब्द थे...‘अब चलता हूँ शिवानी फिर मिलूँगा।’ मुझे लगा वो जैसा भी था पर मैंने सार्थक के विश्वास को धोखा दिया था। धोखे से ही तो उसे अपने घर बुलाया था। करीब दस मिनट बाद ही गोलियों की आवाज सुनकर शिवानी का कलेजा कांपा था। वह समझ गयी थी कि वो अब सार्थक को कभी नहीं देख पायेगी। वो रात कयामत की रात थी। वो एक ऐसी रात थी जिसकी सुबह कभी नहीं होनी थी पर सुबह चाहे जैसी भी हो होती जरूर है... पूरी रात मैं पछतावे की आग में जलती रही थी और इतनी बेचैन थी कि शब्द फिसलकर मेरी डायरी में जज्ब होने लगे थे...

“कौन कहता है मोहब्बत में फ़ना हो जाओ मेरी बारिश से मिलो और भिंंगो लो दामन वक्त मुजरिम है लम्हों का कतल कर देता पलकों के झरोखों का उठा लो चिलमन।।

शिवानी अब समझ गयी थी नफरतों के बीच भी सार्थक और उसके दिल में एक-दूसरे के लिए अब भी मोहब्बत ज़िंदा थी वरना वो इतनी बेचैनी और शिद्दत से उसे कैसे मिल सकता था। वो ही उसकी कातिल है। क्या सार्थक के साथ मैंने धोखा नहीं किया? उसने सोचा था। हर रात की तरह वो रात भी गुजर ही गयी थी। सुबह-सुबह घंटी बजाकर अखबार वाला अखबार दे गया था। दूध वाला न जाने कब

से घंटी बजा रहा था पर शिवानी को कुछ होश हो तब न! अखबार में सार्थक के एनकाउंटर की खबर पढ़कर वह लगभग सुन्न हो चली थी कि तभी माँ वापिस आयीं थीं और उसका चेहरा देखकर माँ ने पूछा था... 'क्या बात है शिवानी? कोई बुरी खबर है क्या।' उसने चुपचाप अखबार माँ की ओर बढ़ा दिया था। माँ ने जब अखबार पढ़ा और उसे सहारा दिया था फिर पानी का गिलास लाई थी उसके लिए। थोड़ा सम्हलने के बाद माँ ने उसकी मन-पसंद काफी बनाकर उसे पिलाई थी। उन्होंने उसे समझाते हुए कहा था... "जिंदगी बड़ी अजीब सी शै है शिवानी। वो हमेशा हमें अपने हिसाब से चलाती है इसीलिए हमें उसके अनुसार से ढलना आना चाहिए। तुम्हें सब कुछ भूलकर एक नई जिंदगी शुरू करनी होगी।"

माँ से उसने सारी बातें कहाँ बताई थी। माँ जितना जानती थी वो शिवानी का पूरा सच कहाँ था? लगातार एक द्वंद्व के गिरफ्त में चल रही थीं उसकी सांसें। इस दुःख में वह अपने साथ बहुत-बहुत अकेली थी। माँ की बात सुनकर उसने उनके कंधे पर सिर रख दिया था और जी भरकर रोई थी पर उसे सम्हलना था और ये वो भली-भाँति जानती थी इसलिए वो पूरी ताकत से उठ खड़ी हुई थी और माँ से बोली थी... 'माँ आज ऑफिस में सेमीनार है

जिसके मुख्य वक्ताओं में मैं भी हूँ। मुझे जल्द निकलना होगा। मेरे लिए कुछ नाश्ता तैयार कर दो प्लीज।'

माँ ने 'हाँ' में गर्दन हिलाई और उसके लिए जल्दी-जल्दी नमकीन पूरियां बनाई थीं और अचार चाय के साथ उसे खाने को दिया था। उस दिन सेमीनार में शिवानी ने धर्म, सत्ता, राजनीति और देश' के बारे में जो बोला था उसमें वो आग भी शामिल थी जिसने उसकी जिंदगी को यूँ बिखेर कर रख दिया था। बीच-बीच में तालियों की गड़गड़ाहट के साथ शिवानी ने अपना वक्तव्य समाप्त किया था। शिवानी के भीतर सार्थक का गम नासूर बनकर पलता रहा लेकिन उसने अपना फर्ज निभाया था इस बात की संतुष्टि भी थी। सार्थक को गये अब एक साल बीत चुके हैं और शिवानी की गोद में सार्थक का बच्चा खेल रहा है। उसने शिवानी की मिट्टी में अपना बीज डाल दिया था उस रात। शिवानी खुश है, बहुत खुश क्योंकि नन्हां सार्थक उसे कभी नहीं छोड़ेगा पर जब भी उसे सार्थक की याद आती है एक कचोट उसकी अंतरात्मा को झिंझोड़ डालती है... उसे मैंने मारा है। मैं ही हूँ अपने सार्थक की कातिल। उसके ख्वाबों, उसके अरमानों की कातिल... यहाँ तक कि उसकी जिंदगी की कातिल और फिर वो लम्हां खून के आँसू रोता है और गिड़गिड़ाता है... 'सार्थक मुझे माफ कर देना प्लीज।'

संपर्क : श्री पल्ली, गली न. 2, पो. आ. सिलीगुड़ी बाजार, सिलीगुड़ी-734005, मो. 09933946886

बंखार

डॉ. पंकज साहा

यह रोज की बात थी। मैं प्रातः भ्रमण को निकलता तो कालू चाय वाले को कोयले का चूल्हा सुलगाते देखता। जब लौटता तब-तक उसकी चालू चाय तैयार हो जाती और दुकान में कुछ ग्राहक भी दीखने लगते। कोई सिर्फ चाय की चुस्कियाँ लेता, कोई चाय के साथ बीड़ी या सिगरेट के कश लेता, कोई बिस्कुट के साथ चाय पीता नजर आता और कोई चाय के साथ गप्पें लड़ाने में मशगूल दीखता। कालू का बेटा मंटू काँच के गिलास में चाय भर देता था और साथ-ही 'चाय गरम, गरम चाय' उसी अंदाज में बोलता जाता जैसे रेल के डिब्बे में या रेलवे प्लेटफार्म पर चायवाला चाय बेचता हुआ बोलता है।

मैं प्रातः भ्रमण कर लौटता और कालू को बिना बोले काँच के एक मर्तबान से लंबू नामक एक बिस्कुट निकालकर एक कोने में बैठ जाता। मुझे देखते ही कालू केवल दूध वाली चाय एक सॉसपैन में बनाने लगता। कालू को मालूम था कि मैं सिर्फ स्पेशल चाय पीता हूँ। लंबू को देखकर मैं अक्सर सोचा करता कि इसका नाम लंबू क्यों पड़ा। वह गाढ़े बादामी रंग वाला गोल लेकिन चिपटा बिस्कुट है। बाहर से वह कचौड़ी की तरह फूला हुआ एवं खास्ता होता है लेकिन अंदर जेली जैसी चाशनी होती है जैसे जेली लेमनचूस के अंदर जेली या किसी चॉकलेट के अंदर मेल्ट चॉकलेट होता है। लंबू को मैं अति आनंद के साथ आँखें बंद कर खाता और बीच-बीच में आँखें खोलकर आस-पास देख भी लेता। कोई परिचित दिख जाता तो हल्के-से मुस्कुरा भी देता। एक बार मैंने कालू से पूछा भी था कि इस बिस्कुट का नाम लंबू क्यों पड़ा, यह तो किसी ओर से लंबा नहीं है। कालू ने फिक् से हँसते हुए कहा था, "भगवान जाने मास्साब, किसने इसका नाम लंबू रखा।"

लंबू समाप्त होते-होते मेरी चाय तैयार हो जाती थी और मंटू 'चाय गरम, गरम चाय' कहता हुआ मेरी स्पेशल चाय का गिलास मुझे पकड़ा देता।

मंटू को भी देखकर मैं सोच में पड़ जाता। वह लगभग तेरह-चौदह साल का एक खूबसूरत बालक था। ऐसा लगता था जैसे विधाता ने उसे अत्यंत मन से बनाया हो। रंग गोरा-चिढ़ा, घुँघराले काले बाल, हल्की नीली आँखें, नुकीली नाक, पतले-पतले होंठ, छरहरा खुलता हुआ बदन। हालाँकि उसके कपड़े मैले-कुचैले होते परंतु उत्तम नस्ल के घोड़े को अगर मैला कपड़ा पहना दिया जाय तब भी उसकी नस्ल नहीं छुपती। मंटू फिल्मी हीरो के बेटे की तरह दीखता था जबकि कालू अपने नाम के अनुरूप बिल्कुल काला, नाटा, कुछ मोटा, चौड़े चेहरे, चिपटी नाक एवं खिचड़ी बालों वाला साठ की उम्र पार कर चुका आदमी था। उसकी पत्नी भी काली थी और सुंदर तो कतई नहीं थी। "गोरे नंद जशोदा गोरी तू कत स्याम सरीर" से बिल्कुल विपरीत बात थी। एक दिन मैंने कालू से पूछ ही लिया, "क्या मंटू तुम्हारा बेटा है?" उसने हँसकर कहा, "सब ऊपर वाले की देन है मास्साब जो उसने हमारे बुढ़ापे का सहारा के रूप में एक निःसंतान गरीब आदमी को ऐसी सुंदर औलाद दिया।"

शाम के समय मैं पहले चाय पी लेता फिर संध्या भ्रमण को निकलता। वह ३० सितंबर की शाम थी। मैं लंबू का आनंद लेता हुआ चाय का इंतजार कर रहा था। 'चाय गरम, चाय गरम, चाय नहीं है, मुसलमान का बेटा मर गया परबाय नहीं है'—यह सुनते ही मैं चौंक उठा। देखा मंटू मेरी स्पेशल चाय का गिलास लिये खड़ा है और मंद-मंद मुस्कुरा रहा है। उसके चेहरे पर आह्लादकता के भाव था। आज वह 'चाय गरम, गरम चाय' नहीं कह रहा था बल्कि ऊपर वाली पंक्ति को लगभग गाते हुए दोहरा रहा था।

लोग सुन-सुनकर हँस रहे थे। कालू भी कभी-कभी मुस्करा देता। चाय-बिस्कुट के पैसे देते हुए मैंने कालू से पूछा, “आज यह ऐसा क्यों कर रहा है?”

“मास्साब, आज सारा देश खुश है। भारत की सेना ने पाकिस्तान में घुसकर अनेक पाकिस्तानियों को मारकर अपना बदला ले लिया है।”

भारतीय सेना द्वारा पाक अधिकृत काश्मीर में सर्जिकल स्ट्राइक कर अनेक आतंकवादियों को मारने से सचमुच सारा देश जश्न मना रहा था। मैं भी खुश था। परंतु मंटू अपनी खुशी का इजहार जिस प्रकार कर रहा था, शायद ही किसी ने किया हो। मैंने कहा, “कोई मुसलमान सुन लेगा तो बुरा नहीं मान जायेगा?”

कालू ने कहा, ‘यह हिंदुओं को मोहल्ला है मास्साब, अगर कोई मुसलमान सुन भी लेगा तो क्या उखाड़ लेगा।’ यह कहते हुए उसकी आँखों में एक वहशी चमक उभरी। मैं सोच में पड़ गया। कुछ मुस्लिम आतंकवादियों एवं पाकिस्तान परस्तों के कारण सारे मुस्लिमों के प्रति इतनी नफरत क्यों? यह सोचते-सोचते मैं दुकान से बाहर निकला, पर उत्तर आज तक नहीं मिला।

जिस शहरनुमा कस्बे के विद्यालय में मैंने सहायक शिक्षक के पद पर नव-नियुक्त हुआ था, वहाँ से मेरा गाँव लगभग २०० कि.मी. की दूरी पर है। गाँव के लिए न तो सीधी रेल-सेवा है, न बस-सेवा। गाँव से रोज विद्यालय आना-जाना संभव न था, अतः कालू की दुकान के पास ही मैंने एक कमरा किराये पर ले लिया था। विद्यालय भी पास में था।

गाँव में थोड़ी खेती-बाड़ी है। मैं अपने माता-पिता की एकमात्र संतान हूँ, अतः उनकी सेवा के लिए मैंने अपनी पत्नी को गाँव में ही रहने दिया था। हर शनिवार की शाम मैं गाँव पहुँच जाता और सोमवार को दिन के दस-साढ़े दस बजे विद्यालय में उपस्थित हो जाता।

कालू चाय बेचने के साथ-साथ कुछ जरूरतमंदों के लिए अपनी पत्नी से भोजन भी बनवाता था। मेरे विद्यालय के कुछ शिक्षक दोपहर एवं रात का भोजन वही करते थे। मैं भी उसमें शामिल हो गया था। कालू की पत्नी अच्छा भोजन बनाती है। घर जैसा स्वाद मिलता है।

दुर्गा पूजा की छुट्टियाँ आरंभ होने वाली थीं। सभी शिक्षकों में हर्ष एवं उल्लास था, विशेषकर उनमें जो परिवार से दूर थे।

वह छुट्टियों से पहले का अंतिम कार्य-दिवस था। न तो विद्यार्थी क्लास करने के मूड में थे न शिक्षक क्लास लेने के। अतः हम लोगों ने उपस्थिति पंजी में हस्ताक्षर करने की औपचारिकता पूरी की।

सबके लिए कुछ-न-कुछ सौगात खरीदने और सारा सामान पैक करने में मुझे थोड़ी देर हो गयी। जब मैं भोजन करने कालू की दुकान पहुँचा तो वह बिल्कुल खाली थी। मेरे सहकर्मी अति उत्साह में पहले ही खाकर चले गये थे। चाय का पेमेंट मैं संग-संग कर दिया करता था, परंतु भोजन का सप्ताह में एक दिन शनिवार को। उस दिन मुझे लगभग एक माह के लिए जाना था, अतः हफ्ता न लगने पर भी मैंने भोजन का बकाया दे दिया। इसके साथ ही मैंने कालू की पत्नी के लिए एक साड़ी, कालू के लिए एक धोती और मंटू के लिए एक पैंट-शर्ट भी पूजा-उपहार के रूप में दिये। यह सब देखकर कालू की आँखें खुशी से चमकने लगी। मंटू जो मेरा जूटा बर्तन उठाकर धोने के लिए बाहर नलके पर बैठा था, उपहार देखने भाग कर आया। अपना शर्ट-पैंट देखकर वह खुशी से झूमने लगा। मैंने उसे सौ का एक नोट बख्शिष में देकर उसकी खुशी को दोगुना कर दिया। साथ ही यह उपदेश भी दिया कि इसका कोई गलत इस्तेमाल न करे। पूजा देखे, मेला घूमे, मिठाई खाय, पर अंट-शंट चीज न खरीदे। मंटू ने रुपया अपने निक्कर की जेब में रखा, सहमति से सिर हिलाया तथा लगभग नाचते हुए बर्तन धोने चला गया।

कालू खुशी से भाव-विभोर हो गया था। भावावेश में उसने कहा, “मास्साब, आपने एक दिन सवाल किया था, तब से मेरे मन में खुदबुदी लगी हुई है। आप जैसे भलामानुस से झूठ बोलना महापाप है, लेकिन आप वचन दीजिये कि इस राज को अपने पास ही रखियेगा।” मैंने वचन दिया।

कालू ने अत्यंत रहस्यमय अंदाज में कहा, ‘मंटू मेरा बेटा नहीं है और न ही हिंदू का बच्चा है। यह काजी मोहल्ला के सबसे धनी व रसूख वाले हाजी साहब के पोते हासिम का नाजायज बेटा है।’

“क्या?” मेरे कान सूप हो गये, ‘तुम्हें कैसे मालूम?’

“मास्साब, हाजी साहब के घर के पास सफरुद्दीन अंसारी का घर है। उसकी एकमात्र बेटी रुखसार बला की खूबसूरत है। हासिम को उससे प्यार हो गया, परंतु हाजी साहब ठहरे बड़े आदमी और सैन्य जाति के और सफरुद्दीन

मामूली तांगेवाला और नीच जाति का। अतः उन्होंने रुखसार को अपने घर की बहू बनाने से इंकार कर दिया। हासिम की इतनी हिम्मत नहीं थी कि हाजी साहब की खिलाफत करता। उधर रुखसार पेट से थी। उसने बच्चा गिराने से इंकार कर दिया।”

“फिर?” मेरी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी।

“एक दिन रात में जब मैं दुकान बंद कर सोने जा रहा था, मैंने दुकान के सामने एक गाड़ी रुकने की आवाज सुनी। ड्रटर ही झिरी से देखा कि एक मारुति वैन से एक लड़का बाहर निकला। उसके हाथ में कपड़े में लिपटा कोई सामान था। बिजली के खंभे की रोशनी में मैं उसे पहचान गया। वह हासिम था। वह मेरी दुकान के पीछे गया फिर तुरंत खाली हाथ लौटा और वैन में बैठकर चला गया।”

मैं साँस रोके उसकी बात सुन रहा था। पूछा, ‘फिर?’

“फिर क्या, मैं तुरंत पिछवाड़े की ओर भागा। देखा कपड़े में लिपटा एक नवजात बच्चा है। बेटा लड़का। वह जिंदा था। मैं खुशी से फूला न समाया। दौड़कर घरवाली के पास गया। उसने तो इसे देखते ही अपनी छाती से लगा लिया।”

“किसी ने पूछा नहीं कि बच्चा कहाँ से मिला?”

“हाँ अनेकों ने पूछा, पर मैंने असली बात छिपा ली और कहा कि कोई रात को मेरी दुकान के सामने छोड़ गया था।

“क्या हासिम को यह बात मालूम नहीं?”

“जरूर मालूम होगा, पर वह एक बार झाँकने तक नहीं आया। अच्छा ही हुआ। मेरी कोई औलाद नहीं थी। भगवान से कितनी मन्तें हमने माँगी। भगवान ने अपनी औलाद नहीं दी, पर दी तो। मुस्लिम हुआ तो क्या हुआ, हमने इसे सगे बेटे की तरह पाला है। जब पाँच साल का हुआ तो इसे प्राइमरी स्कूल में भरती किया। पर इसका मन पढ़ने-लिखने में बिल्कुल नहीं बैठता था। किसी तरह टान-घोंचकर पाँचवीं पास किया। छठी में दो बार फेल हो गया तो मैंने इसे दुकान में हाथ बँटाने के काम में लगा लिया।”

उसी समय हम दोनों की नजरें मंटू पर पड़ी तो हम सन्न रह गये। पता नहीं कब से वह हमारी बातें सुन रहा था। परंतु उसके चेहरे की तमतमाहट बता रही थी कि उसने सारी बातें सुन ली हैं। कालू को काटो तो खून नहीं।

उन चंद वाक्यों ने मानों दोनों को नदी के दो पाटों पर खड़ा कर दिया। कालू के चेहरे से जहाँ दीनता टपक रही थी, वहीं मंटू के चेहरे से क्रोध की अग्नि फूट कर सारी तरलता को सुखा डालना चाह रही थी। उसी समय एक बस दुकान के सामने से गुजरी। मंटू अचानक मुड़ा और दौड़कर बस के पीछे वाली सीढ़ी पकड़कर लटक गया। कालू मंटू-मंटू पुकारता हुआ दौड़ा, लेकिन तब-तक बस दूर निकल गयी थी। भीतर से कालू की पत्नी ‘क्या हुआ, क्या हुआ’ कहती हुई दौड़ी आयी। जब उसे सारी बातें मालूम हुई तो वह ‘हाय, मेरा मंटू कहाँ गया’ कह-कहकर, छाती पीट-पीटकर विलाप करने लगी। कालू भी रो रहा था। अचानक उसने अपने आँसू पोंछे एवं दाँत पीसते हुए कहा, ‘अच्छा हुआ चला गया। मैंने एक सँपोले को पाला था। अच्छा हुआ वह अभी जान गया। बड़ा होकर जानता तो शायद हमें डँस लेता।”

मैं समझ रहा था कि उसका यह भाव-परिवर्तन हृदय-परिवर्तन के कारण नहीं बल्कि हृदय में उपजी असीम पीड़ा का प्रतिफल है। मैं भीगी बिल्ली की तरह चुपचाप वहाँ से रुखसत हो गया।

छुट्टियों के बाद लौटा तो पता चला कि मंटू के भाग जाने का मुद्दा कुछ दिनों तक गरम रहा। लोग-तरह-तरह की बातें करते रहे। कुछ ने कालू को आश्वासन दिया कि मंटू लौट आएगा, परंतु मैं जानता था और कालू भी कि अब वह नहीं लौटेगा। कालू ने एक नौकर रख लिया था। अब वह कम बातें करता था। मैं भी कालू की दुखती रग को छूने की कोशिश नहीं करता।

दिसंबर के प्रथम सप्ताह में एक दिन मुझे विद्यालय के काम से जिला मुख्यालय जाना पड़ा। ट्रेन दोपहर के एक बजे गंतव्य स्टेशन पहुँची। मैंने सोचा पहले भोजन कर लूँ। स्टेशन की दूसरी तरफ कुछ होटल एवं कुछ चाय-पान, नाश्ते की दूकानें थीं। दो होटल पास-पास थे। रेलवे लाइन और उधर की दूकानों के बीच लोहे की पट्टियों की लगभग तीन इंच चौड़ी एवं छह फुट ऊंची चारदीवारी थी। दो पट्टियों के बीच लगभग दस इंच का गैप था। होटल जाने के लिए दोनों होटलों के बीच एक पट्टी तोड़ दी गयी थी। प्लेटफार्म से दोनों होटल साफ दिख रहे थे। एक होटल पर ‘गोपाल हिंदू होटल’ का साइनबोर्ड लगा था। वह छोटा एवं

कुछ बुझा-बुझा-सा दीख रहा था। उसमें दो-चार लोग ही भोजन कर रहे थे। दूसरे होटल में 'हिंदुस्तान मुस्लिम होटल' का साइनबोर्ड लगा था। वह बड़ा, साफ-सुथरा एवं चमकदार दीख रहा था। उसमें भीड़ अधिक थी। स्पष्ट था कि हिंदुस्तान होटल की अधिक चलती थी और मुझे उसी में जाना चाहिए था। परंतु पिता जी की एक नसीहत मैंने गाँठ बाँध रखी थी। उन्होंने हा था, "होटल में खाने से बचना। अगर होटल में खाना मजबूरी हो तो मुस्लिम होटल में कभी मत खाना।" अतः मेरे पाँव गोपाल होटल की ओर बढ़े। तभी 'सर', 'सर' की जानी-पहचानी आवाज सुनायी पड़ी। आवाज की दिशा में मुड़ा तो चौंक पड़ा। आवाज देने वाला मंदू था। वह मुझे सर कहकर ही संबोधित करता था। वह साफ पतलून एवं कमीज पहने था। बाल भी रूखे नहीं थे और कंघी भी करीने से की गयी थी। सुंदर तो वह था ही अब और सुंदर लग रहा था। वह हिंदुस्तान होटल के सामने खड़ा था। मेरे निकट पहुँचते ही वह बोला, "सर, हमारे होटल में मटन-बिरयानी, चिकन-बिरयानी, फिश करी, अंडा करी बहुत अच्छी बनती है। हमारे यहाँ की बिरयानी बहुत फेमस है। दूर-दूर से लोग आते हैं। बहुत लोग तो पार्सल बनवाकर भी ले जाते हैं। यहाँ अनेक हिंदू भी आते हैं।"

बहुत दिनों से मटन-बिरयानी नहीं खायी थी। मन कर रहा था, परंतु पिताजी की नसीहत दीवार बनकर खड़ी थी।

मेरी दुविधा देखकर उसने कहा, "सर, यहाँ बीफ नहीं बनता। मेरा मालिक सच्चा मुसलमान है। वह पाँचों वक्त नमाज पढ़ता है। गाय का माँस न घर में लाता है न होटल में। वह रोज सुबह अपनी आँखों के सामने खस्सी कटवाता है। खस्सी भी एक नंबर का।"

मैंने उसकी बात अनसुनी करके पूछा, 'मंदू, तुम वहाँ से भाग क्यों आये? कालू तो तुम्हें अपने सगे बेटे की तरह पाल रहा था?'

"सर जी, उसकी दो वजहें हैं। पहली यह कि जब मैं जान गया कि मेरी रगों में मुसलमान का खून है, तब मैं न मुसलमान को गरिया सकता था न किसी को गरियाते सुन सकता था।"

और दूसरी वजह?"

"जब मैं जान गया कि मेरे माँ-बाप कौन हैं और मैं उन लोगों की हरामी औलाद हूँ, तो मुझे बहुत दुख हुआ इसके साथ गुस्सा भी आया कि उन लोगों ने एक बार भी मेरी खबर नहीं ली। इसलिये मैं वहाँ से दूर, बहुत दूर भाग जाना चाहता था। यह तो खुदा का शुक्र है कि इस होटल के रहमदिल मालिक ने मुझे अपने यहाँ काम पर रख लिया।"

"क्या तुम्हें कालू एवं उसकी पत्नी की जरा भी याद नहीं आती?"

"आती तो है सर जी, पर हकीकत जान गया तो उन्हें भुलाने में ही सबों की भलाई है" कहते हुए उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसने अपनी कमीज की बाँह से अपने आँसू पोंछे और कहा "सर जी, आज आप जो भी खायेंगे उसका पैसा आपको नहीं देना पड़ेगा। यह देखिये" उसने अपनी पतलून की जेब से सौ का एक नोट निकाल दिखाया और कहा, "सर जी, सर जी, यह वही नोट है जो आपने मेला देखने एवं मिठाई खाने के लिए दिया था। इसे मैंने बहुत संभालकर इसलिए रखा है कि चाहता था किसी नेक काम में खर्च करूँ। आपको पैसा आप पर खर्च हो, इससे नेक काम मेरे लिये और क्या होगा?"

एक ओर मनुहार का महीन रेशमी रेशा था दूसरी ओर संस्कार की मजबूत जंजीर। रेशे को तोड़ना मेरे लिए कठिन नहीं था, पर उस वक्त मुझे वही सबसे कठिन लग रहा था। मैं स्वयं को उस भौरे की तरह पा रहा था जो कमल की कोमल पंखुड़ियों में बंद हो गया हो और उसे ही अपने जीवन की सार्थकता समझ रहा हो।

मैंने कहा, "ठीक है, पर इस रुपये को तुम किसी नेक काम में ही खर्च करना।"

संपर्क: खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर- 721305 (प. बंगाल), मो. 9434894190

मुझे ब्यांत: आलोचना में आनंद आता है (शिखर आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रकाश मनु की बातचीत)

डॉ. रामविलास शर्मा शीर्ष आलोचकों में से थे, जिन्होंने सिर्फ साहित्यिक आलोचना ही नहीं, मार्क्सवादी दृष्टि से भारतीय संस्कृति और दर्शन पर भी काफी गंभीर काम किया है। पुरातत्त्व, वास्तुकला और साहित्य कलाओं के आंतरिक संबंध जैसे जटिल प्रश्नों से भी वे उलझे हैं। यह उनकी असाधारण मेधा और उत्कट जिजीविषा ही थी, जिसके कारण अपनी उम्र के नौवें दशक में भी वे अथक श्रम करते हुए, अकेले हिंदी के दस आलोचकों के बराबर काम कर रहे थे। जिस समय मैं उनसे बातचीत के लिए पहुँचा, उनके हाथों और चाल में भी हल्का कंपन नजर आता था, पर उनकी वाणी का ओज और तेजस्विता बरकरार थी और उन्हें आवेग के याथ किसी मुद्दे पर बातचीत या बहस करते हुए सुनना खुद में एक अनुभव था। मैंने देखा, बातचीत में वे ज्यादातर उत्तेजित नहीं होते, पर उनमें एक गरमजोशी और जिंदादिली बराबर महसूस होती है।

रामविलास जी बेहद दृढ़निश्चयी और कठोर परिश्रम करने वाले आलोचक थे, इसीलिए सहज ही वे हिंदी समाज का गौरव बने। हिंदी का बड़ा लेखक कैसा होता है, कैसा स्वाभिमानी, खुद्वार और अपने लोगों से प्यार करने वाला, इसकी मिसाल के रूप में हमें आज भी रामविलास जी सबसे पहले और बार-बार याद आते हैं। वे हिंदी के सच ही इतने बड़े, आदर्श और सुदर्शन लेखक थे कि उनकी छवि जैसे हर हिंदीभाषी को तोष देती है। और लेखकों के तो वे आदर्श थे ही, जिनके पास जाकर सुख मिलता था और बार-बार हम गहरे आकर्षण की डोर से बँधे उनके पास दौड़कर पहुँचते थे। हर बार उनके पास बहुत कुछ सीखने को मिलता था। फिर एक ऊँचे कद के आलोचक, चिंतक, भाषावैज्ञानिक और सभ्यता-समीक्षक के रूप में उनका विपुल काम, जिसकी मिसाल ढूँढ़ना मुश्किल है। निराला पर उनका काम आज भी इस लिहाज से हमें एक मानक लगता है और इससे समझ में आता है कि किसी कवि के समूचे सृजन को, उसके जीवन-संघर्ष और युगीन परिवेश के साथ जोड़कर कैसे देखा जाना चाहिए। हिंदी ही नहीं, शायद ही किसी भारतीय भाषा में किसी आलोचक ने अपने प्रिय कवि पर इतनी मेहनत से इतनी बड़ी और कालजयी पुस्तक लिखी हो। इसी तरह भाषाविज्ञान पर रामविलासजी का काम हो या अंग्रेजी शासन और १८५७ की राज्यक्रांति या संस्कृति और दर्शन की पेचीदा समस्याओं पर वह आज भी मौलिक चिंतन, कठिन श्रम और उद्यम का ही एक विरल उदाहरण है। उम्र के आखिरी चरण में छपी रामविलास जी की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' भी अपने ढंग की एक चुनौतीपूर्ण कृति है। जब यह बातचीत हुई, उन दिनों वे 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' किताब पर काम कर रहे थे और उसके पूरे होने पर, 'शूद्र, मुसलमान और भारत की जातीय समस्या' पर काम शुरू करने वाले थे। इन विषयों का चयन ही यह साबित करने के

लिए काफी है कि रामविलास जी अकसर दुर्भेद्य समझे जाने वाले किलों की ओर बढ़ते रहे और उन्होंने बहुत-से भ्रमों का विच्छेदन करके रास्ता सुझाने और वैचारिक पहल करने का काम भी किया है।

रामविलास जी के निधन से कोई आठ महीने पहले, २५ सितंबर, १९९९ को यह बातचीत हुई थी। इससे कुछ अरसा पहले ही इंग्लैण्ड में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में उन्हें सम्मानित किया गया था, पर वे सम्मान ग्रहण करने वहाँ नहीं गए। इससे पहले भी उन्हें 'व्यास सम्मान' तथा हिंदी अकादमी के 'शलाका सम्मान' सहित कई बड़े पुरस्कार मिले, पर उन्होंने पुरस्कार की राशि नहीं की तथा उसे साक्षरता के प्रसार के लिए खर्च करने के आग्रह के साथ विनम्रतापूर्वक लौटा दिया।

२५ सितंबर, १९९९ को रामविलासजी के दिये समय के करीब पंद्रह-बीस मिनट पहले ही मैं सी-३५८, विकासपुरी स्थित उनके निवास पर पहुँच गया था, पर वे सहज ही बातचीत के लिए प्रस्तुत थे। 'तो शुरू करें?' मेरे पूछने पर उन्होंने मुस्कुराते हुए सिर हिला दिया। और फिर उनके मौजूदा काम और वर्तमान दिनचर्या के सवालों पर से होती हुई यह बातचीत कैसे एक के बाद एक कई मोड़ों से गुजरती हुई आगे बढ़ती गई— कुछ पता ही नहीं चला।

बातचीत की शुरुआत मेरे एक सवाल के जवाब में रामविलास जी पे खुद ही अपनी लेखन-यात्रा का एक छोटा-सा ग्राफ भी पेश कर दिया। और थोड़ा आगे चलते ही वे बड़े अनौपचारिक रंग में आ गए। बीच-बीच में कई जगह उन्होंने चुटकियाँ ली और बड़े प्रसन्न मूड में सवालों के जवाब दिए:

प्रश्न: डॉक्टर साहब, आपकी लेखन-यात्रा के मोटे तौर से तीन चरण मेरे ध्यान में आते हैं। एक तो शुरू की आलोचना, जिसमें कठोरता या कटुता कुछ ज्यादा थी, जिसे कई लोग 'मारधाड़ वाली आलोचना' भी कहते हैं। दूसरा चरण वह, जब आपने निराला और कुछ अन्य लेखकों पर गंभीर काम किया। और अब तीसरा चरण यह है जबकि आप साहित्य के अलावा भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रश्नों से उलझ रहे हैं। तो यह जो विकास का ग्राफ है, यह अनायास है या इसके पीछे कोई खास सोच... ?

उत्तर: इसका कारण यह है कि मैं प्रगतिशील लेखक संघ का महासचिव था। एक चरण ३४ से ४३ का। इस समय मेरे बहुत से लेख 'रूपाभ', 'माधुरी', 'सुधा' आदि में प्रकाशित हुए। इसके बाद ४३ में आगरा आया और प्रगतिशील लेखक संघ में अधिक सक्रिय भूमिका निभाने लगा। यह चरण १९५३ तक चला। इस समय बहुत-से विवाद प्रगतिशील लेखकों के बीच थे। उन पर भी मैंने लिखा। जिसे मारधाड़ की आलोचना आप कह रहे हैं, वह इसी समय की है। परंतु इसी अवधि में निराला पर मेरी पहली पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी। उससे पहले 'प्रेमचंद' और 'भारतेंदु युग'— ये पुस्तकें छपी थीं। तो साहित्य का पूनर्मूल्यांकन करने की तरफ मेरी दृष्टि ४३ से पहले भी थी।

१९५३ में मैं प्रगतिशील लेखक संघ से अलग हो गया और उसके बाद १९५७ तक एक चरण रख सकते हैं। इसमें मैंने प्रेमचंद पर दूसरी पुस्तक लिखी और इसकी पृष्ठभूमि में मैंने प्रगतिशील लेखक संघ के आंतरिक वाद-विवाद को लेकर भी एक बहस चलाई। उसी समय कुछ प्रगतिशील लेखक रामचंद्र शुक्ल पर ब्राह्मणवाद का आरोप लगा रहे थे। तब मैंने शुक्ल जी पर पुस्तक लिखी। इसके कई संस्करण हुए और क्रमशः जो नई चीजें मेरे सामने आईं, उन पर मैं लिखता रहा।

१९५७ में १८५७ के स्वाधीनता संग्राम की शतवार्षिकी मनाई जा रही थी। उस समय अनेक इतिहासकार इसे स्वाधीनता संग्राम नहीं मानते थे। उस समय मैंने एक पुस्तक लिखी— 'सन् १८५७ की राज्यक्रांति'। सन् १९५७ के आखिरी दिन यानी ३१ दिसंबर १९५७ को यह किताब छपी।

प्रश्न: हाँ, आपने अपनी आत्मकथा में जिक्र किया है, ३१ दिसंबर १९५७ को यह किताब छपकर आई थी और रात में ही इसे अपने एक मित्र को भेंट करने गए थे...

उत्तर: (हँसते हुए) उस मित्र ने कहा था कि पुस्तक इस साल छप नहीं सकती और मेरा कहना था कि जरूर छप जायेगी। इसलिए ३१ दिसंबर की रात को मैं उसे यह किताब भेंट करने गया था। खैर, तो मेरा कहना था, यह संघर्ष स्वाधीनता संग्राम तो है ही, लेकिन एक बहुत बड़ी राजनीतिक क्रांति भी है। इसलिए कि अभी तक जितने संग्राम हुए, उनका नेतृत्व सामंतों ने किया था, जबकि इसके नेता फौज के सिपाही थे। एक वर्ग की

जगह दूसरा वर्ग नेतृत्व सँभालने के लिए आगे आए, इसे राज्यक्रांति ही कहेंगे।

जब यह पुस्तक लिखी थी, उस समय तक मार्क्स ने जो कुछ १८५७ पर लिखा था, वह मेरे पास नहीं था, बाद में प्राप्त हुआ। तो मैंने उसको संशोधित करके दूसरा संस्करण तैयार किया और इसका नाम रखा, 'सन् ५७ की राज्यक्रांति और मार्क्सवाद'। यह किताब लोकभारती से छपी थी। खास बात यह है कि मार्क्स ने स्वयं १८५७ के आसपास भारत के बारे में अपनी धारणाएँ बदली थीं। एक अखबार में मार्क्स और एंगल्स प्रति सप्ताह भारत की घटनाओं पर लिखते थे। उनका संकलन १९५९ में मास्को से 'इंडियाज फर्स्ट वार ऑफ इंडिपेंडेंस' नाम से छपा है। १९५७ के बाद प्रगतिशील लेखक संघ और कम्युनिस्ट पार्टी के अंदर भारतीय इतिहास, भारतीय समाज-व्यवस्था और मार्क्सवाद को लेकर अनेक समस्याएँ प्रचलित थीं। इन पर बहस चलती थी। मैं प्रगतिशील लेखक संघ से औपचारिक रूप से अलग हो गया था, पर अनौपचारिक रूप से सभी लेखकों के साथ मेरा संबंध था। और कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं से भी मेरा संपर्क बना रहा। इस समय मैंने इतिहास और मार्क्सवाद पर विशेष काम किया। इसका परिणाम है दो मुख्य पुस्तकें- 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' तथा 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज'।

प्रश्न: डॉक्टर साहब, आपको दिल्ली आए हुए अठारह बरस हो गए। यहाँ आने के बाद आपकी लेखन-यात्रा अविराम चलती रही या उसमें कोई व्यतिक्रम आया ?

उत्तर: आपने ठीक कहा। सन् १९८१ के बाद मैं दिल्ली आ गया था। १९८१ के बाद से अब तक चला आ रहा है, यह अंतिम चरण है। इसकी पृष्ठभूमि में भी वामपंथ की समस्याएँ, भारत का राजनीतिक आंदोलन वगैरह हैं। मैंने यह अनुभव किया कि राजनीति और इतिहास पर लिखना काफी नहीं है, भारतीय दर्शन पर लिखना भी बहुत जरूरी है। मार्क्सवाद का जो विकास हुआ था, उसकी पृष्ठभूमि में रखकर मार्क्सवाद का अध्ययन करना चाहिए।

मैं कुछ समय बनारस रहा। वहाँ दर्शन की बहुत-सी पुस्तकें पढ़ीं। उन दिनों मेरा बेटा वहाँ यूनिवर्सिटी में था। उसके यहाँ रहता था। वहाँ से लाईब्रेरी पैदल दस मिनट

चलकर पहुँच जाता था। वहाँ पढ़ता और पुस्तकें भी ले आता था। यहाँ मैंने दर्शन के साथ-साथ बहुत-सा दूसरी तरह का अध्ययन भी किया, जैसे पूँजीवाद की क्या स्थिति है, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना जाल कैसे फैला रही हैं? उस समय तक सोवियत संघ विघटित नहीं हुआ था, लेकिन विदेशी पूँजी प्रवेश करने लगी थी। उस समय मैंने लिखा था इसके घातक परिणाम हो सकते हैं। अमरीकी पूँजी का प्रसार हो रहा था। उस समय 'मार्क्सवाद और महाजनी पूँजी' नाम से मेरे लेखों का एक संग्रह छपा। उसके बाद 'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद' पुस्तक आई। इसमें यूरोप के इतिहास को और भारत के इतिहास को कैसे समझना चाहिए, वर्ग और वर्ण में क्या अंतर होता है, इन प्रश्नों पर मैंने ध्यान दिया। बहुत बार वर्ण और जाति को एक समझ लिया जाता है- जबकि ऐसा है नहीं। जाति-प्रथा कैसे बनी और वह किसी न किसी रूप में सारी दुनिया में है- यह मैंने दिखाया। जाति और वर्ग में फर्क यह है कि वर्ग में आदमी अपना पेशा बदल सकता है जबकि जाति में उससे बाहर निकलना संभव नहीं होता और पुश्त-दर-पुश्त वही काम आगे चलता जाता है। सुनार का बेटा सुनार और चमार का बेटा चमार बनता है। एक बात यह भी समझनी चाहिए कि मनुस्मृति में जो वर्ण-व्यवस्था है, वह व्यवहार में कहीं थी नहीं। मनुस्मृति में ही यों तो ब्राह्मण को श्रेष्ठ बताया गया है, पर साथ ही यह भी कहा गया है कि अकाल के समय जरूरत पड़ने पर, ब्राह्मण को शुद्र के घर भी यज्ञ करना चाहिए। महाभारत में आपातकाल में विश्वामित्र के चांडाल के यहाँ भोजन करने का जिक्र आया ही है।

प्रश्न: क्या आपके जीवन में कोई ऐसा विशेष प्रसंग या घटना हुई है कि अचानक आपका ध्यान वेदों और पुराणों की तरफ गया ?

उत्तर: नहीं, ऐसी कोई घटना तो नहीं हुई...पर हाँ, ऋग्वेद का अध्ययन मैंने एक विशेष उद्देश्य से किया था। यूरोप के ज्यादातर दर्शन यूनान से निकले हैं और यूनानी पहले वहाँ रहते थे, जहाँ आज तुर्की है और जिसे 'एशिया माइनर' कहा जाता है। चौदहवीं सदी में तुर्कों ने इन्हें वहाँ से भगाया। तो यूरोप के दर्शन का अध्ययन करते हुए मुझे लगा कि सुकरात और उससे भी पहले के यूनानी दार्शनिकों

का परिचय उपनिषदों के रचनाकारों से था। यानी उपनिषदों की कई चिंतन-धाराएँ यहाँ मिलती हैं। जैसे उदाहरण के लिए वहाँ एक खोज यह है कि संसार का मूल तत्त्व क्या है? जल है, हवा है या कुछ और? यही बात उपनिषदों में पंचतत्त्वों के रूप में कही गई है। रानाडे, जो ग्रीक और संस्कृत के विद्वान थे- सबसे पहले यह बात कही थी।

उपनिषदों में एक ईश्वर की बात कही गई है यही यूनानी दर्शन में भी है। तो मुझे लगा, भारतीय और यूरोपीय दर्शन का अध्ययन ऋग्वेद के बिना संभव नहीं है। तब ऋग्वेद पर मैंने बाकायदा काम करना शुरू किया। इधर मेरी पाँच-छः पुस्तकों में ऋग्वेद पर एक अध्याय जरूर रहता है। उसका इतिहास-पक्ष 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद' पुस्तक में है, काव्य-पक्ष 'भारतीय साहित्य की भूमिका' में है। अनेक दृष्टियों से मैंने उसका अध्ययन किया है। ऋग्वेद का दार्शनिक पक्ष 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' पुस्तक में है। इसी तरह 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' में ऋग्वेद से शुरू करके मैं तुलसीदास तक पहुँचा हूँ। तो मेरा जो वर्तमान चरण है, वह दर्शन, संस्कृति और इतिहास का है और इससे मैं अभी तक निकल नहीं पाया।

प्रश्न: 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' पुस्तक आप किस दृष्टिकोण से लिख रहे हैं और उसमें खासकर क्या दर्शाना चाहते हैं? इसलिए कि तुलसीदास की सौंदर्यचेतना पर हिंदी में काम तो पहले भी हुआ है?

उत्तर: मैंने आपको बताया ही है। भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास की शुरुआत वैदिक कवियों के सौंदर्यबोध से होती है। उसका पहला अध्याय ही है 'वैदिक कवियों का सौंदर्यबोध'। इसमें खासकर ऋग्वेद के सौंदर्यबोध का चित्रण है। मेरा यह भी मानना कि ऋग्वेद ही मूल स्रोत है तथा बाकी सब वेद उससे सामग्री उधार लेते हैं। इसलिए परंपरा में यह कथा चलती है कि प्रारंभ में वेद एक ही था, व्यास ने चार वेद बनाए।

खैर, तो दूसरा अध्याय 'भारतीय दर्शन और सौंदर्यशास्त्र' को लेकर है। मेरा यह मानना है कि कलाओं के पारस्परिक संबंध और उनके विकास के अध्ययन के लिए भारतीय दर्शन जितना ठोस आधार प्रदान करता है, उतना तो यूरोप के दर्शन में भी नहीं है। पुस्तक का तीसरा अध्याय है 'नगर

सभ्यता और कलाओं का विकास'। इसमें बड़ी-बड़ी इमारतों के स्थापत्य और भित्तिचित्रों वगैरह का अध्ययन है। भारत के बारे में अक्सर यह कहा गया है कि भारत ग्राम्य सभ्यता का देश है, यहाँ नगरों का विकास नहीं हुआ। मेरा कहना यह है कि यह एकदम हवाई बात है। तुलसीदास के समय जो कलाओं का विकास हुआ, भारतीय स्थापत्य तथा चित्रकला का तो विकास हुआ, उसका अध्ययन करने के बाद मैं तुलसी के कलापक्ष की ओर आया, तो यह मेरे लिए एक चकित कर देने वाला अनुभव था। इसलिए कि मुझे लगा, तुलसी को न सिर्फ इन सबका ज्ञान था, बल्कि इनका बहुत अच्छा प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में किया। इस लिहाज से तुलसी हिंदी के बहुत बड़े कवि, बहुत सचेत और मेधासम्पन्न कवि ठहरते हैं। उन्हें संस्कृत और हिंदी की समूची काव्य-परंपरा की बहुत अच्छी जानकारी थी जिससे उनकी कविता में एक प्रकार की परिपक्वता आई। अपने से पहले के किसी भी कवि से वे घटकर नहीं हैं। तो अभी तो इस पुस्तक पर ही काम चल रहा है। यह पुस्तक जब पूरी हो जाएगी, तो मैं 'शूद्र, मुसलमान और भारत की जातीय समस्या' पर काम करूँगा।

प्रश्न: इस पुस्तक की रूपरेखा भी थोड़ी-सी बता दें कि इसमें आप किन चीजों पर फोकस करना चाहते हैं? और यह भी कि यह काम आपको क्यों जरूरी लगता है?

उत्तर: शूद्रों की स्थिति को लेकर कुछ बातें मेरे दिमाग में हैं। पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि शूद्रों की स्थिति अंग्रेजी राज में जैसी थी, वैसी पहले नहीं थी। प्राचीन काल में भारत औद्योगिक रूप से काफी सम्पन्न देश था और मुख्य रूप से यहाँ कपड़े का उद्योग था। हमारे यहाँ काम करने वाले जो लोग हैं, उन्हें शिल्पी कहा जाता है, जैसे बढ़ई, बुनकर, कुम्हार वगैरह। अब कपड़ा बुनकर जो शिल्पी होंगे, वे कौन होंगे? मुख्य रूप से मजदूर ही न, जिन्हें उस समय की वर्ण-व्यवस्था में शूद्र कहा गया है। प्राचीन काल में शूद्रों के उत्पीड़न के बारे में जो बात करते हैं, वे इस बात का कतई जिक्र नहीं करते कि उस समय शूद्रों को पगार दी जाती थी। तो प्राचीन भारत का तो पूरा कपड़ा उद्योग था, वह मुख्य रूप से शूद्रों के श्रम पर टिका था, जिससे व्यापारी काफी समृद्ध थे तथा शूद्रों को उनकी

पगार मिलती थी। सच तो यह है कि भारत का कपड़ा उद्योग इतना विकसित था कि पूरी दुनिया में कहीं और इतना अच्छा कपड़ा नहीं बनता था।

दूसरी बात यह समझ लेनी चाहिए कि जितने शिल्पी थे, सिर्फ वे ही शूद्र नहीं थे, बल्कि नाटक, चित्रकला आदि में भाग लेने वाले सभी लोग शूद्रों की श्रेणी में आते थे। भरत ने जो नाट्यशास्त्र लिखा था, उसके बारे में उन्होंने कहा था कि मैंने शूद्रों के लिए पाँचवाँ वेद लिखा है। यानी जितने रंगकर्मी थे, वे सभी शूद्र थे। फिर यह भी समझना चाहिए कि भरत स्वयं नाटकों में अभिनय करते थे। उन्होंने एक बात और बड़ी दिलचस्प लिखी कि पहले नाटक स्वर्ग में होते थे। बाद में स्वर्ग से नाटक करने वाले अभिनेताओं को निष्कासित करके नीचे धरती पर भेज दिया गया। उन्हें ऋषियों ने यह शाप दिया कि तुम सब शूद्र हो जाओ। अब शूद्रों के लिए अध्ययन यानी पढ़ने-लिखने की मनाही थी, तो प्रश्न यह है कि बिना अध्ययन के, अभिनेता अपना पाठ कैसे करेंगे? संवाद कैसे बोलेंगे और तैयारी कैसे करेंगे? तो इस अंतर्विरोध की ओर मेरा ध्यान गया।

एक बात और। पहले नाटक खुले में होते थे, यानी नाटकों के लिए प्रेक्षागृह नहीं बनाए जाते थे; ये बाद में बनने लगे। भरत ने लिखा है कि, एक बार वह खुले में अपना नाटक कर रहे थे उन्हें मार डालने की कोशिश की गई। उन्होंने इसके लिए 'वध' शब्द का इस्तेमाल किया है। यानी मारना ऐसे ही नहीं था, बल्कि जान से मारने की कोशिश की गई थी। अब सवाल यह है कि वे कौन लोग थे, जो उन्हें जान से मारना चाहते थे? भरत ब्राह्मण थे, ब्राह्मण होकर कोई नाटकों में काम करें, यानी शूद्र-कर्म करें? इसलिए स्वाभाविक रूप से ब्राह्मणों का ही यह काम हो सकता है। मनुस्मृति में नाचना, गाना, बाजा बजाना शूद्र-कर्म माना गया है, पर कोई नाटक इसके बगैर पूरा हो ही नहीं सकता।

उस समय जो नाटक होते थे, वे आज के 'ओपेरा' की तरह थे। इसलिए कि उनमें नृत्य-संगीत की प्रधानता थी। मनुस्मृति में शूद्रों के बारे में जो कहा गया है, उसे आप यहाँ जोड़ लें तो उससे समझ में आ जाएगा कि सभी कलाकारों के प्रति ब्राह्मणों का रवैया क्या था। उसमें कहा गया है कि जो द्विज हैं, उनके लिए नाचना, गाना और बाजा बजाना

मना है। लेकिन भरत नाटकों में काम करते थे, तो नाचना, गाना, बजाना वे कैसे छोड़ सकते थे? प्राचीन ग्रंथों में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनसे प्राचीन काल की समाज-व्यवस्था ही नहीं, बल्कि और भी बहुत-सी चीजों पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने एक मजेदार बात लिखी है कि नट लोग नगर में ही अपना नाटक दिखाएँ, गाँव में नहीं। इसके पीछे उनकी दृष्टि शायद यह रही होगी कि गाँव के लोग नाटक देखेंगे तो उनके काम का नुकसान होगा। तब खेती कौन करेगा? जबकि नगर के लोगों के पास तो काफी समय होता ही है। दूसरी बात यह कही गई कि नट लोग जब खेल दिखाने आएँ, तो वे बाहर से कोई सामान अपने साथ न लाएँ। राजा स्वयं उनके लिए आवश्यक सामान की व्यवस्था करेगा। शायद इसलिए कि नटों के साथ यह भय जुड़ा हुआ था कि वे खेल-खेल में कुछ और न कर दें।

आपको यह जानकर हैरानी होगी कि वह चीज केवल भारत में ही नहीं थी। इंग्लैण्ड में शेक्सपियर के जमाने में जो अभिनेता थे, उन्हें भले मोहल्लों में नहीं रहने दिया जाता था। वे उपनगरों में, जैसे झुग्गी-झोंपड़ियों में चमार आदि लोग रहते हैं, उस नितांत दरिद्र हालत में रहते थे।

फिर मनुस्मृति में ही शूद्रों के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसमें कितने ही अंतर्विरोध हैं। एक ओर शूद्र के कान में पिघला हुआ सीसा डालने की बात कही गई है, तो दूसरी ओर यह भी कहा गया कि अगर कहीं शूद्र राजा हो तो ब्राह्मण को उस राज्य में नहीं रहना चाहिए। सवाल यह है कि अगर उस समय शूद्रों की हालत इतनी बुरी थी, तो शूद्र राजा कैसे बन जाते थे या संपन्न कैसे हो जाते थे! तो मनुस्मृति में जो वर्ण व्यवस्था है, वह उस रूप में ही कहीं भी प्रचलित नहीं थी। वह ब्राह्मणों का एक स्वप्न है। रहते गरीबी में थे और सपना दुनिया जीतने का देखते थे। इसी तरह मनुस्मृति में वर्ण-व्यवस्था के जो नियम हैं, उन्हें का ज्यों का त्यों कभी न स्वीकार किया जाता था। यों भी उनमें आपस में कई अंतर्विरोध हैं। जैसे यही कि नाटक के सभी रंगकर्मी शूद्र थे। अगर शूद्रों के लिए विद्या का अध्ययन वर्जित था तो वे नाटक खेलते कैसे थे?

प्रश्न: एक बात बताएँ। एक ओर आप जाति का इन अर्थों में प्रयोग कर रहे हैं और दूसरी ओर हिंदी जाति,

गुजराती या बांग्ला जाति वगैरह की बात करते हैं, तो यह कैसे होता है... ?

उत्तर: आपके सवाल का भारत की जातीय समस्या के साथ बहुत गहरा संबंध है। आप इसे इस तरह देखिए कि जो बंगाल का मुसलमान है और जो हिंदी प्रदेश का मुसलमान है, उनमें आपस में समानता ज्यादा है या भिन्नता? मेरा कहना है कि जो बंगाल का मुसलमान है, उसकी संस्कृति बंगाल के हिंदुओं से ज्यादा मिलती है। इसी तरह हिंदी प्रदेश के हिंदू और मुसलमान की संस्कृति एक है। तो भारत में हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं, यह स्थापना तो अंग्रेजों की है। अंग्रेजों की यह स्थापना है कि भारत में धर्म तो हैं, दर्शन नहीं है। कुल मिलाकर उन्होंने कहा कि भारत में हिंदू और मुसलमान दो धर्मों की प्रधानता है। और आगे चलकर यही देश-विभाजन का 'थीसिस' बना।

इससे पहले १९०५ में उन्होंने बंगाल का विभाजन किया, ताकि बंगाल का जो क्रांतिकारी आंदोलन है, वह दब जाए। तब उन्हें बंगाल के क्रांतिकारी उभार को दबाने का एक यही रास्ता समझ में आया कि बँटवारा कर दो। लेकिन उनकी कोशिशों के बावजूद सारा बंगाल भावनात्मक रूप से एक ही रहा। आखिर १९११ में अंग्रेज हार गए, १९४७ में जीत गए। और इसके लिए षड्यंत्र वे बहुत-पहले से रच रहे थे। १९०६ में अंग्रेजों ने मुसलिम लीग को जन्म दिया। फिर विश्वयुद्ध के समय उन्होंने भारत को रियासतें देने की बात कही, लेकिन नतीजा कुछ और हुआ। बाद में राउंड टेबल कांफ्रेंस हुई, संविधान-सभा गठित की गई। कामचलाऊ मंत्रिमंडल का गठन हुआ, लेकिन अंग्रेज मन ही मन कुछ और खिचड़ी पका रहे थे।

आगे चलकर जब अंग्रेज कमजोर पड़े और हम आजादी की ओर बढ़ रहे थे, तो अंग्रेजों ने विभाजन का शगूफा छोड़ दिया। १९४६ के आसपास केवल नासिक विद्रोह ही नहीं हुआ, देश में हर तरफ गुस्सा था, जनता का उबाल था। उस समय सवाल यह था कि आप अंग्रेजों की कही गई बात स्वीकार करते हैं या विरोध करते हैं। गाँधी जी स्वीकार करने के पक्ष में थे और वे बार-बार यही कहते थे कि अंग्रेज तो खुद ही जा रहे हैं, इन पर शक करना ठीक नहीं है।

प्रश्न: लेकिन १९४२ में कम्युनिस्टों ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन का साथ नहीं दिया था। इस बात की भी कड़ी आलोचना हुई थी।

उत्तर: सवाल यह है कि १९४२ का 'भारत छोड़ो' आंदोलन क्या सचमुच अंग्रेजों के खिलाफ था और उससे क्या निकला? गाँधी जी ने उसे व्यर्थ ही हिंसा और अहिंसा में उलझा दिया, जबकि उस समय हिंसा-अहिंसा का सवाल नहीं था, बल्कि अंग्रेजों को मिलकर बाहर निकालने की बात थी। इसके लिए अगर कोई हिंसा का रास्ता अपनाए तो भी कुछ गलत नहीं था। पर ऐसा हुआ कहाँ! सुभाषचंद्र बोस ने तो गाँधी जी से यहाँ तक कहा था कि आप पूरे देश में अहिंसात्मक आंदोलन छेड़िए, मैं आपका पूरा साथ दूँगा। पर गाँधी जी कतरा गए। फिर असली लड़ाई तो १९४६ में हुई, जब गाँधी जी ने अंग्रेजों का विरोध करने की बजाय उनका साथ दिया। नहीं तो विभाजन हरगिज न होता और हमारे देश का इतिहास कुछ और होता।

प्रश्न: क्या आप समकालीन साहित्य बिल्कुल ही नहीं पढ़ते? या थोड़ा-बहुत पढ़ते तो हैं, पर उस पर राय देने या आलोचना से गुरेज करते हैं?

उत्तर: आप कह सकते हैं कि मैं समकालीन साहित्य बिल्कुल नहीं पढ़ता, इसलिए कि समय ही नहीं है। मैं जिन कामों को पूरा करने में लगा हूँ, उन्हीं में मेरा ज्यादातर समय जाता है। साहित्य से जुड़े हुए जो सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय प्रश्न हैं, उन्हें मैं कम महत्वपूर्ण नहीं मानता और मार्क्सवादी दृष्टि से उन पर विचार कर रहा हूँ। यह ऐसा क्षेत्र है, जिसमें काम करने वाले लोग हैं ही नहीं। कविता, कहानी, उपन्यास तो बहुत लोग लिख लेते हैं, पर इस तरह के काम में चूँकि मेहनत ज्यादा है, इसलिए कोई इधर आना नहीं चाहता। इसलिए मुझे इस क्षेत्र में काम करना और भी जरूरी लगता है।

प्रश्न: डॉक्टर साहब, आप समकालीन लेखन से एक तरह से कट ही गए हैं और मध्ययुगीन साहित्य या फिर उससे भी पहले का साहित्य आपकी रुचियों का प्रमुख केंद्र है। इससे प्राचीन साहित्य में आपकी रुचि का क्या यह अर्थ लगाया जाय कि समकालीन साहित्य में आपकी अनास्था है या उसे आप महत्वपूर्ण नहीं मानते?

उत्तर: समकालीन लेखन से भले ही मैं कट गया होऊँ, लेकिन समकालीन राजनीति से मैं बिल्कुल नहीं कटा। और मैं बराबर ध्यान से यह देखता हूँ कि कहाँ किस तरह की घटनाएँ हो रही हैं या किस तरह के अच्छे बुरे प्रभाव सामने आ रहे हैं, कहाँ मजदूर आंदोलन उभरा या दबा तथा पूँजीवादी शक्तियाँ हमारे देश में क्या खेल खेल रही हैं। इसी तरह बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हमारे देश में किस तरह के गठजोड़ और किस तरह की बहसें हो रही हैं— मेरी इस सब में काफी दिलचस्पी है।

प्रश्न: समकालीन साहित्य से समाज की बहुत-सी जटिलताएँ और विरोध ही ज्यादा साफ तौर से सामने आते हैं। इसमें ऐसा बहुत कुछ सामने आ रहा है और जो हमारे समाज में तेजी से आ रहे बदलावों का गवाह है। ऐसे में आपका समकालीन साहित्य से बेखबर होना क्या एक तरह का पलायन नहीं है ?

उत्तर: आप चाहें तो इसे पलायन कहें, मुझे कोई परेशानी नहीं है। लेकिन जो इसे पलायन कहते हैं, वे स्वयं विचार करें कि उन्होंने भारतीय दर्शन का कितना अध्ययन किया है। सिर्फ समकालीन साहित्य का अध्ययन ही काफी नहीं है।

प्रश्न: डॉक्टर साहब, आज पूरी दुनिया में कम्युनिस्ट आंदोलन और मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव में एक तरह का हास दिखाई पड़ता है। खासकर सोवियत संघ के पतन के बाद तो इस आंदोलन में बहुत बिखराव आया और एक तरह की हताशा भी नजर आने लगी। इसका कारण, आपको क्या लगता है, भीतरी अधिक है या बाहरी ?

उत्तर: दोनों ही बातें हैं। जहाँ तक भीतरी कारणों की बात है, विदेशी पूँजी की सहायता से हम साम्यवादी समाज का निर्माण कर सकते हैं, इस तरह की सोच ने बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचाया। सबसे पहले यूगोस्लाविया ने यह नीति अपनाई। फिर हंगरी, रोमानिया, रूस वगैरह ने। लेकिन इस सबका परिणाम यह हुआ कि वे विदेशी पूँजी के प्रभाव में आते चले गये। सिर्फ क्यूबा और उत्तरी कोरिया ऐसे देश हैं, जिन्होंने विदेशी पूँजी को आमंत्रित नहीं किया। तो जब तक विदेशी पूँजी के प्रभाव से आप नहीं बचेंगे, आप उन विकृतियों से बच नहीं सकते जो धीरे-धीरे आपको खोखला कर देती हैं।

प्रश्न: तो आप इसे मार्क्सवादी पद्धति का आंतरिक दोष कहेंगे या यह कि उसे लागू करने का ढंग ही गलत है ?

उत्तर: नहीं, मार्क्सवादी विचार पद्धति का दोष नहीं है। यह तो इस पर निर्भर करता है कि आप उसे लागू कैसे करते हैं। मार्क्स तो कहते हैं कि दुनिया के मजदूरों एक हो। तो चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और बंगाल की कम्युनिस्ट पार्टी मिलकर अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध की घोषणा क्यों नहीं करती ? १९४५ से पहले ऐसा नहीं था। तब दुनिया के सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ साम्राज्यवाद के खिलाफ एकजुट थीं। फिर चाहे वह वियतनाम का मुद्दा हो या कोई और। लेकिन अब ऐसा नहीं है। अब तो ऐसा लगता है कि दुनिया के सब देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपने-अपने घरोंदों में सिमट गई हैं। अच्छा, तो अब हालत यह है कि पूँजीवाद तो संगठित है, लेकिन उनसे लड़ने वाली कम्युनिस्ट पार्टियाँ बुरी तरह बिखरी हुई हैं। तो उनकी सफलता की उम्मीद कैसे की जा सकती है ? जापान, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, कनाडा, अमरीका— ये सभी धनी देश हैं, उनकी तुलना में तो जापान कहीं आगे है। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष अमरीका के पास है। दुनिया में दादागीरी अमरीका की चल रही है और वह अपने को इस बात का हकदार भी मानने लगा है कि कहीं कुछ गड़बड़ हुई, तो हम जाएँगे, अपना प्रतिनिधि भेजेंगे और सब ठीक-ठाक करेंगे। यहाँ तक कि कश्मीर के मसले पर पाकिस्तान ने तो उसे आमंत्रित ही कर दिया कि आइए श्रीमान, आइए और दखलंदाजी कीजिए। तो इन लोगों की दादागीरी क्यों और कैसे चल रही है, यह देखना चाहिए और कम्युनिस्ट पार्टियों को अपनी भूमिका के बारे में फिर से विचार करना चाहिए।

प्रश्न: भारत की कम्युनिस्ट पार्टियाँ अगर हिंदीभाषी क्षेत्र में अपनी जड़ नहीं जमा सकीं, तो क्या इसका एक बड़ा कारण यह नहीं कि उसकी भाषानीति दोषपूर्ण थी ? हिंदी को उन्होंने कभी वाजिब सम्मान दिया ही नहीं। इसी तरह क्या आपको नहीं लगता कि प्रगतिशील चिंतकों ने भाषा और संस्कृति के कुछ जरूरी सवालों की उपेक्षा की और इससे काफी नुकसान हुआ ?

उत्तर: देखिए, कम्युनिस्ट पार्टी तो अखिल भारतीय संगठन है। यानी वहाँ सभी राज्य इकाइयों को स्वतंत्रता है कि वे अपने प्रदेश में भाषा, संस्कृति और दूसरी तरह के

विकास के लिए जो भी जरूरी समझें, वह करें। वहाँ भारतीय भाषाओं के विकास की संभावना नहीं है या उनमें काम नहीं होता, ऐसा तो नहीं है। बंगाल में वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी का जो दैनिक पत्र है, वह प्रभाव और प्रचार संख्या की दृष्टि से किसी भी पूँजीवादी पत्र से कमतर नहीं है। वहाँ भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में काफी काम हुआ है। लेख और किताबें लिखी गईं और सांस्कृतिक चिंतन-मनन की पूरी परंपरा है वहाँ। ऐसे ही नंबूदरीपाद ने मलयालम की लोक संस्कृति को लेकर ऐसे बहुत-से बौद्धिक लेख लिखे और वहाँ साहित्यिक और राजनीतिक कार्यकर्ताओं या नेताओं के बीच कोई ऐसी दूरी नहीं है। जो कम्युनिस्ट नेता हैं, वे अपने यहाँ के साहित्य से खूब अच्छी तरह परिचित हैं। लेकिन जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है, आप ठीक कहते हैं, हमारे यहाँ भाषा और संस्कृति के प्रश्नों की निरंतर उपेक्षा हुई। लेकिन इसका कारण कम्युनिस्ट पार्टी की नीति नहीं, बल्कि यह है कि हिंदी वालों में जातीय स्वाभिमान या जातीय चेतना नहीं है।

प्रश्न: लेकिन डॉक्टर साहब, ऐसा भी तो नहीं हुआ कि कम्युनिस्ट पार्टी ने केंद्र में यानी संपर्क भाषा के रूप में हिंदी को रखा हो। वे तो अंग्रेजी में ही काम चलाने के ज्यादा पक्षधर लगते हैं, जिससे उनके ख्याल से अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान की खिड़कियाँ खुलती हैं?

उत्तर: हाँ, संपर्क भाषा के रूप में हिंदी को न अपनाया जाना एक दोष है और मैं इसके लिए लगातार लड़ता रहा। कम्युनिस्ट पार्टी के ही मुखपत्रों जनशक्ति और कम्युनिस्ट में मैंने कम्युनिस्ट पार्टी की भाषानीति के विरोध में लेख लिखा था। मेरा कहना था कि हमें जल्दी से जल्दी यह तय कर लेना चाहिए कि कब हम हिंदी में अपना सारा कामकाज करेंगे। इसके बगैर इस देश की दशा सुधर नहीं सकती। कम्युनिस्ट पार्टी का उद्देश्य तो सब मजदूरों को इकट्ठा करना है, ताकि वे एक आंदोलन के लिए तैयार हो सकें। देखना यह चाहिए कि मजदूर कौन-सी भाषा समझते हैं? वे अंग्रेजी समझें हैं या हिंदी? सच तो यह है कि हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जिसे सभी थोड़ा-बहुत जानते हैं और जिसके सहारे भारत के सब मजदूरों को इकट्ठा किया जा सकता है।

प्रश्न: आपने राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और यशपाल की जो तीखी आलोचनाएँ कीं, वे पर्याप्त चर्चा

में रही हैं। पर क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि एक ओर उन्हें पूँजीवादी हमलों का शिकार होना पड़ा तो दूसरी ओर प्रगतिशील खेमे से भी उनपर अस्त्र छोड़े गये? थोड़े मतभेदों के बावजूद अपने सहयात्री लेखकों के साथ ऐसा किया जाना क्या उचित था? और कुल मिलाकर क्या इससे पूँजीवादी मनोरथ ही पूरे नहीं होते?

उत्तर: असल में राहुल का विरोध मैंने इसलिए किया कि वे 'रेस कांशियस' बहुत थे और एक तरह से वहीं बातें कह रहे थे जो ज्यादातर पूँजीवादी चिंतक कहते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता के बारे में उनका वही विचार था तो साम्राज्यवादियों का था। यानी वे कहते थे, आर्य बाहर से आए थे और उन्होंने सिंधु घाटी सभ्यता को नष्ट किया तथा द्रविड़ों का नाश किया तो यह 'नस्लवाद' राहुल में बहुत निखरे हुए रूप में मिलता है, जबकि रांगेय राघव में यह थोड़े दबे हुए रूप में है और वे भी जब-जब द्रविड़ रक्त की बात करते हैं। मोहनजोदड़ो की खुदाई पर उनका एक उपन्यास है, 'मुर्दा का टीला' जिसमें कुल मिलाकर यही है कि आर्य बाहर से आए थे और उन्होंने सिंधु घाटी सभ्यता का विनाश किया। ये चूँकि पूँजीवादी चिंतकों से प्रेरित विचार थे, इसलिए मुझे इनका विरोध करना जरूरी लगा। मुझे लगा, इन्होंने गलत निष्कर्ष निकाले हैं तथा साम्राज्यवादी दुष्टचार के प्रभाव में आ गए हैं। फिर इनके लेखन और मेरे लेखन में एक फर्क यह है कि ये सिर्फ आलोचना करते हैं, कोई विकल्प नहीं सुझाते। जबकि मैं आलोचना ही नहीं करता, विकल्प भी सामने रखता हूँ।

यशपाल की आलोचना का कारण यह था कि वे मार्क्सवाद को लगभग वही समझते थे तो कुछ आजकल टीवी पर आ रहा है। वे मार्क्सवाद के बारे में लेनिन के समय के कुछ अराजकतावादी कम्युनिस्टों की एक उक्ति अकसर दोहराते थे कि स्त्री-पुरुष का संबंध ऐसा ही है, जैसे गिलास से पानी पीना। गिलास अगर साफ है, तो उसमें पानी कोई भी, कुछ फर्क नहीं पड़ता। उनके बहुत-से उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों में सेक्स बहुत नंगे रूप में है, जैसे यही मार्क्सवाद का आदर्श रूप हो। मैंने इस बात को पसंद नहीं किया और इसका तीव्रता से विरोध किया।

प्रश्न: हमारे देश में आम जनता या लोगों का एक बड़ा वर्ग है जो जाने-अनजाने धर्म और संस्कृति के

गहरे प्रभाव में है। ये प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के हैं। ऐसे में आम जनता के निकट जाने के लिए हमें थोड़ा लचीला रुख अपनाना चाहिए या मार्क्सवाद की जो थ्योरी है, 'धर्म अफीम है', वही आत्यंतिक रूप से आपको ठीक लगती है ?

उत्तर: देखिए, धर्म और संस्कृति दो अलग-अलग चीजें हैं, आप उन्हें मिला रहे हैं। संस्कृति तो एक सकारात्मक चीज है, क्योंकि संस्कृतिविहीन मनुष्य, मनुष्य ही नहीं है।

प्रश्न: लेकिन दिक्कत यह है कि आम लोगों के पास जब आप जाते हैं, तो उनमें धर्म और संस्कृति हमें अलग-अलग नहीं मिलतीं, एक-दूसरे में समाई हुई लगती हैं। राम उनके लिए धर्म का प्रतीक भी है, और संस्कृति का भी। ऐसे ही ईसा और मोहम्मद साहब के लिए भी शायद कह सकते हैं... !

उत्तर: मेरा यह कहना है कि धर्म के दो रूप हैं। एक तो कर्मकांड है, जिसमें घंटे-घड़ियाल खड़काना है। इसमें आरती-पूजा, पशु की बली जैसी बातें हैं। इनका हम विरोध करते हैं। लेकिन उसका जो यह पक्ष है कि सभी मनुष्य समान हैं या जो संस्कार देने वाले पक्ष हैं- नैतिक चेतना, उदारता और करुणा जिसे तुलसीदास ने 'राचरितमानस' में दर्शाया, उसमें मुझे कोई बुराई नहीं लगती। ऐसे ही सूर का 'सूरसागर' या कबीर के पद हैं। पूरे भक्ति आंदोलन की जो चेतना है, उसे प्रगतिशील ही मानना चाहिए। फिर एक बात और है। अगर कोई पूजा-उपासना में लगा हुआ है, तो यह उसका एक पक्ष है। मार्क्स ने यह कभी नहीं कहा कि हम केवल नास्तिक मजदूरों का ही संगठन करेंगे। उसने तो यही कहा कि मजदूरों को संगठित करो। उसमें ईश्वर को न मानने वाले भी होंगे और पूजा-पाठ वाले भी हो सकते हैं। अनेक पूजा-पद्धतियों और मत-मतांतरों के लोग भी हो सकते हैं। फिर एक बात और भी है। 'संघर्ष करो, क्योंकि संघर्ष से दुनिया बेहतर बनती है' यह बात किसी को आप एक वाक्य बोलकर नहीं समझा सकते। आदमी अपने जीवन के अनुभव से जो सीखता है, उसी पर यकीन करता है। इसलिए पहली बात तो यही है कि लोग आंदोलन से जुड़ें। उनमें अगर थोड़े-बहुत अंधविश्वास भी हैं, तो वे धीरे-धीरे खत्म हो जाएंगे।

प्रश्न: डॉक्टर साहब, आपने एक हिंदू परिवार में जन्म लिया, यह बात आपके जीवन और विचार-पद्धति को एक खास ढंग का बनाने के लिए अर्थपूर्ण है या नहीं ? आप क्या सोचते हैं ?

उत्तर: यह तो उसी ढंग की बात है, जैसे अंग्रेज कभी हिंदू, मुसलमान- इस ढंग से बाँट के सोचते थे। जबकि हमारा जीवन या विचार पद्धति इससे निर्धारित नहीं होती। उदाहरण के लिए एक हिंदू या मुसलमान जो फौज में है, उसका रहन-सहन या जीने का ढंग किसी हिंदू या मुसलमान जैसा नहीं, बल्कि फौज में रहने वाले आदमी जैसा होता है। जैसा वहाँ का अनुशासन है, वैसे सबको रहना पड़ेगा। ऐसे ही आजाद हिंदी फौज में हजारों हिंदू-मुसलमान थे, जो एक साथ बैठकर खाते-पीते थे और उनमें कोई छुआछूत या भेदभाव नहीं था। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी ने एक बहुत बड़ा आंदोलन चलाया था, जिसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई सब साथ थे। ऐसे ही मेरे बाबा और पिता फौज में थे तो इस कारण हमारे परिवार में एक खास तरह की चेतना आई। हिंदू होने से कोई फर्क पड़ा हो, ऐसा मुझे नहीं लगता।

प्रश्न: अभी हाल में धर्मवीर भारती के इंटरव्यूज की एक किताब आई है। उन्होंने अपने एक इंटरव्यू में कहा है कि वे इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ के संयोजक थे, लेकिन वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में हुई एक काव्य-गोष्ठी में उन्होंने सुभाषचंद्र बोस पर एक कविता पढ़ी, जिसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें उनके पद से हटा दिया गया। क्या कम्युनिस्ट पार्टी में कभी सुभाषचंद्र बोस को लेकर इस हद तक पूर्वाग्रह थे ? और प्रगतिशील लेखक संघ भी उससे अछूता नहीं रहा था ?

उत्तर: देखिए, कम्युनिस्ट पार्टी में इन चीजों को लेकर बहस चली थी। किसी भी संगठन में कट्टर रवैया रखने वाले लोग भी होते हैं और लचीले ढंग से सोचने वाले भी। पार्टी में कई बार कुछ नए लोग आ जाते हैं, जिनको कोई खास ट्रेनिंग नहीं मिली होती और उनका अध्ययन भी ज्यादा नहीं होता। तो कई बार इस तरह के गलत फैसले और ज्यादतियाँ भी उनसे हो जाती हैं। पर इस कारण पूरे

संगठन को दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए। और जहाँ तक धर्मवीर भारती का सवाल है, भाषा-समस्या पर लिखे गए मेरे अधिकतर लेख उन्होंने 'धर्मयुग' में छापे थे। वे अपनी मृत्यु से कुछ ही समय पहले मेरे घर आए। 'व्यास सम्मान' ग्रहण करने के बाद वे यहाँ मुझसे मिलने आए थे और जहाँ आप बैठे हैं, वहीं बैठे थे। उन्होंने यह बात कही थी कि मुझसे जो लोग मिलने आते हैं, उनमें अस्सी प्रतिशत लोग ऐसे होते हैं, जिन्होंने भाषा-संबंधी आपके विचारों को पढ़ा है और उन्हें पसंद करते हैं- या जो मार्क्सवाद के बारे में आपकी व्याख्याओं से सहमत हैं।

प्रश्न: इस उम्र में भी आप इतना काम कर लेते हैं, यह देखकर कभी-कभी ताजुब्ब होता है! आपका काम करने का ढंग क्या है तथा आपकी दिनचर्या क्या है?

उत्तर: मैं सुबह पाँच बजे उठ जाता हूँ और उसके बाद हल्का व्यायाम करता हूँ। नाश्ते में फलों का रस, पनीर वगैरह लेकर सात बजे से काम करने बैठ जाता हूँ। ११ बजे फिर मैं नाश्ता लेता हूँ और ११.३० से २.०० तक काम करता हूँ। उसके बाद नहा-धोकर भोजन करके सो जाता हूँ। शाम के पाँच बजे के करीब नौद खुलती है। लेकिन मैं उठता नहीं हूँ, पड़ा रहता हूँ और करीब छह बजे उठता हूँ। इसीलिए आपको छह बजे का समय दिया था। (हँसते हैं)

प्रश्न: और जिस दिन मेरे जैसा कोई आगंतुक आपसे मिलने नहीं आता, तब... ?

उत्तर: तब मैं टी.वी. देखता हूँ और उसमें खासकर जो राजनीतिक बहसें होती हैं, उन्हें रुचि के साथ सुनता हूँ। या फिर शास्त्रीय संगीत सुनना मेरा शौक है, पर उसे मैं ज्यादातर अपने ट्रांजिस्टर से ही सुनता हूँ। कब, कहाँ से कर्नाटक संगीत सुना जा सकता है, कब कहाँ से हिंदुस्तानी संगीत, इसका मुझे आइडिया है। कभी-कभी यूरोपीयन क्लासिकल संगीत भी सुनता हूँ। मेरे पास अपनी बहुत-सी कैसेट्स भी हैं। कर्नाटक संगीत की बहुत-सी कैसेट्स मेरे पास हैं, यूरोपीय संगीत की भी है। फुर्सत में इन्हें सुनना मुझे अच्छा लगता है।

प्रश्न: पर...यह तो आपने बताया ही नहीं आपके काम करने का ढंग क्या है? कोई पुस्तक या लेख लिख रहे होते हैं, तो आपको क्या कुछ करना पड़ता है?

उत्तर: काफी समय तो मेरा अध्ययन और नोट्स लेने में जाता है। मान लीजिए, कालिदास पर मुझे लिखना है तो मैं सबसे पहले तो अध्ययन करने के बाद नोट्स लिख लेता हूँ कि कालिदास के काव्य पर तत्कालीन मूर्तिकला का प्रभाव या इस तरह की और भी चीजें और फिर बोलता हूँ। पिछले सात-आठ सालों से मेरा जो कुछ भी छपा है, वह लिखा हुआ नहीं, बोला हुआ है।

प्रश्न: तो क्या कुछ फर्क पड़ता है लिखने और बोलने में?

उत्तर: हाँ, कुछ फर्क तो पड़ता ही है। पर वह फर्क भी अच्छे के लिए ही है। इसलिए कि जब लिखना होता था, तो मैं कुछ सूत्रों को लिखकर छोड़ देता था और आगे बढ़ जाता था कि कौन इन सबकी व्याख्या करे। जिसे समझना होगा, समझ लेगा। पर अब जब बोलता हूँ तो हर चीज को पूरे विस्तार से समझाकर कहने का मौका मिल जाता है।

प्रश्न: कुल मिलाकर दिन में कितने घंटे काम करते हैं?

उत्तर: लगभग छह घंटे।

प्रश्न: और उसमें बोलना कितनी देर का चलता है?

उत्तर: दो घंटे से ज्यादा नहीं बोल पाता। इसके बाद मैं थकने लगता हूँ।

प्रश्न: अच्छा डॉक्टर साहब, साहित्य के अलावा किन चीजों में आपकी ज्यादा रुचि है। बताएँगे?

उत्तर: एक तो संगीत, खासकर शास्त्रीय संगीत। इसके बारे में मैं आपको पहले बता ही चुका हूँ। फिर मेरा दूसरा शौक है- क्रिकेट का मैच, जिसकी कमेंट्री सुनना मुझे बहुत अच्छा लगता है और उसे मैं किसी भी हालत में नहीं छोड़ता। बल्कि उस हालत में मैं अपना सारा काम छोड़ देता हूँ और उसे बाकी के किसी समय में पूरा करता हूँ। अब कल बारह बजे दक्षिण अफ्रीका और इंडिया का मैच शुरू होगा तो बारह बजे मैं काम छोड़ दूँगा। हालाँकि सुबह से बारह बजे तक भी काफी काम हो जाता है। जो दो घंटे का काम छूट गया, उसे किसी और समय पूरा करने की कोशिश करता हूँ।

प्रश्न: क्या क्रिकेट का यह नशा शुरू से है या इन दिनों से कुछ अधिक बढ़ा है?

उत्तर: नहीं, शुरू से ही है। पहले मैं हॉकी खेला करता था और हॉकी का बहुत अच्छा खिलाड़ी था। फिर क्रिकेट शुरू हुई। आगरा के आर.बी.एस. कॉलेज में, जहाँ मैं पढ़ाता था, हम लोग खूब क्रिकेट खेलते थे। बल्कि वहाँ अच्छा क्रिकेट खेलने वाले बहुत-से अध्यापक थे। एक बार यहाँ अध्यापकों और छात्रों की टीम के बीच फ्रेंडली मैच हुआ, तो आपको हैरानी होगी, अध्यापकों की टीम ने छात्रों को हरा दिया। (हँसते हैं)

प्रश्न: अच्छा डॉक्टर साहब, अपने वेश या पहनने ओढ़ने की रुचियों के बारे में कुछ बताइए।

उत्तर: आप देख ही रहे हैं, पैंट और लखनवी कुर्ता आधी बाँहों वाला— ज्यादातर मुझे यही पसंद है। ज्यादा गरमी हो तो कुर्ता भी उतार देता हूँ और बनियान-लुंगी में काम करता हूँ। कभी मच्छर काटते हैं तो पूरी बाहों वाला कुर्ता पहन लेता हूँ। अक्टूबर-नवंबर तक पैंट-कुर्ता ही चलता है। सर्दियों में पैंट-कमीज और स्वेटर। ऊपर से गरम चादर ओढ़ लेता हूँ और काम करने बैठ जाता हूँ।

प्रश्न: आपने पहली दफा पैंट, कोट और टाई कब पहनी ?

उत्तर: १९३८ में, जब मैं लखनऊ यूनिवर्सिटी में पढ़ाने लगा था। डॉक्टर सिद्धांत मेरे गाइड थे। उन्होंने कहा कि इस दिन से तुम्हें पढ़ाना है। इतना प्रभाव तो उन लोगों का होता ही था कि उनकी बात कोई काट नहीं पाता था। तो इस तरह मैं लखनऊ यूनिवर्सिटी में अस्थायी लेक्चरर हो गया। और फिर वहाँ की जो लेक्चरर की वेशभूषा थी, वही मुझे भी अपनानी पड़ी। आगरा में पढ़ाते समय भी यह चला, लेकिन रिटायर होने के बाद फिर कभी इसकी जरूरत महसूस नहीं हुई।

प्रश्न: अपने व्यक्तित्व के बारे में कुछ बताइए, आप अंतर्मुखी है या बहिर्मुखी।

उत्तर: दोनों...! जब इस दुनिया के बाहरी रूपों, गतिविधियों और बदलावों को देखना होता है कि कहाँ किस तरह का आंदोलन हो रहा है, लोगों की हालत क्या है, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में किस तरह के उतार-चढ़ाव आ रहे हैं, समाज में किस तरह की प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं तो मैं बहिर्मुखी होता हूँ। लेकिन जब मैं अपने काम में लगा होता

हूँ या अपने भीतर दर्शन, संस्कृति और भाषाविज्ञान के कुछ प्रश्नों को हल कर रहा होता हूँ। उदाहरण के लिए कलाओं के आपसी संबंध क्या हैं, साहित्य से कलाएँ किस रूप में जुड़ी हुई हैं या भिन्न हैं, इन सब प्रश्नों को सुलझाते समय मैं अंतर्मुखी हो जाता हूँ। यानी जब मैं राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करता हूँ तो मैं ज्यादातर बहिर्मुखी हो जाता हूँ।

प्रश्न: लेकिन दोनों प्रवृत्तियों में कौन सी चीज डॉमिनेट करती है।

उत्तर: (मुस्कुराते हुए) मैं समझता हूँ, मेरे भीतर इन दोनों का संतुलन है। कोई चीज कम या ज्यादा नहीं है।

प्रश्न: आपके बहुत से पाठकों का ख्याल है कि आपके भारी-भरकम आलोचक ने एक बड़ा अन्याय भी किया है। 'चार दिन' के बाद आपका कोई उपन्यास तो आया नहीं, बल्कि आपका कवि रूप भी दब गया ?

उत्तर: इसका कारण यह है कि आलोचना लिखने में मुझे जो मजा आता है, वह कविता लिखने में नहीं आता।

प्रश्न: क्या जिन दिनों कविताएँ ज्यादा लिखी गईं, उन दिनों भी नहीं आता था ?

उत्तर: नहीं, उन दिनों तो आता था, पर उन दिनों में ज्यादा आलोचना लिखता ही कहाँ था! पर अब तो आलोचना लिखने में जो मजा आता है, वह किसी और चीज में नहीं आता। तुलसीदास जी लिखते हैं कि उन्होंने 'स्वांतः सुखाय रघुनाथ गाथा' लिखी। उन्हें स्वांतः सुखाय रघुनाथा गाथा लिखने में जो आनंद आता था, वहीं मुझे स्वांतः सुखाय आलोचना लिखने में आता है। फिर एक बात और है। कविता केवल भावों और संवेदना की अभिव्यक्ति ही नहीं है, उसके साथ ज्ञान की भी आवश्यकता है। तुलसीदास जी ने जो रामचरितमानस लिखा, वह यों ही नहीं लिख गए। उन्हें अपने से पहले लिखे गए साहित्य, संस्कृति तथा कलाओं की बहुत गहरी जानकारी थी। फिर जैसी दरिद्रता उन्होंने देखी थी, वैसी दरिद्रता का अनुभव तो हिंदी के दस कवियों ने मिलकर नहीं किया। इस सबके कारण ही उनके भीतर एक व्यापक लोकभावना आई। इसी तरह सूरदास को ब्रज-संस्कृति की जितनी गहरी जानकारी थी या श्रीमद्भागवत के बारे में उनका जो अध्ययन था, उसी के कारण उनके काव्य में इतनी मार्मिकता और गहराई आई।

इसी कारण लोग भले ही कहते रहें कि कविता स्वतः प्रेरणा की वस्तु है, पर ऐसा नहीं है। उसके पीछे गहरा अध्ययन होना जरूरी है।

प्रश्न: कई बरस पहले मैंने आपसे पूछा था कि 'चार दिन' के बाद आपका अगला उपन्यास कब आ रहा है? और आपका जवाब था- 'प्रतीक्षा कीजिए।' आज अगर फिर से यही प्रश्न पूछू तो... ?

उत्तर: (हँसते हुए) तो फिर मेरा यही जवाब होगा- 'प्रतीक्षा कीजिए!'

प्रश्न: ईश्वर आपके लिए क्या है? क्या कभी निजी जीवन में दुख या आर्द्रता के क्षणों में आपको ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत महसूस हुई?

उत्तर: (मुस्काते हुए) आपने बिल्कुल वैसा ही सवाल किया, जैसा जैनैन्द्र ने कभी प्रेमचंद से पूछा था। प्रेमचंद उस समय मृत्यु-शैथ्या पर थे। जैनैन्द्र का प्रश्न सुनकर मुस्कुराए। बोले, 'अभी तक तो मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत महसूस नहीं हुई!' तो मेरा भी यही जवाब समझ लीजिए। (हँसी) वैसे आपको बताऊँ, भारतीय दर्शन की मुख्यधारा भौतिकवाद है। वेदांत के मुख्य रूप से दो भेद हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो मानते हैं कि ब्रह्म प्रकृति के भीतर है और दूसरी ओर वे लोग हैं जो मानते हैं कि ब्रह्म प्रकृति के बाहर है। तो वेदांत की यह जो व्याख्या है कि ब्रह्म प्रकृति के भीतर है, जिसे दयानंद भी मानते हैं, उससे मुझे परेशानी नहीं है। इसीलिए दयानंद का जो ईश्वर है, उससे मुझे परेशानी नहीं होती। इसलिए कि वह प्रकृति में ईश्वर की सत्ता मानते हैं।

प्रश्न: यानी रचनाकार अपनी रचना में समाया हुआ है, यही न?

उत्तर: हाँ, लेकिन ईश्वर यहाँ रचनाकार के रूप में नहीं, बल्कि वह प्रकृति की ही अपनी शक्ति है। अपने लेखन के प्रारंभिक दिनों में मैंने विवेकानंद के राजयोग का अनुवाद किया था। उसमें वे कहते हैं, 'मैं ब्रह्म की पूजा भला कैसे करूँ, जबकि मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ।' इसीलिए हमारे यहाँ कहा जाता है जो वेदांती है, वह आधा नास्तिक है। गाँधी वेदांत से प्रभावित थे। इसीलिए वे सभी धर्मों को एक नजर से देखते थे। वहाँ ब्राह्मण हो या हरिजन, कोई

छुआछूत नहीं था। यह समानता का भाव उनमें वेदांत से ही आया था, यही चीज निराला में भी थी।

प्रश्न: गाँधी जी के बारे में अक्सर दो विरोधी धारणाएँ पाई जाती हैं। कुछ लोग उन्हें स्वाधीनता आंदोलन का महानायक कहते हैं और कुछ लोग पूँजीपतियों का दलाल, पाखंडी वगैरह। गाँधी जी का आकलन आप किस रूप में करते हैं?

उत्तर: गाँधी जी ने अपने समय में साम्राज्यवाद का जो विश्लेषण किया था, उससे अच्छा साम्राज्यवाद का विश्लेषण शायद ही किसी ने किया हो। इसी तरह गाँधी जी का जो स्वदेशी आंदोलन था, वह इस साम्राज्यवाद के विरोध का सबसे कारगर तरीका था। गाँधीजी ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि विदेशी पूँजी की हमारे देश में खतरनाक भूमिका है। स्वदेशी आंदोलन के जरिए गाँव-गाँव में उन्होंने आजादी की लड़ाई को पहुँचा दिया था और लोगों में यह भावना पैदा की थी कि अपनी जरूरतों के लिए उत्पादन स्वयं करो, तभी साम्राज्यवाद से लड़ा जा सकता है। और तभी सच्ची आजादी प्राप्त हो सकती है। इस तरह साम्राज्यवाद की षड्यंत्रकारी भूमिका को उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था और सत्याग्रह के रूप में उसका जवाब भी खोज दिया था।

फिर उनकी एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने विभिन्न धर्मों को एक साथ लाकर दिखा दिया। उन्होंने कहा कि हिंदू और मुसलमान अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि गुजराती बोलने वाले हिंदू हो या मुसलमान हों, वे एक जाति हैं। इसी तरह बंगाली एक जाति है। यह सोच का एक सही तरीका था। इसी तरह उनका कहना था कि अंग्रेजी नहीं, बल्कि उसकी जगह भारतीय भाषाओं को लाओ। संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के महत्त्व को उन्होंने तभी जान लिया था और उसके कारण ही इतना बड़ा काम कर दिखाया। इसके अलावा धार्मिक अंधविश्वासों को खत्म करने में उन्होंने इतना बड़ा काम किया, जैसा पहले कभी दयानंद ने किया था। कोई ऐसा तीर्थस्थान नहीं है, जहाँ वे गए हों और वहाँ की गंदगी और लोगों की बदहाली के बारे में उन्होंने न लिखा हो। चाहे प्रयाग हो या जगन्नाथपुरी, उन्होंने हर जगह धार्मिक पाखंडों के खिलाफ लिखा।

ऐसे ही इतिहास का ज्ञान उन्हें इतना अधिक था कि नेहरू, तिलक और अंबेडकर के बाद इतिहास की ऐसी समझ और जानकारी किसी को नहीं थी। इतिहास के बारे में वे इस तरह बात करते थे, जैसे पूरा इतिहास उनकी जुबान पर हो। दक्षिण अफ्रीका में काम करने के लिए वे गए, तो वहाँ के गिरमिटियों के हालात और दक्षिण अफ्रीका के इतिहास पर उन्होंने इतने अच्छे ढंग से लिखा कि वह इतिहास की एक श्रेष्ठ पुस्तक है। दक्षिण अफ्रीका के बारे में ऐसी आधिकारिक जानकारी देने वाली कोई दूसरी पुस्तक शायद ही हो। यही नहीं, बल्कि प्राचीन ग्रंथों का उनका अध्ययन भी विलक्षण है। दक्षिण अफ्रीका में जब अश्वेतों को इस आधार पर वोट न देने की बात की जा रही थी कि ये अशिक्षित हैं। तब उन्होंने कहा कि लोकतंत्र का तो जन्म ही हमारे यहाँ हुआ है। और इस संदर्भ में उन्होंने पाणिनी के व्याकरणशास्त्र का उल्लेख किया था।

हालाँकि गाँधीजी के व्यक्तित्व का एक नकारात्मक पक्ष यह है कि १९४६ में जब हमारे यहाँ क्रांतिकारी उभार था, एक ओर नाविक विद्रोह की खबरें थीं, दूसरी ओर जनता का गुस्सा भी भड़का हुआ था, तब गाँधी जी ने अंग्रेजों का विरोध करने की बजाय यह कहा कि अंग्रेज तो अब जाने ही वाले हैं, उन्होंने जो संविधान सभा गठित की है, उसमें सहयोग करो तथा उनका विश्वास करो। उस समय अरुणा आसिफ अली ने इस बात का विरोध किया था, जयप्रकाश नारायण ने विरोध किया था। लेकिन गाँधी जी आंदोलन करने के लिए तैयार नहीं हुए। लिहाजा अंग्रेजों ने अपनी चाल चल दी और देश का विभाजन होकर रहा। यहाँ सवाल हिंसा और अहिंसा का नहीं था, सवाल अंग्रेजों का साथ देने और न देने का था और गाँधी जी यहाँ चूक गए।

वैसे एक बात यहाँ जानना जरूरी है कि गाँधीजी की जिस सत्य और अहिंसा की बात की जाती है, उसका विचार उन्होंने भारतीय दर्शन से नहीं लिया था। बाद भारतीय दर्शन पढ़ने के बाद उनका यह विचार और पुख्ता हुआ, यह बात अलग है। शुरू में तीन विदेशी विद्वानों का प्रभाव उन पर ज्यादा था— टॉलस्टॉय, रस्किन और हेनरीमैन। टॉलस्टॉय से उन्होंने अहिंसा का सिद्धांत लिया। रस्किन से 'ट्रस्टी' शब्द लेकर ट्रस्टीशिप की अपनी अवधारणा पेश

की तथा हेनरीमैन से उन्होंने यह विचार लिया कि भारत ग्राम्य समाजों का देश है और बड़े उद्योगों से नहीं, बल्कि घर-घर चरखा चलाए जाने से वह ज्यादा समृद्ध हो सकता है। और इस चर्खे को गाँधी जी ने आजादी की लड़ाई का एक प्रतीक चिह्न ही बना दिया।

प्रश्न: आपने कहा कि गाँधीजी पाखंड और अंधविश्वासों के खिलाफ थे। पर गाँधीजी को पाखंडी और अंधविश्वासी कहने वाले लोगों की भी कमी नहीं है। इसके अनेक उदाहरण हैं। कहीं भूकंप आया तो उन्होंने कहा कि ईश्वर ने अन्यायियों को सजा दी है...

उत्तर: गाँधी जी में बहुत थोड़ा अंधविश्वास कहीं-कहीं मिलता है, लेकिन उन्होंने अंधविश्वासों से लड़ने और उन्हें दूर करने के लिए इतना बड़ा काम किया कि उसकी तुलना में यह बहुत थोड़ा है। यह गाँधीजी ही थे, जिन्होंने कहा कि मेरा राम दशरथ का पुत्र नहीं, बल्कि वह एक व्यापक शक्ति है। इसी तरह विज्ञान की उनकी जानकारी अपार थी। तर्कशास्त्र के तो वे पंडित ही थे। द्वंद्ववाद या डायलेक्टिक्स की उनको जानकारी थी और तर्क में वे इसका इस्तेमाल करते थे। इसी तरह जैन धर्म के 'अनेकांतवाद' का उन्होंने सभी धर्मों को एक जगह लाने में इस्तेमाल किया।

प्रश्न: अच्छा, अब थोड़ा-सा विषय बदलें। कृपया बताएँ, आपके जीवन के सबसे ज्यादा खुशी के क्षण कौन-से थे और दुख-अवसाद के क्षण कौन-से थे ?

उत्तर: खुशी के दिन तो वे थे जब हम निराला जी के साथ रहते थे। पढ़ाई के बाद आगे नौकरी मिलेगी या नहीं, भविष्य में क्या होगा, क्या नहीं, हम सबकी कोई चिंता नहीं थी। बस, सारा समय या तो कविता लिखते या सोचते थे। और उनके साथ रहना बहुत अच्छा लगता था। मेरे जीवन के सबसे दुख के दिन वे थे, जब मेरी पत्नी बीमार थी। १९७० के आसपास वे बीमार पड़ी और ८३ में उनका देहांत हुआ। यह समय मेरे जीवन का दुख भरा समय रहा। हालाँकि नितांत दुख का ही हो, ऐसा नहीं है। इसलिए मैं इन दिनों भाषाविज्ञान पर काम कर रहा था। जब कोई नई चीज मिल जाती, तो बहुत खुशी होती थी।

प्रश्न: आपकी सबसे बड़ी शक्ति क्या है और सबसे बड़ी कमजोरी क्या है ?

उत्तर: मेरी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि मैं मनुष्य पर बहुत जल्दी विश्वास कर लेता हूँ और बाद में पछताता हूँ। अगर किसी काम के लिए कोई मुझसे कहता है, तो न करने की हिम्मत मुझमें नहीं होती और मैं कहता हूँ— ठीक है, ऐसा ही हो जाएगा। लेकिन इस तरह विश्वास करने के बाद कई बार धोखा भी खाता हूँ और परेशान होता हूँ। अब मैं पहले की तुलना में काफी सावधान हो गया हूँ। लेकिन तो भी यह अभी भी मेरी एक बड़ी कमजोरी है। दूसरी मेरी कमजोरी यह है कि मैं अपने मन के भाव को छिपा नहीं पाता। अगर किसी पर क्रोध आता है कह देता हूँ। जबकि सभ्यता का तकाजा तो यह है कि किसी पर क्रोध आए तो भीतर रखो, उससे कहो नहीं। पर मैं खट से कह देता हूँ। और इस लिहाज से मैं असभ्य व्यवहार कर जाता हूँ। तो यह भी मेरी एक बड़ी कमजोरी है। एक लेखक मुझे अपनी एक पुस्तक देने के लिए आया। मैंने कहा, 'क्यों दे रहे हो, मैं तो इसे पढ़ूँगा नहीं।' वह बुरा मान गया। तो इस तरह के व्यवहार को मैं अपनी कमजोरी मानता हूँ।

और आपने जो शक्ति के बारे पूछा है तो मेरी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि मैं किसी की परवाह नहीं करता। जो मुझे ठीक लगता है, वह लिखता या कहता हूँ। लोगों से भी मैं यही कहता हूँ कि अपने प्रति निष्ठावान रहो। अपने साथ बेईमानी मत करो। तुम्हें जो ठीक लगता है, वही कहो और बाकी किसी की परवाह मत करो।

प्रश्न: अब यह भी बता दीजिए कि आपकी यह जो शक्ति है, इसका उत्स कहाँ है? यानी कहाँ से आपमें यह प्रवृत्ति आई?

उत्तर: यह मैं समझता हूँ, मेरा पैतृक गुण है। मेरे बाबा फौज में थे और एक दिन अपने अफसर से झगड़ करके नौकरी छोड़कर आ गए। ऐसे ही मेरे दउआ (पिता) भी कुछ समय फौज में रहे और छोड़कर आ गए। जीवन में उन्होंने कितनी ही नौकरियाँ की और छोड़ दीं। किसी जरा-सी बात पर अपने अफसर या मालिक से झगड़ा होता था, तो झट से इस्तीफा देकर चले आते थे। किसी की गुलामी करना उन्हें पसंद नहीं था और स्वाभिमान से जीने को ही वह बड़ी चीज मानते थे। उनका यही गुण मुझमें भी आया है।

प्रश्न: अच्छा, डॉक्टर साहब, आपके जीवन का सबसे बड़ा पछतावा क्या है?

उत्तर: कोई नहीं। मैंने जीवन में कभी कोई ऐसा काम नहीं किया, जिसका बाद में चलकर मुझे पछतावा हुआ हो।

प्रश्न: आपके सबसे प्रिय शहर कौन से हैं?

उत्तर: सबसे प्रिय शहर तो मुझे झाँसी ही लगता है। इसलिए नहीं कि वह शहर बहुत-सुंदर है बल्कि इसलिए कि मेरा लड़कपन वहाँ बीता तथा वहीं मेरी स्कूली पढ़ाई हुई। वहीं ज्यादातर दोस्त बने और वहीं ऐसे संस्कार मिले जिन्होंने आगे चलकर मेरे व्यक्तित्व का निर्माण किया।...तो शहर तो और भी हैं पर इन कारणों से मुझे झाँसी ही प्रिय लगता है। या फिर मुझे अपना गाँव याद आता है। खासकर वहाँ का मुक्त जीवन, खेत और वनस्पतियाँ। मेरे व्यक्तित्व पर मेरे गाँव का बहुत असर पड़ा और वह मुझमें अब भी रचा-बसा है।

प्रश्न: आपके सर्वाधिक प्रिय मित्र कौन-से हैं?

उत्तर: अमृतलाल नागर और केदारनाथ अग्रवाल। इनमें अमृतलाल नागर तो अब नहीं रहे। केदारनाथ अग्रवाल अभी हैं। इनके साथ पचास बरस से अधिक लंबा हमारा संबंध है।

प्रश्न: आपके प्रिय लेखक कौन-से हैं, जिनका आप पर किसी-न-किसी रूप में प्रभाव पड़ा?

उत्तर: पुराने लेखकों में तुलसीदास और आधुनिक लेखकों में निराला।

प्रश्न: आपके विचार से इस सदी के सबसे बड़ी कवि, कहानीकार और उपन्यासकार कौन हैं?

उत्तर: इस सदी के सबसे बड़े कवि तो निराला हैं। उसके बाद प्रसाद, पंत, केदारनाथ अग्रवाल तथा त्रिलोचन शास्त्री। कहानीकारों में मैंने प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ी हैं। इसके बाद अमृतलाल नागर और यशपाल। लेकिन चूँकि कहानियाँ मैंने ज्यादा नहीं पढ़ी, इसलिए आपके सवाल का जवाब नहीं दे पाऊँगा। प्रेमचंद के उपन्यास मुझे उनकी कहानियों की तुलना में ज्यादा प्रिय हैं। वे कहानीकार की तुलना में उपन्यासकार कहीं ज्यादा बड़े हैं। वैसे ही जैसे टॉलस्टॉय ने कहानियाँ लिखी हैं पर उनका उपन्यासकार रूप ज्यादा बड़ा है। हेमिंग्वे ने भी कहानियाँ लिखी हैं पर

उन्हें जाना उनके उपन्यासों से ही जाता है। यों भी शैली और चित्रण की जितनी विविधता उपन्यास में संभव है, वैसी कहानी में नहीं। फिर प्रेमचंद जैसा उपन्यासकार तो परिवार के भीतर घुसकर उस संघर्ष के भीतर और बाहर के सभी रूप दर्शाता है। कहानी में यह संभव नहीं है। शायद इसीलिए मेरी रुचि कहानी की बजाय उपन्यास में ज्यादा है।

प्रश्न: तब उपन्यासकारों के बारे में ही बताइए। आपके विचार से सदी के सबसे बड़े उपन्यासकार... ?

उत्तर: इस सदी के उपन्यासकारों में पहले नंबर पर प्रेमचंद ही आते हैं। इसके बाद अमृतलाल नागर और इसके आगे मेरी गिनती में कोई नहीं है। (हँसते हैं)

प्रश्न: क्यों? यशपाल के 'झूठा-सच' की तो आपने बहुत-प्रशंसा की है!...

उत्तर: हाँ, लेकिन कुल मिलाकर उनका कोई उपन्यासकार रूप नहीं बन पाता। इस लिहाज से तो उग्र के कुछ उपन्यास अच्छे हैं। खासकर अछूतों पर लिखा गया 'बुधुआ की बेटी' उनका अच्छा उपन्यास है।

प्रश्न: आपकी नजर में इस सदी के सबसे बड़े आलोचक ?

उत्तर: हिंदी में जितने भी अच्छे कवि हुए हैं, वे सब अच्छे आलोचक भी थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी कविताएँ लिखते थे, लेकिन आलोचना लिखने लगे तो उनका कवि रूप पीछे छूट गया। ऐसे ही निराला और पंत के कुछ आलोचनात्मक निबंध बहुत अच्छे हैं। प्रसाद जी ने भी बहुत अच्छे आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं, जिनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि बहुत पुष्ट है। 'छायावाद और रहस्यवाद' पर लिखा गया उनका एक निबंध तो बहुत अच्छा है, जिसमें उन्होंने वेद के उदाहरण देते हुए कहा है कि भारतीय दर्शन की मुख्यधारा आनंदवाद है। यहाँ वेदों की उनकी जो व्याख्या है, उससे मैं काफी हद तक तक सहमत हूँ। इसके अलावा रामचंद्र शुक्ल तो हैं ही। वे हिंदी के एक बड़े आलोचक हैं।

प्रश्न: आपने जब साहित्य लिखना शुरू किया था, तब के साहित्यिक माहौल और आज के साहित्यिक माहौल में सबसे बड़ा अंतर आपको क्या लगता है ?

उत्तर: इधर जो साहित्य जगत की स्थितियाँ हैं, उनके बारे में तो मुझे कुछ ज्यादा नहीं पता। इसलिए कि मैं उनसे ज्यादा जुड़ा हुआ नहीं हूँ। कभी कोई लेखक मिलने आ जाता है, तो उसी से सुनकर थोड़ा बहुत अनुमान लगा लेता हूँ। इसलिए इस बारे में कुछ ठीक से कह पाना मुश्किल है।

प्रश्न: आज के समय में लेखक लगातार हाशिए पर आता जा रहा है। लगता है, सामाजिक परिवर्तनों में उसकी कोई भूमिका नहीं रह गई और उसकी लगातार सिकुड़ती जा रही है। ये स्थितियाँ कैसे बदल सकती हैं और हमारे समाज में लेखक या बुद्धिजीवी की एक बेहतर भूमिका क्या हो सकती है ?

उत्तर: लेखक या बुद्धिजीवी की समाज में दो तरह की भूमिकाएँ हो सकती हैं— एक तो तात्कालिक भूमिका है, उसमें राजनीति को तात्कालिक, दूसरी दूरगामी। जो तात्कालिक भूमिका है, उसमें राजनीति को तात्कालिक रूप से प्रभावित करने वाली कविताएँ नाटक लिखना, जनता को जाग्रत और आंदोलित करना, गलत बातों पर अपना विरोध दर्ज कराना शामिल है। कुछ और नहीं तो पीठ पर पोस्टर बाँधकर ही निकल जाइए, ताकि कम से कम लोगों का ध्यान तो जाए कि समाज में क्या गलत हो रहा है और दूर करने का रास्ता या विकल्प क्या है। इसी तरह अलग-अलग ढंग का काम करने वालों के, मजदूरों के संगठन बन सकते हैं और उनके जरिए राजनीति में दखल दिया जा सकता है। किसी लेखक या बुद्धिजीवी की यह जो तात्कालिक भूमिका है, इसे भी खारिज नहीं किया जा सकता और उसे लेखन-कर्म या साहित्य-सृजन के साथ ही यह काम भी करना चाहिए।

अब रही दूरगामी प्रभाव वाली भूमिका। तो एक अच्छे लेखक को आलोचना, दर्शन, कविता, कहानी, उपन्यास जैसी विधाओं में इस तरह की क्लासिकल महत्व वाली रचनाएँ देनी चाहिए, जो आगे चलकर पूरे युग को प्रभावित करें। किसी अच्छी कविता या कहानी का जो प्रभाव होता, वह किसी लंबे लेख या आलोचना की किताब से संभव नहीं है। इसलिए कि कविता-कहानी का मनुष्य के हृदय पर संवेदनात्मक प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति स्वयं ही उनके साथ बहा चला आता है। इसीलिए यह प्रभाव चिरस्थायी

भी होता है। यही बात कलाओं को लेकर भी है। मुझे दुख इस बात का है कि हमारी जो नौजवान पीढ़ी है, उसमें कलाओं के प्रति ज्यादा आकर्षण नहीं रहा और कलाओं का जैसा विकास होना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। ले-देकर भरतनाट्यम और कथक, ओडिसी जैसे कुछ शास्त्रीय नृत्य ही हैं, जिनकी ओर लोगों का थोड़ा-सा आकर्षण बचा है। वह भी इसलिए कि इन्हें विदेशों से मान्यता मिल जाती है। दूरदर्शन के आने से इसमें कोई विकास हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। यों दूरदर्शन का यह लाभ तो है कि उसमें आप बिस्मिल्लाह खां का शहनाईवादन सुन सकते हैं। लेकिन इसका विरोधी पक्ष भी है। दूरदर्शन ने रुचियों को इतना बिगाड़ दिया है कि नौजवानों को लगता है, क्या देर तक शहनाई सुनते रहो, इसकी बजाय कोई चटपटा सीरियल ही क्यों न देखें। तो नौजवानों की हमारी पीढ़ी तो पूरी तरह से भ्रष्ट हो चुकी है। उस पीढ़ी की तुलना में, जो कभी 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' जैसी पत्रिकाएँ पढ़कर या निराला, प्रसाद वगैरह की कविताएँ पढ़कर बनती थी, आज की पीढ़ी को देखें तो यह फर्क एकदम साफ समझ में आएगा कि आज की पीढ़ी में संस्कार नाम की चीज ही नहीं है।

प्रश्न: एक बड़े चिंतक और आलोचक के रूप में हमारे समाज में मौजूदा हालात और समय पर आपकी टिप्पणी!

उत्तर: दो मुख्य बातें हैं, जिन पर मैं जोर देता हूँ। एक तो यह कि विदेशी पूँजी का विरोध, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रभाव से देश को मुक्त करो। क्योंकि जब विदेशी पूँजी आती है, तो उसके कारण ऐसे प्रभाव भी आते हैं, जो देश को रूग्ण और खोखला कर देते हैं। देश ऋणग्रस्त हो रहा है। इसका परिणाम यह है कि लोग तो काम करते हैं, पर पैसा विदेशों में चला जाता है। फिर हमें उनकी अनुचित शर्तें माननी पड़ती हैं जिससे हमारे पूरे समाज और नैतिकता का ह्रास होता है। इसलिए पहली जरूरत यह है कि विदेशी पूँजी का विरोध किया जाए और हमें अपनी सरकार पर यह जोर देना चाहिए कि वह विदेशों से कर्ज न ले।

दूसरी बात मुझे यह कहनी है कि भारत में सही भाषानीति होनी चाहिए तथा अंग्रेजी की बजाय भारतीय भाषाओं को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। अलग-अलग राज्यों में बँटे हिंदी भाषियों का एक बृहद् हिंदी प्रदेश बनाया जाना चाहिए।

कोई भी देश या समाज अपनी भाषा को छोड़कर समृद्ध नहीं हो सकता और न विदेशी भाषा के जरिए वह विकास कर सकता है। हिंदी बोलने वालों की दुर्दशा और दरिद्रता का एक कारण यह है कि उनमें जातीय चेतना नहीं है, अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति गौरव का भाव नहीं है। वे राजनीतिक रूप से बँटे हुए हैं। इस स्थिति का प्रभाव सारे देश पर पड़ रहा है। एक बृहद् हिंदी प्रदेश बनाए जाने पर एक तो पूरे देश में साक्षरता बढ़ेगी, फिर एकता और मजबूत होगी और पूरे देश में एकजुटता और आत्मविश्वास का उदय होगा। इसीलिए हिंदी को, जितनी जल्दी हो, हमें संपर्क भाषा के रूप में अपनाना चाहिए। इसमें कोई परेशानी नहीं है। इसलिए कि थोड़ा-बहुत हिंदी बोलने-समझने वाले लोग हमारे पूरे देश में मिल जाते हैं।

प्रश्न: डॉक्टर साहब, इस समय जबकि एक सदी अपनी अंतिम साँस ले रही है और एक नई सदी आने के लिए उत्सुक है, क्या आप बताना चाहेंगे कि आने वाली सदी की सबसे बड़ी चुनौती क्या है ?

उत्तर: कोई सदी चुनौती लेकर नहीं आती, इसलिए कि सदियाँ बदलने से हालात नहीं बदलते। इस समय साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के जो दबाव हैं, वे नई सदी आने पर खत्म हो जाएँगे, ऐसा नहीं है। इसीलिए कि सदियाँ बदलने पर स्थितियाँ नहीं बदलतीं। इक्कीसवीं सदी का बहुत हौवा बनाने की जरूरत नहीं है। उन्नीसवीं सदी के बाद बीसवीं सदी आई, तो मनुष्य का जीवन एकदम बदल गया हो, ऐसा नहीं है। इक्कीसवीं सदी आने पर भी स्थितियाँ नहीं बदलेंगी। जब तक साम्राज्यवाद और पूँजीवादी शक्तियों के खिलाफ लड़ाई तेज नहीं होगी, हालात ऐसे ही रहेंगे।

प्रश्न: आपने इतना कुछ लिखा है और इस अवस्था में भी इतना रमकर लिख रहे हैं। ऐसा क्या है जो आप समझते हैं कि छूट गया है और जिसे आप हर हाल में पूरा कर लेना चाहते हैं ?

उत्तर: मैंने शुरू में अपनी दो पुस्तकों का जिक्र किया था, जिनमें एक पर मैं आजकल काम कर रहा हूँ और इसके बाद दूसरी शुरू करूँगा। इनमें एक है- 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' और दूसरी है- 'शूद्र, मुसलमान

और भारत की जातीय समस्या।' मैं इन्हें हर हाल में पूरा करना चाहता हूँ।

प्रश्न: आप क्या चाहेंगे, आपको आपके बाद कैसे लेखक के रूप में याद किया जाए ?

उत्तर: (आविष्ट मुद्रा में...किंचित रोष के साथ) मैं चाहूँगा कि मुझे बिलकुल याद न किया जाए। इसकी बजाय मैं जिन समस्याओं को हल करने में लगा रहा था जिन प्रश्नों पर सोचता-विचारता रहा, उन्हें याद किया जाए। व्यक्ति क्या है, व्यक्ति तो आते-जाते रहते हैं। याद करना ही है तो मैं चाहूँगा, मुझे नहीं मेरे काम को याद किया जाए, और जो काम मैंने किया है, उसे कोई आगे बढ़ाये।

प्रश्न: अच्छा डॉक्टर साहब, अब अंतिम प्रश्न। 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में आपने कहा कि अगर आपको अपने गाँव की प्रकृति के बीच काम करने का मौका मिल जाए, तो आप ड्योढ़ा-दूना काम कर सकते हैं।...मैं जानना चाहूँगा कि यहाँ दिल्ली में तो वैसी खुली प्रकृति है नहीं। बल्कि धुआँ-धक्कड़ ही ज्यादा है। तो फिर आपने अपने आपको कैसे साध लिया और कैसे इतना काम कर लेते हैं ?

उत्तर: जिंदा रहने के लिए यह जरूरी था कि मैं दिल्ली आऊँ, क्योंकि गाँव में तो अब कोई है नहीं, और अकेला वहाँ रह नहीं सकता। तो दिल्ली आना मेरे लिए एक मजबूरी थी। वैसे यह एक बहुत दूषित शहर है, जहाँ आदमी खुलकर साँस भी नहीं ले सकता। इसलिए दिल्ली में रहना मेरे लिए कोई खुशी या आनंद की बात नहीं है। लेकिन जैसे हालात हैं, उनमें रहते हुए जितना काम मैं कर सकता हूँ, करता हूँ। हालाँकि गाँव की प्रकृति की तो बात ही क्या है? अपना गाँव मुझे अब भी याद आता है और

बहुत याद आता है। जो लेखक मुझसे मिलने आते हैं, उनसे मैं यही कहता हूँ कि अगर तुम दिल्ली से बाहर रह सकते हो, तो जरूर रहो। यह शहर सचमुच रहने लायक नहीं है।

डॉ. रामविलास शर्मा बहुत स्पष्टता, दृढ़ता और साफगोई से अपनी बात कर रहे थे- एक ऐसी भाषा में जिसमें ज्यादा किंतु-परंतु नहीं है। बातें करते-करते कोई सवा दो घंटे हो चुके थे। रामविलास जी पूरे जोश और आवेग के साथ अपनी बात कह रहे थे, पर उनके स्वर में हल्की थकान महसूस की जा सकती थी। मैंने कागज-पत्र समेटे और उन्हें प्रणाम कर, उठ खड़ा हुआ।

लेकिन चलते-चलते जाने कैसे गिरिराज किशोर के उपन्यास पहला गिरमिटिया की चर्चा शुरू हो गई। मैंने रामविलास जी से पूछा, "क्या आपने गाँधी जी के जीवन पर आधारित यह उपन्यास पढ़ा है?"

रामविलास जी का कहना था, "नहीं, उपन्यास के पता नहीं कल्पना का कैसा छोंक उन्होंने लगाया होगा? आप दक्षिण अफ्रीका के बारे में गाँधी जी की पुस्तकें पढ़ें। वह दक्षिण अफ्रीका का पूरा इतिहास है। यह एक अद्भुत पुस्तक है।"

"क्या यह उपलब्ध है?" पूछने पर रामविलास जी ने कहा, "हाँ क्यों नहीं? संपूर्ण गाँधी वाङ्मय के अनतीसवें खंड में यह पुस्तक शामिल है। इसी तरह दक्षिण अफ्रीका में लिखे गए गाँधी जी के लेख, रिपोर्ट वगैरह संपूर्ण गाँधी वाङ्मय के ग्यारह तथा बारहवें खंड में शामिल है।"

एक बार फिर मैं रामविलास की स्मृति पर चकित हुआ, और उन्हें प्रणाम कर, कुछ निश्चय करता हुआ-सा बाहर आया।

संपर्क: 545, सेक्टर-29, फरीदाबाद (हरियाणा),
पिन-121008, मो. 9810602327

माँ, आप और कॉलेज का एक लड़का

मूल : वाराणासी नागलक्ष्मी

अनुवाद : आर. शांता सुंदरी

मौसी का फोन आया था। यह बताने कि प्रकाश घर छोड़कर कहीं चला गया। जब से इंटर के नतीजे आए चलपती और सुजाता उदास दिखाई दे रहे थे। इकलौता बेटा घर से भाग गया तो वे पूरी तरह टूट गए।

कुछ देर पहले ही मां बाप की आशाओं को पूरी न कर सकने वाले लड़के की कौन्सेलिंग करके आई थी मैं। बस, चलपति और सुजाता पर बहुत गुस्सा आया। पढ़े लिखे मूर्ख हैं, मन ही मन उन्हें कोसा। इस तरह के मां बाप ज्यादा होंगे तो मानसिक रोगियों और छात्रों की आत्म हत्याओं की संख्या भी बढ़ती ही जाएगी। सीमित परिवार, बड़े बुजुर्गों की देखभाल के बिना अकेले बच्चों को पालना, और यह सोचकर छाती फुलाए फिरना कि बाकी सब बेकार हैं, हमीं अकेले हैं जो बच्चों की बेहतरीन परवरिश करते हैं। नन्हें बच्चों को कोई तकलीफ हो तो बताने के लिए दादी या दादी का न होना, यह सब सोचकर ही दिल बैठा जाता है। माँ बाप चाहते हैं कि जो कुछ वे हासिल न कर सके वह सब बच्चे हासिल करें, ज़िंदगी में ऊंचे उठें, नाम कमाएं और दोनों हाथों खूब पैसा कमाएं। इस तरह के हवाई महल खड़े करने वाले पति-पत्नी की सोच मेरी समझ में नहीं आती। दूसरों से तुलना करके, 'देखा वह पढ़ाई में कितना तेज है? तुझे किस बात की कमी है? सब कुछ तो दे रहे हैं?' उस कोमल मन को चोट पहुंचाना, उस पर बोझ डालना, यह सब उनकी नज़र में प्रोत्साहन देना हो सकता है, पर यह तो निरा पागलपन के सिवा क्या है?

बच्चों में इतना तजुर्बा नहीं होता कि वे बड़ों के हालात समझ सकें। पर मां बाप को क्या हो गया? कभी वे भी बच्चे ही थे ना? उनकी आशाओं के बोझ तले दबकर, उनकी बड़ी-बड़ी मांगों से घबराकर बच्चे गलत कदम उठाते तो फिर तब क्यों इन पर गाज गिरता है? और ऐसे लोगों को देखकर बाकी लोगों में ज़रा भी बदलाव आता? उनसे सीख पाते? नहीं। वे सोचते, हमारा बच्चा ऐसा नहीं है! और वही गलती दोहराते जाते।

मेरे पास ऐसे कई केस आते रहते हैं। उनको याद करने लगी। सर में दर्द शुरू हुई तो जाकर ठंडे पानी से नहाया और सिर भी धोया। बाल सुखाने बाल्कोनी में गई। हाथ में गर्म काफी का गिलास था। अंधेरा होने लगा और एक-एक करके तारे निकल आए। मैं काफी का और आसमान का मजा ले रही थी, इतने में फोन की घंटी बजी, मां का फोन।

मौसी की बात को ही मां ने दोहराया और कहा कि पास ही तो है उसका घर, जरा झांक आना। कुछ मदद हो सके तो कर देना। इकलौता बच्चा है तेरी मौसी कह रही थी कि दोनों बहुत घबराए हुए हैं। एक ही शहर में रहते हो, ऐसे वक्त उन्हें मदद की जरूरत होगी।

मैंने कहा, 'नहीं जाऊंगी मां, सुनकर ही चिढ़ होती है मुझे। कितने सारे बच्चे हैं जो मां बाप की मूर्खता के शिकार हो जाते हैं, फिर भी बड़े चेतते नहीं! उसे ऐसे कालेज में डाल दिया, तब मैंने क्या कहा, याद है? वह वैसे भी पढ़ाई में इतना तेज नहीं है, मेहनत नहीं कर सकता, फिर ऐसे कार्पोरेट कालेज भेज दिया पढ़ने को? बिल्कुल दिमाग काम नहीं करता चलपती और उसकी बीवी का!' मुझे गुस्सा आ गया।

हैदराबाद में हमारे रिश्तेदारों की कमी नहीं। हमेशा किसी न किसी को कोई जरूरत पड़ती ही रहती है। मदद न मांगने पर भी मां का दिल करता है कि मदद के लिए जा पहुंचे। अगर उनके कहे अनुसार जीना हो तो खुद के लिए वक्त ही नहीं रह जाता। और वे नहीं जानती कि बिन बुलाए मदद करने जाओ तो आजकल उसे दखल देना कहते हैं।

मैंने यह कहा तो मां बुरा मान गई और बोली, 'देखो, सबकी समस्याएँ एक जैसी नहीं होतीं। वैसे भी यह बहस करने वाली बात नहीं है। अगर तुझे फुरसत नहीं तो पिताजी के लिए कुछ इंतजाम करके मैं आ जाऊंगी। ऐसे वक्त उन्हें बड़ों का सहारा चाहिए। रात की बस पकड़कर निकलूंगी तो सुबह होते ही उनके घर पहुंच जाऊंगी। भगवान करे वह सही सलामत वापस आ जाए, तब सुनूंगी तेरा भाषण!'

'क्या मां, अभी तो आई हूँ अस्पताल से...आज मरीजों की भीड़ इतनी थी कि सिर फटा जा रहा है। अभी बैठकर कॉफी पीने लगी हूँ। कल सुबह चली जाऊंगी, ठीक है?'

'हां, हां ठीक है...पर उनके साथ जरा प्यार से...' आगे मां कुछ कहने जा रही थी। मैंने उनकी बात काटकर कहा, 'क्या मैं इतना भी नहीं जानती मां? रोज दस पंद्रह मरीजों का काउन्सेलिंग करती हूँ, पर तुम्हारे लिए तो मैं वही नादान लड़की हूँ!' और हंस दी।

'ठीक है, बेटी मैं तो सठिया गई हूँ, छोड़ो। हाँ कॉफी पीकर सो मत जाना। दही चावल खा लेना ठंडक पहुंचाएगा।' मां ने फोन काट दिया।

सुबह का एपाइंटमेंट कैसिल करके, आठ बजे ही घर से चल पड़ी। पौने नौ तक चलपती के घर पहुंच गई।

अपार्टमेंट तीसरी मंजिल पर था। दरवाजा खुला था, पर हाल में कोई नहीं था। डोर बेल बजाऊं या नहीं यही

सोच रही थी, इतने में चलपती कमरे से बाहर आता दिखाई दिया। कान पर सेल फोन था।

'ठीक है भैया, हम ठीक हैं, परेशान मत होना। बाद में फोन करता हूँ,' कहकर फोन काट दिया।

'माँ और मौसी ने फोन किया तो रहा न गया, चली आई। कुछ पता चला?' मैंने कहा।

'शुरिया दीदी, कल रात ग्यारह बजे रेलवे स्टेशन में मिला...घर ले आए।'

मेरा सारा तनाव गायब हो गया। 'चलो अच्छा हुआ। कितने घबरा गए थे हम?' सोफा पर बैठते हुए उसकी आंखों की ओर देखा। आँखों में थकान तो थी ही, साथ ही कुछ और भी भाव था।

'सुजाता कहां है?' पूछा, पर उसके जवाब देने से पहले सेल और लैंड लाइन दोनों बज उठे। एक पर बात करते-करते दूसरा भी उठायो। मेरी ओर देखा और मुझे अंदर जाने का इशारा किया। उसकी बातें सुनते-सुनते मैंने रसोई में झांककर देखा। वहां कोई नहीं था। फिर सोने के कमरे का परदा सरकाकर वहां देखा।

सुजाता अभी लेटी थी। कहीं सेहत तो नहीं खराब है? यह जानने के लिए माथा छूकर देखा। गरम नहीं था। पर वह जिस तरह लेटी थी और धीमी आवाज में खर्राटे भर रही थी, मुझे कुछ अस्वाभाविक सा लगा। चुपचाप बाहर निकलकर दूसरे कमरे की ओर बढ़ी। हाल में चलपती अभी भी फोन पर था। दूसरी ओर से आते सवाल का जवाब देने में मशगूल था। बेटा कब गायब हुआ, घर से क्यों चला गया, कहां मिला ऐसे ही सवाल।

दूसरे कमरे में पलंग पर दीवार से पीठ टिकाए बैठा था प्रकाश। खिड़की से बाहर देख रहा था। मेरे आने की आहट सुनकर मुड़कर देखा। उसके चेहरे पर कोई भाव नहीं था। फोन पर हो रही चलपती की बातें कमरे तक सुनाई दे रही थीं।

'मैं ही पागल था जो डेढ़ लाख जमा किए थे। उससे कुछ भी नहीं होगा। उसके नसीब में मेरी तरह छोटी नौकरी लिखी हो तो क्या कर सकते हैं? हम मां बाप कितना भी हाथ पैर मारें कोई फायदा नहीं। कुछ नहीं बदलेगा...ठीक है, वह सब छोड़ो, वहां सब ठीक हैं ना?'

सुनते हुए मेरा मन कराह उठा, 'अच्छा, तो फिर तुम क्यों गुमाशता ही रह गए? तुम्हें बेटे से जो आशा है, क्या तुम्हारे पिता ने तुमसे वह आशा नहीं की थी? तो फिर अपने पिता की इच्छा तुमने पूरी क्यों नहीं की? तुम तो कभी इम्तिहान में अव्वल नंबर पर नहीं आए, पर बेटा हमेशा अव्वल आए, यही चाहते हो, पर क्यों?' मेरा मन चाहा कि चलपती और सुजाता से ये सवाल करूँ। मां बाप की अधूरी इच्छाएं, उनके बोझ तले छटपटाते बच्चे... सोचकर ही डर लगा। इन बच्चों को ये बातें कहीं गलत रास्ते पर न ले जाएं!

प्रकाश की ओर देखा। चेहरा आवेग से तमतमाया था। मैं जाकर उसके पास बैठी और उसका हाथ अपने हाथ में लिया। उस पर मुझे बहुत तरस आने लगा।

'पापा के वक्त इतनी सारी परीक्षाएं और एंट्रेंस एग्जाम नहीं थे। वे कहां अव्वल आए थे कभी? पर मुझसे आशा करते हैं हमेशा अव्वल नंबर पर आऊं। हर वक्त पीछे पड़े रहते हैं कि नब्बे से ज्यादा नंबर क्यों नहीं लाया? सुबह चार बजे उठकर पढ़ने को कहा था या नहीं? बस जान के पीछे पड़ गए! रमेश को आइआइटी में सीट क्या आया, बस मेरी जान खाने लगे दोनों... इसीलिए मुझे रमेश से नफरत है... आइआइटी से नफरत है... पढ़ाई से ही नफरत हो गई है,' बिना मेरी ओर देखे प्रकाश ने अपने मन की सारी कड़ुआहट उगल दी।

उसके सिर पर हाथ फेरते मैंने कहा, 'तेरी तकलीफ मैं समझ सकती हूँ, प्रकाश। लेकिन बच्चों की बेहतरी चाहने वाले मां बाप कुछ कहते तो...' मेरी बात पूरी होने से पहले वह भड़ककर बोला, 'नहीं बुआ! यह मेरी बेहतरी चाहना नहीं।' जो काम वे नहीं कर सके वह मुझसे करवाने के लिए जोर जबर्दस्ती करना है... मुझ पर दबाव डाल रहे हैं ये !'

प्यार से उसका हाथ दबाते हुए मैंने कहा, 'कुछ दिन मेरे पास आकर रहो। तेरे फूफा जी भी बाहर गए हुए हैं। हम दोनों कुछ समस्याओं पर बात कर सकेंगे... क्या ख्याल है?'

टेढ़ी मुस्कान के साथ उसने पूछा, 'काउन्सेलिंग करना चाहती हो?'

उसे गौर से देखते हुए मैंने कहा, 'हम बड़ों को तुम बच्चों से काउन्सेलिंग लेना जरूरी है, प्रकाश... सचमुच!' मैंने घड़ी देखी। फौरन निकलना होगा। मैंने उसके सिर पर

हाथ फेरते हुए कहा, 'फिर मिलेंगे...' और बाहर आई। देखा चलपती रसोई में था।

'क्या कॉफी बना रहे हो? मुझे नहीं पीनी। रुकने के लिए वक्त नहीं है। आज बहुत सारे एपाइंटमेंट हैं,' मैंने उससे कहा।

'हाँ जानता हूँ तू कितनी बिजी रहती है। सुजाता के लिए बनाया, आधा कप तुम भी पीओ,' कहकर प्याला मुझे पकड़ाया। मैं थोड़ी हैरान हुई। वैसे चलपती रसोई में कभी नहीं जाता। सारा काम सुजाता ही करती है। आज बात कुछ अजीब है, इतने सारे फोन आ रहे हैं, फिर भी सुजाता यों ही लेटी रही। और भी अचरज की बात यह कि चलपती उसके लिए कॉफी बनाकर ले जा रहा है।

चलपती को मेरे चेहरे पर हैरानी दिखी होगी, इसलिए कहने लगा, 'तीन दिन से खाना नहीं खाया, रात को वह घर आया तो दो कौर खाया पर वह भी पेट में नहीं ठहरा। बोली कि छाती में जकड़न सी है। मैं दिन भर भागदौड़ करता रहा इसलिए गहरी नींद आ गई। सुबह आँख खुली तो बाहर आकर देखता हूँ कि वह उलटी कर रही है। फिर चुपचाप जाकर लेट गई। जब सो गई तो मैं दरवाजा बंद करके आ गया। तब से फोन पर फोन आ रहे हैं। यह तो होना ही था ना?' वह फीकी मुस्कान के साथ कहा।

मुझे कहने को कुछ नहीं सूझा तो आंखों से ही सहानुभूति प्रकट करके कॉफी पीने लगी।

'अभी-अभी उठकर बाथरूम गई है। कॉफी पीने से सुस्ती खत्म हो जाएगी,' चलपती ने कहा। इस बीच अस्पताल से फोन आने लगे। मैंने फिर आकर सुजाता से मिलने का वादा किया और वहां से निकल आई।

सारा दिन मरीजों के साथ व्यस्त रही, पर दोपहर खाना खाते वक्त बचपन की यादों ने मुझे घेर लिया। गरमी की छुट्टियों में मौसी के घर जाते थे। उनके बच्चों के साथ खूब खेलना, ऊधम मचाना, मासूमियत से भरे थे वे दिन। पचास साल भी पूरे किए बिना ही चल बसे थे मौसा जी। चलपती के दो बड़ी बहनें हैं। उनकी शादी करानी थी। इसलिए चलपती को डिग्री खत्म करते ही नौकरी करनी पड़ी। आगे की पढ़ाई नहीं हो सकी। दोनों बहनें अच्छे घरों में ब्याही गईं, पर चलपती छोटी नौकरी में कामचलाऊ वेतन पाकर जिंदगी की गाड़ी को टेलते रहना पड़ा।

मियाँ बीवी दोनों ने तय कर लिया था कि इकलौता बेटा ही काफी है। मौसी को दुःख हुआ कि दो बच्चों को पालने की स्थिति में चलपती नहीं है।

दो साल पहले मौसी की सेहत बहुत बिगड़ गई और उन्हें अस्पताल में इलाज के लिए रखा गया था। तब नौ दस बार मैं मां के साथ मौसी को देखने गई थी। तभी प्रकाश को मैंने नजदीक से देखा और जाना। बाद में जब पता चला उसे 'बेस्ट ब्रेयिन' स्कूल में भेज रहे हैं तो मैं झुंझुला उठी। प्रकाश पढ़ाई में ठीक है पर आइआइटी कोचिंग जैसा कोर्स उसके बस की बात नहीं है। मैं जानती थी कि इस तरह उस लड़के पर बोझ डालने का नतीजा क्या होगा। चलपती से मैंने कहा भी, पर उसने बताया कि जो भारी भरकम फीस उसने भरी वह वापस नहीं दिया जाएगा, तो मैं चुप रह गई। उसके कुछ ही दिन बाद मौसी गुजर गई।

एक ही शहर में रहने के बावजूद अपने-अपने काम में व्यस्त रहकर हमें ज्यादा मिलने का मौका ही नहीं मिला। उसके बाद आज फिर उनसे मिली मैं।

सुबह काम पर जाने की जल्दी में सुजाता से मिलना नहीं हुआ। सोचा, काम खत्म करके फिर उनके घर जाऊंगी और सुजाता से मिलूंगी। अगर प्रकाश राजी होगा तो उसे अपने साथ घर ले जाऊंगी, वरना वहीं बैठकर उससे इत्मीनान से बात करूंगी। कल मां से फोन पर बात करते वक्त गुस्सा किया था, पर यहां आकर इनसे मिलने के बाद पुरानी आत्मीयता जैसे फिर से लौट आई। उन्होंने मुझसे मदद नहीं मांगी, फिर भी उस घर में फैली निराशा का मूल कारण जानकर मदद करने की इच्छा हुई। प्रकाश के मन की पीड़ा को उसके मां बाप समझ लें, इसके लिए मैं कुछ करना चाहती थी।

'जरूरत के वक्त काम न आने वाले रिश्तों का क्या फायदा?' मां के ये शब्द याद आए। शादी-ब्याह में जाकर, कुछ उपहार देकर, दावत करके आना ही रिश्तेदारी निभाना नहीं होता है ना? आज हो सके तो उन तीनों के साथ बैठकर इस समस्या को सुलझाने की कोशिश करनी चाहिए!

जब तक मैं वहां पहुंचती चलपती दफ्तर से आ चुका था। सुजाता ने छुट्टी ले रखी थी। मेरी पहली कोशिश

कामयाब हुई। हम चारों एक जगह इकट्ठा हुए। मैंने कहना शुरू किया, 'प्रकाश, मैं बिल्कुल मानती हूं कि तूने जो किया उसके पीछे तेरी कोई वजह जरूर होगी। पर हम भी उसके बारे में जानना चाहते हैं। अपने मन की बात सबको साफ-साफ बता दोगे तो घर का माहौल हल्का हो जाएगा। सबके लिए यह अच्छा होगा...बता तूने ऐसा काम क्यों किया?' मैंने पहले प्रकाश से बात की।

पर उसने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया। बार-बार पूछने पर भी यही कहकर टाल दिया, 'आप नहीं जानती बुआ...इस तरह की बहस से कोई फायदा नहीं...'।

कुछ देर की चुप्पी के बाद चलपती ने मुझसे कहा, 'छोड़ो दीदी! हम यह नहीं पूछेंगे कि उसने ऐसा क्यों किया, पर यह तो बताएं कि आगे क्या करना चाहता है? इंटर में इसे जो अंक मिले उन्हें देखते हुए किसी भी अच्छे कालेज में दाखिला मिलने की उम्मीद नहीं कर सकता। मैनेजमेंट सीट खरीदने की मेरी हैसियत नहीं। तो फिर आगे की बात सोचनी पड़ेगी ना?'

मैंने प्रकाश की ओर देखा। उसके चेहरे पर तिरस्कार का भाव साफ नजर आया। क्या करने से यह आग बुझेगी? वे कौन सी परिस्थितियां थीं जिनके कारण उसे घर छोड़कर भागना पड़ा? अगर अब भी वैसी परिस्थितियां घर में हैं तो उन्हें दूर कैसे किया जाए? यह सब जानना हो तो उसके घर से भागने से पहले क्या हुआ, यह जानना जरूरी है। तभी यह उलझन भरी गांठ खुलेगी।

प्रकाश के मुंह से जवाब उगलवाने के लिए बहुत कोशिश करनी पड़ी। एक बार कहना शुरू किया तो एक-एक करके बहुत सारी बातें बताता गया। दूसरे लड़कों से उसकी तुलना करते हुए मां-बाप ने क्या-क्या कहा, अच्छी कॉलेज में दाखिला दिलाने के लिए कितने लाख खर्च किए कितना दबाव डाला, यह सब बताकर प्रकाश ने कहा कि उस दबाव की वजह से ही वह इम्तिहान में पूरा ध्यान लगाकर जवाब नहीं लिख सका। यह सब बताते वक्त उसकी आंखों से आंसू बह निकले। जब नतीजे आए तो उसके अंक देखकर सुजाता ने जो खरी खोटी सुनाई, जो अपमान किया, उसके बारे में प्रकाश के मुंह से सुनकर मेरा मन पसीज गया।

प्रकाश ने कमीज से आंख और नाक पोंछते हुए तेज तर्रार आवाज में मुझसे कहा, 'बुआ, इन्हें बता दो कि मेरे लिए इतना पैसा न खर्च करें। मेरी वजह से तकलीफ न सहें।' मैंने तुरंत सुजाता की ओर देखा। उसके चेहरे पर कोई भाव न देखकर मैं हैरान रह गई।

'चलपती, क्या जवाब है तुम्हारा?' मैंने धीमी आवाज में पूछा।

'क्या कहूं? बहुत बड़ी गलती हो गई हमसे। बस, अब वह जो करना चाहे वही करे...' चलपती ने इस अंदाज में कहा जैसे वह आगे इस बात पर बहस नहीं करना चाहता है। बहुत ही मुख्य पदवी से इस्तीफा देने वाले की तरह कहा उसने।

मैं फिर सुजाता की ओर मुड़ी और पूछा, 'तुम यह तो नहीं सोच रही हो न मैं तुम्हारे घर के मामलों में दखल दे रही हूं? सुबह तुम लोगों की हालत देखकर एक बार फिर तुम सबसे मिलना चाहा, इसीलिए चली आई।' मैं समझ रही थी कि यह समावेश उन तीनों को पसंद नहीं आ रहा है। या कहूं कि वे सोचते हैं इससे कोई फायदा नहीं होने वाला है।

साड़ी की किनारी पर उंगलियां फेरते हुए सुजाता ने कहा, 'ऐसा क्यों सोचती हैं भाभी? आजकल कौन किसी के बारे में सोचता है? और तुम्हारी सलाह के इंतजार में तो इतने सारे लोग रहते हैं। हमारा ख्याल करके ही तो आप हमारे घर खुद चली आई और...' वह बीच में ही रुक गई।

'अरे ये क्या, मैं क्या पराई हूं जो तुम इस तरह की बातें कर रही हो? मैंने सोचा सब इकट्ठा बैठकर तसल्ली से एक दूसरे की बात सुनें और समझें। प्रकाश की बात तो तुमने सुन ली, अब अपनी कहो,' मैंने कोमल आवाज में कहा।

सिर उठाकर सुजाता कुछ कहने ही वाली थी, पर नफरत से भरा बेटे का चेहरा देखकर रुक गई। फिर बोली, 'कहने को कुछ भी नहीं है भाभी। उसकी सारी बातें सच हैं।'

'यह क्या बात हुई भला? उसकी उम्र ही कितनी है? उसकी तरफ से भी सोचो। हर किसी का अपना सामर्थ्य होता है, उसकी एक सीमा होती है। उससे परे की चीज वह हासिल नहीं कर सकता। आप लोग चाहते होंगे वह अच्छे से अच्छे इन्स्टिट्यूट में पढ़े और बड़ा इंजीनियर या वैज्ञानिक बने। अगर उसके मन में यह सब करने की इच्छा, तेज

दिमाग या लगन न हो तो यह संभव नहीं होगा। हम जिसे हासिल न कर सके और जिसकी हमें इच्छा है, उसे उसके सिर मढ़ना कहां तक ठीक होगा? और यह भी सोचने की बात है कि तुम दोनों एक ही बात को लेकर बैठ गए और उसे अकेलापन सताने लगा हो। यह घर, यह परिवार मेरा है, ऐसी भावना क्यों उसके मन से दूर हो गई? अब देखो...'

मेरी बात पूरी होने से पहले सुजाता हंसते हुए बीच में बोल पड़ी, 'हां भाभी। दुनिया यही सोचती है कि बच्चे और बूढ़े असहाय और कमजोर हैं और अछेड़ सब बलवान और निर्दयी हैं।'

उसकी बात सुनकर मैं पहले अवाक् रह गई, फिर संभलकर कहा, 'यह कैसी बातें कर रही हो? ऐसा अब किसने कहा? दूसरों से हमेशा तुलना करते हो तो उसे बुरा लगता है। उसके स्वाभिमान को ठेस न पहुंचे इसका ख्याल हमीं को रखना है कि नहीं?'

'आप सच कह रही हैं। उसके स्वाभिमान को ठेस पहुंचाकर गलती की हमने। उसके क्लास में उसी की तरह मामूली मध्यवर्ग घरों से आए उसके बराबर के लड़के अच्छे नंबरों से आगे निकल रहे थे तो उनसे इसकी तुलना करना भी गलत था। जब यह कहता कि क्लास में ठीक से पढ़ाई नहीं होती तो यह पूछना कि फिर बाकी बच्चे इतना अच्छा कैसे कर रहे हैं...यह भी हमारी गलती थी। यह लेक्चर को 'इडियट', 'स्टुपिड' कहता और बेइज्जती से उनके बारे में कुछ कहने लगता तो टोकना भी ठीक नहीं था। मन लगाकर पढ़े और टीवी और वीडियो गेम्स में कीमती वक्त जाया न करे, यह कहना भी गलत ही था!' सुजाता की आवाज में आवेग छिपा था। होंठ फड़क रहे थे, नाक लाल हो गई थी और आंखों में हल्की-सी पानी की परत दिखाई दी। वह दीवार से पीठ टिकाकर जमीन पर बैठी थी और साड़ी भी सलवटों से भरी थी। वह सच में बहुत दुःखी दिखाई दी।

'प्लीज, सुजाता...मैंने ऐसा तो नहीं कहा ना? मैंने गलत और सही की बात ही कहां की? तुम्हें यह समझाने वाली मैं कौन होती हूं? प्रकाश कोई बाहर का लड़का नहीं तुम दोनों का अपना बेटा है। तुम्हारी जान उसी में अटकी रहती है। ऐसे में आज जो हादसा हुआ उसका सामना

करना तुम दोनों के लिए कितना मुश्किल रहा होगा इसकी कल्पना मैं कर सकती हूँ। चाहे हालात कैसे भी हों, मां बाप और बच्चों के बीच में हमेशा संपर्क बना रहना चाहिए। इसीलिए कह रही हूँ कि मिल बैठकर बात करेंगे। हम दो विरोधी दल नहीं हैं। एक दूसरे के नजरिये को समझने की कोशिश करते हुए इस उलझन को सुलझाएंगे, मैंने समझाने के अंदाज में कहकर चलपती की ओर देखा। वह कुर्सी पर बैठकर बाहर बालकोनी की तरफ देखते हुए हल्के-हल्के मुसकुरा रहा था।

‘हां भाभी, वह हमारी जान जरूर है, पर हम यह नहीं जानते उसके मन में हमारे लिए क्या भावना है। हमेशा पेड़ से फल को पोषण मिलता है, फल से पेड़ को नहीं, है ना? तुम इतना कह रही हो, हालत सुधारने की भरपूर कोशिश कर रही हो, इसलिए हम बात करेंगे, मैं तैयार हूँ। दसवीं के बाद वह ‘बेस्ट ब्रेयिन्स’ स्कूल में क्यों गया, किसके कहने पर गया, यह उसी से पूछिये,’ सुजाता ने सीधे मेरी आंखों में देखते हुए कहा।

‘अगर एंट्रेंस की परिक्षाओं में नहीं बैठना था तो फिर कोचिंग कॉलेज में दाखिले के लिए इतना हठ क्यों किया था? पूछिए उसी से! डेढ़ लाख फीस, किताबों और आने-जाने के लिए स्कूल बस का पचास हजार! क्या हम जैसे मामूली नौकरी करने वाले इतना खर्च कर सकते हैं? हम ने कहा भी था, घर के पास जो कॉलेज है वहाँ भी पढ़ाई अच्छी होती है, रिजल्ट अच्छे आते हैं, पर उसने हमारी बात मानी कहाँ? उसके स्कूल के दोस्त सब जहाँ जा रहे थे, उसे भी वहीं जाना था। उनके पास खूब सारा पैसा है, हमारे पास क्या है? इस फ्लैट का लोन भी चुकाने की जिम्मेदारी सर पर है... रात-दिन मेहनत करके, किसी तरह निभाते आ रहे हैं। ऐसे में इसे बहुत जिम्मेदारी से पढ़ाई करनी है कि नहीं?’

“आईआईटी या बिट्स पिलानी में पढ़ने की इतनी चाह है तो फिर खूब मन लगाकर पढ़ाई करना चाहिए था। तब पैसा खर्च करके भी उसे सीट न मिलता तो हमें इतना दुःख न होता। जब मेहनत नहीं कर सकता था तो फिर ऐसे कोचिंग कॉलेज में जाने की जरूरत ही क्या थी? वह तो सुख सुविधाओं से भरा-पड़ा कॉलेज है। एसी कमरे, सुबह

छः बजे से रात ग्यारह बजे तक खुला रहने वाला सुपर लाइब्रेरी, कोई भी सवाल हो फौरन उसे हल करने वाले लेक्चरर। इस कॉलेज में जाने के लिए वह इतना जिद कर बैठा था कि हमें मनाने के लिए दो दिन रूठकर खाना नहीं खाया। तो फिर बाद में मेहनत करने से क्यों जी चुराता रहा? मैं स्कूल से साढ़े चार बजे घर पहुँचती हूँ। उसके क्लास एक बजे खत्म हो जाते हैं। चार बजे तक लाइब्रेरी में बैठकर पढ़ सकता था, कोई बात समझ में न आये तो लेक्चरर से पूछकर जान सकता था। पर नहीं... क्लास खत्म होते ही घर आ जाता। उसके बाद क्या करता रहता था, यह वही जाने। मैं सुबह चार बजे उठकर घर का काम, रसोई का काम निपटाकर, उसका टिफिन तैयार कर देती थी। पर वह अक्सर वापस ले आता था। दोस्तों के साथ कॉलेज कैटीन में कुछ खा लेता। पूछने पर कहता, पढ़-पढ़कर दिमाग गरम हो जाता है, जरा हवा खाने कैटीन चला गया तो क्या हो गया?’ सुजाता थकी आवाज में कहती गई जैसे इन सबकी आदी हो चुकी हो।

तब तक चुपचाप सुनता बैठा प्रकाश झट से उठा और वहाँ से जाने को हुआ। मैंने उसका हाथ पकड़कर रोका और कहा, “ठहरो प्रकाश, हम जब बोल रहे थे तो तुम्हारे माँ और पिता ने चुपचाप सुनी थी ना, तो फिर वे जो कहना चाहते हैं उसे हमें भी सुनना चाहिए कि नहीं?”

एक मिनट के बाद सुजाता के चेहरे पर विरक्ति से भरी मुस्कान आई। वह फिर कहने लगी, “उस कॉलेज में ज्यादातर बच्चे अमीर घरों से हैं। बाकी जो कुछ बच्चे हैं वे किसी लक्ष्य को पाने के लिए रात दिन मेहनत करने की ठानकर वहाँ भर्ती हुए थे। और हम इन दोनों में से किसी भी वर्ग में नहीं आते। हमारे बहुत समझाने के बावजूद वह नहीं माना, वहाँ भर्ती कराने तक सत्याग्रह करता रहा। हमारे लाड प्यार का फायदा उठाया और हमें ब्लैकमेल किया। खूब जी लगाकर पढ़ूँगा, यह वादा किया था, पर वादा निभाने की जरूरत नहीं समझी इसने।

“उसका कोर्स प्राइमरी टीचर मेरी समझ में आने से रहा। पेरेंट टीचर मीटिंग में जब भी जाते हमें खाली कापियाँ और उत्तर-पत्र दिखाकर लेक्चरर जो सवाल पूछते हमसे जवाब नहीं देते बनता था। अवाक् रह जाते। प्रकाश से

पूछा तो उसने कहा स्कूल में सीबीएससी के सिलेबस और यहाँ के सिलेबस में बहुत फर्क है। उसे सीखने में वक्त लगेगा और मैं जल्दी सीख जाऊँगा। हम भी इन बातों को ज्यादा जानते नहीं हैं। उसकी बात पर यही करते रहे। दूसरे लड़कों के साथ पढ़ने और स्पेशल क्लास का बहाना बनाकर कई बार फिल्म देखने या घूमने चला जाता था। हमने कितने प्यार से पाला था, उस पर कितना यकीन किया था, फिर हमसे झूठ बोलने की जरूरत ही क्या थी?" सुजाता की पीड़ा को मैं समझ रही थी। मुझसे कुछ जवाब देते नहीं बना।

प्रकाश कुर्सी पर बार-बार पहलू बदल रहा था, उसे बेचैनी महसूस हो रही थी।

कुछ देर वहाँ चुप्पी छाई रही। फिर सुजाता ने कहना शुरू किया, "सब कहते हैं बच्चों को दूसरों का उदाहरण देकर उनसे तुलना करना गलत है। मैं भी यही सोचती थी। पर मैंने बचपन में सुना था, 'स्पर्धता वर्धते विद्या'। किसी से भी अच्छी बातें सीख सकते हैं, प्रेरणा पा सकते हैं। पर आजकल के बच्चे सलाह को भी जबर्दस्ती समझने लगे हैं। बच्चे कुछ गलत करें तो उन्हें डांटने से माँ-बाप खुद घबराते हैं। मनोविज्ञान कहता है बच्चों को आजादी मिलनी चाहिए, उनका विकास स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। पर ये सारे प्रयोग दूसरों के बच्चों पर ही करते हैं। अनुशासन में रहना, मन को काबू में रखना पढ़ते बच्चों को कितना जरूरी है, यह तो कोई सोचता ही नहीं! कुछ दिन बाद शायद अमेरिका की तरह बच्चों को डांटने पर माँ-बाप को यहाँ भी जेल भेज देंगे।

"मेरी दीदी का बेटा घर के काम में उसकी मदद करता है और पढ़ाई में भी तेज है। और एक यह है कि माँ कितना भी खटे कुछ परवाह नहीं। कभी कोई छोटा मोटा काम करने को कहती तो लंबा भाषण देने लगता है कि कॉलेज की पढ़ाई करके मैं बहुत थक गया हूँ, और भी बहुत सारा होमवर्क भी करना है..."

"हम उसकी तुलना किसी से करें तो गलत करते हैं, पर वह हमें ताने दे सकता है कि संदीप ने नये स्पोर्ट्स शू खरीदे या बॉबी ने अपना जन्मदिन पिज्जा हट में मनाया या सुधीर रोज बेन्ज गाड़ी में स्कूल आता है..."

सुजाता एक पल के रुकी तो चलपती बीच में बोल पड़ा, "रहने भी दो ना यह कहानी तो जल्दी खत्म नहीं होने वाली... एक दिन की कहानी थोड़े ही है, दो साल का एक्शन, रिएक्शन और इनाक्शन की दास्तान है... आज के लिए बस करते हैं, कॉफी पीकर कुछ और बात करते हैं..." और उठ गया।

यह सब सुनकर मैं उबने न लगूँ, एक तरफ यह डर और दूसरी तरफ इतने दिनों बाद अपने मन का दुःख बेटे की समझ में आए, इस बात की आतुरता, दोनों चपलती के चेहरे पर साफ नजर आ रहे थे।

चलपती उठकर रसोई की ओर जाने लगा तो सुजाता ने कहा, "अपने भाई को देखा आपने? सारे बाल झड़ गए और गंजे होने लगे। नौद पूरी न होने से आँखों के नीचे काले साये... देखा कितने कमजोर हो गये? दफ्तर के काम के बाद शाम को पार्ट टाइम दूसरी नौकरी भी करने लगे हैं। रात का खाना खाने घर आने की भी फुर्सत नहीं मिलती तो वहीं होटल में कुछ नाश्ता कर लेते हैं और रात दस बजने के बाद घर आते हैं। और मेरी प्राइवेट स्कूल की नौकरी तो आप जानती हैं कैसी होती है। अब वह अठारह का हो गया, वोट डालने लायक उम्र हो गई। नेता चुन सकता है पर आप जैसे बुद्धिमानों की नजर में असहाय है। माँ-बाप की हिंसा का शिकार मासूम बच्चा है। और तो और, वह भी यही सोचता है।"

चलपती ने उसकी बातें सुन लीं तो दौड़ता आया और घबराया सा बोला, "क्या है सुजाता, क्या बात कर रही हो?"

"ठहरो चलपती उसे कहने दो।" मैंने रोका।

"वह चाहता है पचास साल का पिता और चालीस साल की माँ उसकी सारी जरूरतें पूरी करें, तो फिर परिवार के लिए मैं क्या कर सकता हूँ, यह सवाल क्यों नहीं आता उसके मन में? पैसों की बात नहीं कर रही हूँ। दिन भर हड्डी पसली एक करके देर रात घर पहुँचने वाले पिता से प्यार से दो बोल नहीं बोल सकता? इस छोटे से काम से उन्हें कितनी खुशी मिलती! कितना भी पढ़ाई में डूबा हो, थककर घर आए को एक गिलास पानी तो दे सकता है, है ना? उनके हाथ से बैग ले सकता है ना? कुछ भी तो नहीं करता। अमेरिका के बच्चों की तरह आजादी तो चाहिए पर

उनकी तरह सोलहवें साल से आत्मनिर्भर बनना नहीं चाहता। हमेशा ताने मारता रहता है कि फलों के पिता बहुत अमीर हैं, किसी की मम्मी खुद गाड़ी चलाकर आती हैं और बेटे को स्कूल छोड़ती हैं। कोई बहुत मॉडर्न और स्टाइलिश है, कोई पिता सिंगापूर और आस्ट्रेलिया से बेटे के लिए अच्छे-अच्छे तोहफे लाकर देते हैं... इस फेहरिस्त का अंत ही नहीं...!

“एक बार कॉलेज में पेरेंट्स मीट के लिए गए तो इसे हमारे साथ बैठने में शर्म आ रही थी। हमारी बारी आने तक गलियारे में ही चहलकदमी करता रहा। हमने वजह पूछा तो असली बात मालूम हुई। खीजकर बोला, “तुम ऐसे बहनजी की तरह क्यों आती हो, मम्मी? अच्छे कपड़े पहनकर स्टाइलिश क्यों नहीं दिखते?” मैं अवाकू रह गई।

सुजाता के वाक्प्रवाह में बहती जा रही थी मैं। थोड़ा रुककर उन दोनों को गौर से देखा। सचमुच दोनों बहुत बदल गए। अपनी उम्र से लगभग दस साल बूढ़े दिख रहे थे।

“बचपन में माँ और दादी मुझसे भी अक्सर कहती रहती थीं कि दूसरों को देखकर अच्छे गुण सीखो। उनकी बातों पर गौर करके अच्छी बातें जहाँ भी दिखायी देती सीख लेते थे। आज के बच्चों के आगे किसी की तारीफ करना या किसी से तुलना करना गुनाह है। हमेशा अपने बच्चे की तारीफ करते रहें, छोटी सी सफलता पर भी खूब तारीफ के पुल बाँधें, फिर ये दूसरों से क्या सीखेंगे? कभी गलती से कुछ कह दिया तो घर से भाग जाएंगे और भी कुछ कर सकते हैं। तब बच्चा भी नहीं रहेगा और लोगों की सहानुभूति भी नहीं मिलेगी। सब हमीं को दोषी मानेंगे! इतने साल परवरिश करके बड़ा किया फिर भी कोई सलाह भी नहीं दे सकते। मन की बात कह नहीं सकते। एक बात बताइये भाभी, आज माँ बाप बच्चों को इतनी छूट दे रहे हैं ना, क्या इसका नतीजा हमेशा अच्छा ही होता है? क्या आप जानती हैं कई माँ बाप बच्चों से डरते हुए जी रहे हैं?

माँ बाप का बच्चों से रिश्ता इतना नाजुक हो गया कि छूते ही चटक जाए? उसकी जिंदगी अच्छी तरह कटे इसीलिए खुद मुश्किलें सहकर भी हमने उसकी पसंद के कॉलेज में सीट दिलाया। हमारा यह उद्देश्य बिल्कुल नहीं था कि कल वह बड़ा इंजीनियर या अफसर बन जाता तो हम गर्व महसूस करेंगे, या अपनी अधूरी इच्छाओं को उसके सर मढ़ने का भी हमारा इरादा नहीं है। बाहर धक्के खाते हुए, तनाव का सामना करते हुए बड़े जतन से पालते हैं, ऐसे में बच्चे हमारा तिरस्कार या अपमान करेंगे तो जिंदगी कड़ुई लगने लगती है। फिर भी हम जिंदगी से कहीं भाग भी नहीं सकते! अगर उसकी जगह हम घर से भाग जाते तो क्या वह हमें ढूँढ़कर घर वापस लाने के लिए इतनी तकलीफ उठाएगा? क्या कहती हैं आप?” सुजाता ने होंठों पर मुस्कान लाते हुए कहा।

वह मुस्कान खुशी की नहीं बल्कि उदासी से भरी थी। वह मेरे दिल को घायल कर गई। इतने में चलपती ट्रे में कॉफी के प्याले ले आया। पहले प्रकाश के पास जाकर कहा, “बोर्नवीटा का कप ले ले, बेटे!” प्रकाश ने आँखें उठाकर अपने पिता को देखा। उसकी आँखें नम थीं और शीशे की तरह चमक रही थीं। अपना कप लेते हुए, “आइ एम सारी, पापा...” कहने लगा तो गला रुंध गया, जैसे गले में कुछ अटक गया हो। पर आँखों से दो मोती जरूर चू पड़े। मुँह से न कह सका, पर उसकी आँखों ने सब कुछ कह दिया। फिर उसने उसी भाव से अपनी माँ की ओर देखा।

कॉफी पीकर कुछ देर यूँ ही बैठे रहे। मैं घर जाने के लिए उठी तो बाहर तक आकर चलपती और सुजाता ने मुझे धन्यवाद कहा। मैंने आज उनसे जो सीखा, उसके लिए शब्दों में कृतज्ञता कैसे प्रकट की जाए यह समझ में नहीं आया तो मैं कुछ कहे बिना ही वहाँ से चल दी।

संपर्क :

506, वेस्ट इंड अपार्टमेंट

मस्जिद बांडा कोंडापुर, हैदराबाद- 500084, मो. 09440745709

रामदश मिश्र के पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु की छातचीत

प्रश्न: डॉ. साहेब, आप आरंभ से सर्जक रहे हैं। कविता और कहानियाँ तो आपने आरंभ से लिखी हैं। ऐसे में आलोचना से आपका तालमेल कैसे बैठा और आपने अपनी पहली आलोचना कब लिखी ?

उत्तर: मैं शुरू से ही सर्जक रहा और आज भी सर्जक ही हूँ। मैंने आलोचना अपने मन से कभी नहीं लिखी। हाँ, काशी में गोष्ठियाँ होती रहती थीं, जिनमें हम लोग रचनाओं पर चर्चा करते थे। इसे आप वाचिक आलोचन-कर्म कह सकते हैं। वहीं मेरे आलोचन कर्म के बीज अंकुरित हुए होंगे।

मैंने अपनी पहली आलोचना नागार्जुन की 'युगधारा' पर लिखी। उन दिनों ठाकुर प्रसाद सिंह 'हमारी पीढ़ी' पत्रिका निकालते थे। उन्होंने यह समीक्षालेख मुझसे लिखवाया। उन्हीं दिनों पंजाब से सप्तसिंधु (पटियाला) पत्रिका निकलती थी। उसके लिए मैंने बहुत लिखा। आलोचना का विषय वह स्वयं देते थे। उनके दिये हुए विषयों पर मैंने कई आलोचनात्मक आलेख लिखे। इसके लिए वह अच्छा मानदेय भी देते थे।

आप तो यह मानेंगे कि प्राध्यापकीय आजीविका में समीक्षा-लेखन बहुत जरूरी है, सो मैंने लिखा। वृंदावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास पर जो मैंने लिखा, वह मेरे एम.ए. का विनिबन्ध (Dissertation) था। पर यह सच है कि आलोचना मैंने स्वतःस्फूर्त रूप में नहीं लिखी, बल्कि मुझे लिखवायी गयी। ऐसे लेखन के लिए मुझ पर संपादक और प्रकाशक का दबाव रहता था। यहाँ तक कि संपादित आलोचना पुस्तकें भी मैंने इसी रूप में तैयार की। बालकृष्ण शर्मा नवीन पर भी मैंने एक संकलन तैयार किया था, जिसके लिए मैंने उसकी लम्बी भूमिका लिखी थी। पर जब कभी मैंने एक बार लिखना स्वीकार कर लिया तब उसे पूरी दत्तचित्ता से ही लिखा।

प्रश्न: अनुसंधान और आलोचना की पारस्परिकता को आप कैसे लेते हैं ? क्या आपके अनुसंधान-कर्म ने आपको आलोचक बनाया या आपकी आलोचना ने आपके अनुसंधान को बल दिया ?

उत्तर: अनुसंधान में मेरी स्वाभाविक रुचि नहीं थी। अतः मेरी दृष्टि उस पर नहीं रही। मैंने मूलतः आलोचना ही लिखी। कृतियों की या विधाओं की, कविताओं और उपन्यासों की समीक्षा ही की। जब द्विवेदी जी ने अनुसंधान करने के क्रम में मुझे दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के सामग्री संकलन का काम दिया था तब वह शुद्ध शोध का ही काम था। पर उसमें मेरी अभिरुचि नहीं थी। हाँ, मैंने हिंदी आलोचना पर अपने पीएच.डी. अनुसंधान-कार्य में मुख्यतः आलोचना ही की। वह मेरा आलोचनात्मक शोध ही है। इस दृष्टि से आप कह सकते हैं कि मेरी आलोचना ने मेरे अनुसंधान को बल प्रदान किया।

प्रश्न: कहते हैं कि आप द्विवेदी जी के पास शोध-निर्देशन के लिए गये थे, पर उन्होंने आपको अपने निर्देशन में लेना स्वीकार नहीं किया। तब उन्होंने आपसे क्या कहा ?

उत्तर: मैंने कहा- ‘पंडित जी, मैं इंतजार कर लूँगा। जब आपके पास जगह होगी तब मैं काम करूँगा।’ इस बात से यह अनुमान किया जा सकता है कि मैं उनके साथ काम करने के लिए कितना बेचैन था और काम न कर पाने के कारण मेरी बेचैनी कितनी बढ़ गयी होगी। पर मैं पंडित जी की विवशता समझ रहा था। इसलिए कोई मलाल नहीं हुआ। पंडित जी भी चाहते थे कि मैं प्रतीक्षा करके अपना समय नष्ट न करूँ। उन्होंने डाँटकर कहा था कि तुम्हें शोध-छात्रवृत्ति मिलने वाली है। खाली बैठोगे, तो कैसे काम चलेगा ?

प्रश्न: कहते हैं, बी.एच.यू. में पंडित जी ने ठाकुरों की शिविरबंदी की हुई थी। प्रभाकर माचवे के अनुसार उन्होंने ‘सिंहो के लँहड़े’ खड़े किये थे। इसके बारे में आपकी क्या धारणा है ?

उत्तर: मैंने इस पर कभी सोचा नहीं। जब पंडित जी आये तब बनारस और बी.एच.यू. के परिवेश में जो मेधावी लोग थे, उनमें ठाकुरों की संख्या ज्यादा थी। पंडित जी से उस समय के सारे मेधावी लोग जुड़ना चाहते थे, तो जुड़ने वालों में अधिक संख्या ठाकुरों की ही थी। नये लोगों में शंभुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, नामवर सिंह, बच्चन सिंह, शिव प्रसाद सिंह थे। ठाकुरेतर लोगों में मैं तो था ही, विश्वनाथ त्रिपाठी आये, राममूर्ति त्रिपाठी आये और भी कुछ लोग आये, जो उनसे गहरे जुड़े थे। मुझे ऐसा नहीं लगता है कि वे ठाकुरों को ले रहे थे और ब्राह्मणों की उपेक्षा कर रहे थे। उन्हें मुझे अपने अधीन नहीं ले पाने के कारण और थे। हुआ यह था कि सारे-के-सारे लोग उन्हीं के निर्देशन में शोध-कार्य करना चाहते थे और पंजीकृत भी हो जाते थे। तब प्रो. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और प्रो. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कुलपति को पत्र लिखा कि सारे-के-सारे लोगों को वे अपने निर्देशन में ले ले रहे हैं और हम खाली बैठे हैं। तब उन्हें कुलपति का निर्देश प्राप्त हुआ था कि आप केवल शोध-छात्रों को ही निर्देशन दे सकते हैं।

प्रश्न: जब आप जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के पास गए तब आपने हिंदी की आलोचना वाला विषय ही क्यों लिया ? कविता आदि से जुड़ा विषय क्यों नहीं लिया ?

उत्तर: मैंने द्विवेदी जी के साथ कुछ दिनों तक काम किया था। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी की सामग्रियों का पुनः परीक्षण किया था।

प्रश्न: यह किस प्रकार की सामग्री थी ?

उत्तर: यह विषय साहित्य से संबंधित था। कुछ दिनों तक मैं इस विषय के साथ चला और चलता ही रहता, यदि उनका निर्देशन मुझे प्राप्त हो चुका होता, किंतु यह विषय मेरी मानसिकता और क्षमता का नहीं था। पंडित जी की विवशता के बाद मैंने सोचा कि विश्वनाथ जी परम विद्वान् तो हैं, किंतु उनकी रुचि आधुनिक नहीं है और वे मेरी आधुनिक सोच में कभी भी हस्तक्षेप कर सकते हैं। इसलिए जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के पास ही काम करना मैंने ठीक समझा। शर्मा जी ने उस विषय के बारे में कहा कि इस पर काम करना चाहते हो तो मैं कुछ सहायता नहीं कर सकूँगा। आज याद नहीं कि तब मेरे विषय के बारे में उन्होंने प्रस्ताव दिया था या मैंने स्वयं निश्चय किया था कि हिंदी आलोचना पर काम करूँगा। शायद उन्हीं का प्रस्ताव रहा हो। जो भी हो, इस विषय पर काम करना मुझे काफी अच्छा लगा, क्योंकि आलोचना के माध्यम से मैं आलोचना के साथ सम्बद्ध साहित्य को भी खँगालता गया।

प्रश्न: छायावाद से जुड़ी आलोचना-पुस्तक आपने कब लिखी और इसकी रचना प्रक्रिया क्या थी ?

उत्तर: पहली बात तो यह कि जब मैं गुजरात में था, तब मैंने छायावाद पर लिखा था। हुआ यह कि मेरी कविता-पुस्तक ‘बेरंग बेनाम चिट्ठियाँ’ छपी थी और उस पर पत्र-पत्रिकाओं में काफी समीक्षाएँ आयी थीं और बड़ा यश भी मिला था। बच्चन जी का पत्र भी मिला। उन्होंने लिखा कि वी.पी.पी. से यह पुस्तक मेरे पास भेज दीजिए। वह पुस्तक उन्हें मैंने समर्पित की। इसके माध्यम से उनसे जान-पहचान बढ़ी और उन्हीं दिनों ‘आजकल’ में मेरा एक लेख छपा- ‘रवीन्द्रनाथ टैगोर पर हिंदी का प्रभाव’। चंद्रगुप्त विद्यालंकार ‘आजकल’ के संपादक थे। लेख वहीं छपा था। उस लेख से प्रभावित होकर बच्चन जी ने विद्यालंकार जी से कहा कि इनसे छायावाद पर लेख लिखवाओ। तब संपादक के आग्रह पर मैं किस्त-दर-किस्त लेख लिखता गया और वह ‘आजकल’ में छपता गया। लेकिन प्रकाशन की दुनिया में उन दिनों मेरी कोई औकात नहीं थी। इसलिए

उन दिनों उसे छपाने के लिए भी कोई अच्छा प्रकाशक मुझे नहीं मिला। संयोग से सागर के एक प्रकाशक के साथ मेरा दोस्ताना संबंध बन गया था। उन्होंने मन से उसे छापा। कुछ दिनों बाद वह पुनः ऋषभचरण जैन एवं संतति (नई दिल्ली) से छपा, लेकिन दोनों ही प्रकाशक उस किताब का अच्छी तरह प्रचार नहीं कर सके। अब वह वाणी प्रकाशन से पुनः प्रकाशित हुआ है और उसने इसे अच्छा छापा है।

प्रश्न: आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना की श्रेष्ठता और कमी के बिंदु और उसका मापदंड आपकी दृष्टि में क्या है ?

उत्तर: आचार्य शुक्ल की बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने लोक को बहुत महत्त्व दिया है। भारतीय लोक के आधार पर ही उन्होंने तुलसी, जायसी, सूर के महत्त्व को रेखांकित किया और कबीर को भी जितना सराहा उसका आधार भी लोक-जीवन ही था। इसी लोक की जमीन पर खड़े होकर उन्होंने पश्चिम के साथ अपने यहाँ के तमाम आचार्यों के बल पर मुठभेड़ की और भारतीयता, बल्कि लोक जीवन की शक्ति के आधार पर रचनाओं का आकलन किया। उन्होंने जो साहित्य-सिद्धांत गढ़े, उनमें भी प्रत्यक्ष लोक-जीवन की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उन्होंने काल्पनिक रूप-विधान के साथ प्रत्यक्ष रूप-विधान को भी महत्त्व दिया। लोक में भी उन्होंने प्रयत्नावस्था या जीवन-संघर्ष को विशेष महत्त्व दिया। इसलिए सूर और तुलसी दोनों के लोक-जीवन से गुजरते हुए भी और उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी तुलसी को अधिक चाहा, क्योंकि उनका लोक/प्रयत्नावस्था का लोक है। दूसरे जैसा कि अनेक आलोचकों ने बलपूर्वक कहा है कि शुक्ल जी की रसज्ञता का कोई जवाब नहीं है। रचना के अंतरंग में प्रवेश करके उसके सौंदर्य के अनेक आयामों को उद्घाटित करने की क्षमता, जो शुक्ल जी में है, वह अन्यत्र विरल है। शुक्ल जी वैचारिक रूप में जिन कवियों को पसंद नहीं करते, उनके भी भाव-सौंदर्य की अनदेखी नहीं करते। छायावाद को उन्होंने बहुत पसंद नहीं किया, लेकिन प्रसाद, पंत के काल में जो नयी लाक्षणिकता प्रयुक्त हुई, भाषा के नये-नये संकेत उभरे, उन सबका सबसे प्रथम तथा सबसे सक्षम विश्लेषण शुक्ल जी ने ही किया। शुक्ल जी के समय

तक आलोचना के नाम पर काव्यालोचन की ही प्रमुखता रही, लेकिन शुक्ल जी ने अपने इतिहास में काव्यालोचन को प्रमुखता देते हुए भी साहित्य की अन्य विधाओं पर भी दृष्टिपात किया। थोड़ा ही सही, पर मार्मिक विवेचन किया। मैंने तो उनके कथालोचन पर एक लेख ही लिखा है। जहाँ तक उनकी सीमाओं का सवाल है, सभी लोगों ने कहा है कि शुक्ल जी ने निराला या छायावाद के साथ न्याय नहीं किया। मैं कहना चाहता हूँ कि उन्होंने जानबूझकर यानी किसी प्रकार की वैचारिक पक्षधरता के तहत ऐसा नहीं किया, उन्होंने अपनी पसंद के तहत ही ऐसा किया। पर जो भी हो, यह उनकी सीमा तो है ही। बाद के अनेक आलोचकों ने कबीर, निराला और छायावाद- सबके महत्त्व का जो आकलन किया, उससे शुक्ल जी की सीमाओं की पहचान हो चुकी है।

प्रश्न: आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विषय में तुलनात्मक दृष्टि से आप क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर: पहली बात यह है और सबने यह माना है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना के शिखर हैं, जहाँ तक बाद का कोई आलोचक नहीं पहुँचा। शुक्ल जी ने सिद्धांत-स्थापना और व्यावहारिक आलोचना- दोनों ही क्षेत्रों में बहुत मूल्यवान काम किया है। आलोचक के रूप में द्विवेदी जी का स्थान शुक्ल जी के बाद ही आता है। बाद यानी महत्त्व की दृष्टि से। द्विवेदी जी ने कबीर पर, छायावाद पर नयी दृष्टि से लिखा। निश्चय ही शुक्ल जी की समीक्षा से यह बड़ी समीक्षा थी, साथ ही भक्तिकाल और रीतिकाल की कुछ अलग ढंग से पहचान की, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ तक इतिहास-दृष्टि की बात है, निश्चय ही द्विवेदी जी की दृष्टि अधिक व्यापक है और नवीन भी है, किंतु समग्रता में आचार्य शुक्ल जी का इतिहास अपनी जगह बेजोड़ है। जब हिंदी साहित्य के इतिहास पर द्विवेदी जी की पुस्तक आयी, तब नामवर जी ने उनसे कहा था कि पंडित जी, आपकी पुस्तक आ गई है। पंडित जी ने छूटते ही कहा था, लेकिन शुक्ल जी का इतिहास अद्वितीय है, 'अनपैरेल' है।

प्रश्न: डॉ. साहिब, नंद दुलारे वाजपेयी और डॉ. नगेन्द्र को आप हिंदी आलोचना में कहाँ स्थान देना चाहेंगे ?

उत्तर: वाजपेयी जी का महत्व इस बात में है कि उन्होंने वहाँ से शुरू किया जहाँ शुक्ल जी ने छोड़ दिया और 'हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी' में अनेक नई कृतियों और नये वादों पर बहुत मन से, बहुत गहराई से विचार किया है। उनके विचार-क्षेत्र में कविताएँ तो आयी हों, उपन्यास भी आए। चाहे छायावाद हो चाहे छायावाद के बाद का साहित्य हो, वाजपेयी जी ने उन सब की पहचान करायी। कम-से-कम वाजपेयी जी की चेतना में नवता की धार रही। उन्होंने जो पहले लिखा उसकी तुलना में बाद में उतना अच्छा नहीं दे सके और जहाँ तक सैद्धांतिक आलोचना का सवाल है, यह उनके पास विशेष नहीं है, थोड़ा-बहुत ही लिखा है।

नगेन्द्र जी के दो पक्ष हैं। उनका आधुनिक पक्ष आलोचक का है और परवर्ती पक्ष आचार्य का है। मुझे लगता है, उनके शुरू के जो निबंध थे, वे वाजपेयी जी के शुरू के निबंधों की तरह ही अपने समय के सर्जनात्मक साहित्य की गहरी पहचान कराने की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। वह कवि थे, इसलिए उनकी आरंभिक आलोचना से काव्यात्मक भाषा और कहीं-कहीं रूपकों का भी समावेश मिलता है, जिसे आप उनकी आलोचना के शीर्षकों तक में भी देख सकते हैं। जैसे- 'वाणी के न्याय मंदिर में'। बाद में वह पश्चिमी और भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों की दुनिया में चले गये। स्वयं इन पर नये-नये ढंग से लिखा और संपादन भी किया। रस-सिद्धांत की आलोचना के संदर्भ में इनका काम सर्वोत्तम है, पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सिद्धांतों में जो नवोन्मेष है, जो नया मौलिक विश्लेषण है और संश्लेष है, वह नगेन्द्र जी के विवेचन में भी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए आज के लेखक और आलोचक अपनी सर्जना, चिंतना का जितना गहरा संबंध आचार्य शुक्ल के काव्य-चिंतन से जोड़ पाते हैं उतना नगेन्द्र जी के काव्य-चिंतन से नहीं। नगेन्द्र जी की उपलब्धि यह है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को बहुत स्पष्ट रूप में हिंदी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि नगेन्द्र जी ने नये-से-नये पश्चिमी काव्य-सिद्धांत को समझने और समझकर पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की कोशिश की। जैसे- काव्यबिम्ब, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्य का समाजशास्त्र,

शैलीविज्ञान, नयी समीक्षा आदि। इन्हें तो लोग समझ नहीं पा रहे थे, उन्हें नगेन्द्र जी ने बड़ी सुगमता के साथ समझाया। मूलतः वह भारतीय काव्यशास्त्री थे, इसलिए पश्चिम के नये-से-नये सिद्धांतों को उन्होंने भारतीय चिंतन के परिप्रेक्ष्य में रखा और दिखाना चाहा तथा यह निष्काशित किया कि नये पाश्चात्य चिंतन में भी भारतीय चिंतन ही समाहित है या भारतीय चिंतन नये रूप और नये नामों से इन पश्चिमी सिद्धांतों में आ रहा है।

प्रश्न: हिंदी में मुक्तिबोध और अज्ञेय के प्रशंसकों के दो अलग-अलग शिविर हैं। इन दोनों रचनाकारों की अपनी-अपनी विशेषता और तुलनात्मकता को आप किस रूप में प्रस्तुत करना चाहेंगे ?

उत्तर: अज्ञेय बहुत बड़े लेखक हैं, इसलिए कि वह नवोन्मेष के कवि तो हैं ही, साथ ही बड़े उपन्यासकार, कहानीकार और चिंतक भी हैं। कुल मिलाकर उनका व्यक्तित्व बड़ा बनता है। मैं समझता हूँ कि हमारे समय के जो इने-गिने व्यक्तित्व हैं, उनमें वह एक हैं। जहाँ तक सवाल उनकी कविताओं का है, उनकी आरंभिक कविताएँ छायावादी प्रभाव की हैं, पर बाद में 'इत्यलम्' से उनकी कविताओं में एक नई चमक, नई आभा प्रकट हुई। उससे अज्ञेय का अपना व्यक्तित्व बनना शुरू हुआ। जाहिर है कि छायावादी प्रभाव से मुक्त कविताओं का दौर उनके कथ्य और भाषा में लोकोन्मुखता का दौर है। मैं स्वयं भी लोक को पसंद करता हूँ और यही मेरी शक्ति भी है। एक सर्जक के नाते मैं इसे बहुत महत्व देता हूँ। अज्ञेय की कविताओं में इससे ताकत आनी शुरू हुई। आरंभ की कविताओं में समासान्त पदावलियाँ हैं। बाद में चलकर उनकी भाषा जुड़ती है। कविता जहाँ वास्तव में लोक से जुड़ती है, वहीं वह बड़ी हो जाती है। लोक से जुड़ने का मतलब है वास्तव में लोक को जीना। यानी उसके साथ आपका अनुभवात्मक रिश्ता कितना बड़ा है, यह बात बहुत महत्व की है। अज्ञेय जी बड़े विद्वान रहे हैं। लोक के बारे में जानते थे। देश, लोक को खूब देखा-परखा था, पर मुझे लगता है कि जिसको वह लेते थे, उसको उन्होंने कभी जीया नहीं था। उनकी 'दूर-दूर मैं वहाँ हूँ' कविता में कहीं भी इसका अनुभव नहीं हो पाता है। वह बयान का, Statement का हिस्सा बन जाती है, इस मिट्टी के साथ जुड़ नहीं पाती।

‘असाध्य वीणा’ में प्रकृति के बिम्ब अद्भुत हैं। लगता है, पूरी परम्परा को, अपने परिवेश को अपने में व्याप्त कर लिया है या उसमें सारे-के-सारे व्याप्त हो गये हैं। यह प्रकृति का लोक उनका जाना पहचाना है। बिम्बों में प्रभावशालिता भी है।

जब मैं मुक्तिबोध से उनकी तुलना करता हूँ, तो पाता हूँ कि मुक्तिबोध से वही कविता बनती चलती है। ‘अंधेरे में’ में लगातार संघर्ष से चेतन-अचेतन की एक प्रक्रिया है। अनुभवों और विचारों का हुजूम चलता है। लगता है कि एक बहुत बड़े जीवन्त संसार के भीतर से हम गुजर रहे हैं और अंत में कविता सम्पूर्णता प्राप्त कर लेती है। पर असाध्य वीणा में कवि एक बना-बनाया कथ्य लेकर चलता है। वीणा असाध्य क्यों है और प्रियवंद ने उसे कैसे और क्यों साध लिया, वह इसकी कहानी कहता है। यानी वीणा को साथ लेना ही कविता की चरम परिणति है, जो कि शुरू में ही है, बाकी कविता तो चरम-परिणति को सिद्ध करने के लिए चलती रहती है। इस कविता में इसकी प्रक्रिया में जहाँ तक प्रकृति के आने वाले बिम्ब हैं, वहाँ तक तो कविता बहुत प्रभावशाली लगती है, पर इसमें जीवन की व्यापकता और गहनता नहीं है, जो एक बड़ी प्रभावशाली कविता में होनी चाहिए। पर अज्ञेय की छोटी-छोटी प्रकृतिमूलक कविताएँ मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। जैसे- ‘यह पगडंडी चली लजीली’ आदि। हाँ, अज्ञेय की बहुत-सी चर्चित कविताएँ कुछ अवधारणाओं पर बनी हैं। जैसे- ‘मैं नदी का द्वीप हूँ’ या ‘मुझे भी पंक्ति को दे दो’ सामाजिक अवधारणा पर आधारित हैं।’ पर कुल मिलाकर साहित्यकार के बतौर अज्ञेय मेरे लिए बड़े व्यक्तित्व हैं। यही नहीं, अज्ञेय में मानवीय पक्ष भी बहुत प्रबल है।

प्रश्न: हिंदी की समसामयिक आलोचना से आप कितना संतुष्ट हैं ?

उत्तर: बात हो रही थी हिंदी में शिविरबंदी बहुत भयानक हो गयी है। जब लगता है कि कुछ लोग कुछ लोगों के बारे में ही कुछ कहेंगे, तो आलोचना से बड़ी उदासीनता महसूस होती है। हिंदी आलोचना में तीन-चार मठ बने हुए हैं। उन मठों के प्रभुताशाली लोग अपने-अपने लोगों की किताबें पढ़ते हैं, उन्हीं के बारे में कुछ बोलते हैं, पर अनेक अच्छी

पुस्तकें और रचनाएँ इन मठों से बाहर फैली होती हैं, जो उनके द्वारा उपेक्षित, अनदेखी कर दी जाती हैं। इसके बावजूद कुछ स्वतंत्रचेता आलोचक खुले मन से लिखते-पढ़ते हैं। यह बात दूसरी है कि वे सब-कुछ पर निगाह नहीं डाल पाते हैं, लेकिन जो चीजें उनकी पहुँच होती हैं, उन पर मुक्त मन से विचार करते हैं। जैसे मैं आपकी बात करूँ, तो आप अपनी आलोचना-पद्धति में मुक्त मन से किसी भी श्रेष्ठ रचना या पुस्तक की पहचान करते हैं, कहीं कोई आग्रह लक्षित नहीं होता है। पद्धति शैलीविज्ञान की हो या अन्य कोई पद्धति हो, आलोचक उससे गुजरने के लिए स्वतंत्र है, उसका इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र है। पर मूल चीज यह है कि वह अपनी पद्धति से निश्छल भाव से कितनी व्यापकता और गहराई तक पहुँच पाता है और कृतियों की मूल संवेदना को कितना उजागर कर पाता है।

प्रश्न: डॉ. साहिब आप अपनी रचनाओं के विषय में, उनकी विधागत रचना-प्रक्रिया आदि के विषय में कुछ कहना चाहेंगे ?

उत्तर: असल बात यह है कि शीतांशु जी, मैंने यह कभी सोचा ही नहीं कि मैं यह लिखूँगा वह लिखूँगा, बल्कि जीने और लिखने की प्रक्रिया में मैं नयी-नयी रचना-विधा के साथ होता गया। आज मैं यह महसूस करता हूँ कि इस वय में ऊँची कूद नहीं कर सकता हूँ, बस, आहिस्ता-आहिस्ता चल सकता हूँ। इसलिए आजकल मैं अपने दैनिक जीवन के अनुभवों को डायरी में उतार रहा हूँ। मुझे लगता है कि मैं अपनी शक्ति भर अपना अच्छा दे चुका हूँ।

मैं ‘अपने लोग’ को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानता हूँ। पर अपने पाठकों के साथ ‘जल टूटता हुआ’ को भी समान महत्व देता हूँ। असल बात तो यह है कि शीतांशु जी कि मैंने हर प्रकार के लेखन से संतुष्टि प्राप्त की है। लंबे आकार वाले तीन-चार उपन्यास दिए, आत्मकथा दी। मुझे लगता है कि आत्मकथा के रूप में यह बड़ा उपन्यास ही है, जिससे मेरे बचपन से लेकर आज तक के समय में व्याप्त परिवेश की विविधता का चित्रण हुआ है। यह मेरी राम-कहानी नहीं है, यह एक सामाजिक दस्तावेज भी है। श्रीलाल शुक्ल ने एक बार कहा था कि अरे मिश्र जी, तुम्हारी आत्मकथा तो शिक्षा-जगत् का इतिहास बन गयी

हैं। अगर आत्मकथा अपने जीवन की घटनाओं और प्रसंगों की कहानी मात्र है, तब तो वह गौण ही मानी जाएगी।

लंबे आकार के लेखन के साथ-साथ मैंने छोटी-छोटी कविताएँ लिखी, गीत लिखे, गज़लें लिखी, कहानियाँ लिखी, निबंध लिखे और बहुत-कुछ लिखा। तीन-चार लंबी कविताएँ तो हैं ही, काफी लंबी कविताओं के अलावा कुछ कम लंबी कविताएँ भी हैं। लगता है, मैंने अपने को अपने प्रकारों में, अनेक रूपों में व्यक्त किया है। मुझे अब यह तड़प नहीं है कि मैं यह नहीं लिख सका और न यह है कि कल मैं महान् लिखूँगा।

प्रश्न: इन सब में आपको आत्मिक संतुष्टि कहाँ हुई है? इनमें से आप किससे ज्यादा तृप्त हुए हैं?

उत्तर: हाँ, कविता मेरा प्रथम प्यार है, चिरन्तन घर है। कविता लिख लेने के बाद गहरा सुख मिलता है, जैसे मेरे भीतर जाड़े की धूप खिल गई हो। रचना की तृप्तियाँ भी छोटी कविता का भी अद्भुत सुख मिला। यदि एक बड़ा उपन्यास पूरा हुआ तो अद्भुत सुख मिला। लेखन की प्रक्रिया में लेखक जितनी अधिक यातना सहेगा सुख भी उतना ही बढ़ा होगा। बड़े उपन्यास के बाद एक लंबी यात्रा के बाद की विश्रान्ति मिलती है। उपन्यास लिखता हूँ, तो मैं उसमें रम जाता हूँ। वह तृप्ति एक लंबे समय के बाद की तृप्ति होती है।

प्रश्न: मीडिया और साहित्य के अन्तस्संबंध या संघर्ष को लेकर आप कुछ कहना चाहेंगे?

उत्तर: इधर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर जो कुछ आ रहा है, वह ऐसा नहीं है कि सही साहित्य-पाठकों को वह जीवन-दृष्टि प्रदान कर सके। साहित्य के पाठक भी दो तरह के होते हैं- (१) मनोरंजन के लिए पढ़ने वाले पाठक (२) जीवन की गहरी समझ के लिए पढ़ने वाला पाठक। मीडिया मनोरंजन का आसान विकल्प दे रहा है। अतः मनोरंजन के लिए साहित्य पढ़ने वालों की रुचि साहित्य पढ़ने में नहीं रहती। लेकिन दूसरे प्रकार के प्रबुद्ध पाठक साहित्य को आत्म-साक्षात्कार के लिए, जीवन-सत्य के लिए, एक बड़े उद्देश्य के लिए पढ़ते हैं। वे साहित्य पढ़ेंगे ही, क्योंकि उन्हें वहाँ जो महसूस होता है, वह मीडिया में नहीं है।

संपर्क: 'साई कृपा', 58, लाल एवेन्यू, डाकघर: रेयॉन एंड सिल्क मिल, अमृतसर-143005 (पंजाब), मो. 09780617981

प्रश्न: आज उपसंस्कृति-परक अस्मिता के विरोध में उभरे दलित-साहित्य और स्त्री-विमर्श के आंदोलन के विषय में कृपया अपनी धारणा से अवगत कराएँ?

उत्तर: अब तो दलित लेखन वही है जिसे दलित लेखक लिख रहे हैं। यह काफी नया है कि दलित लोग अपने बाप-दादा की भोगी हुई कहानी कह रहे हैं। उनकी प्रामाणिक जिंदगी हमारे सामने आ रही है। नये तथ्य, नये ज्ञान का उल्लेख हो रहा है। इसमें कितना कालजयी होगा कितना नहीं, यह कहना बहुत जल्दीबाजी होगी। नया भावबोध, नयी मूल्य-चेतना भी आ रही है। वे ईश्वर, धर्म-परंपरा को लात मार रहे हैं। पर साहित्यिक उपलब्धि के रूप में इनके विषय में भविष्यवाणी करना कठिन है।

इसी तरह स्त्री के बारे में स्त्री द्वारा लिखा गया साहित्य ही स्त्रीवादी साहित्य है। पर पुरुषों ने भी स्त्री के विषय में लेखन किया किंतु उसे स्त्री-विमर्श के अंतर्गत जो साहित्य परिगणित हो रहा है उसमें कइयों के कालजयी होने की संभावना है। लेखिकाएँ निश्चय ही स्त्री-जीवन या व्यक्तित्व के उन आयामों को उठा रही हैं जो अब तक उपेक्षित हैं।

प्रश्न: डॉ. साहेब, अंत में मैं आपसे यह जानना चाहूँगा कि आज साहित्य के लिए आपकी दृष्टि में कौन-सी बड़ी चुनौती है?

उत्तर: आज साहित्य की चुनौतियाँ जहाँ तमाम चीजों से हैं, वही स्वतः साहित्य से भी हैं। आप मानेंगे कि साहित्य में एक खास मंडी बन गयी है। इस गिरोहवाद ने साहित्य की व्यापकता को काटा और क्षरित किया है। इसने तमाम अच्छे लेखकों को काट दिया है। पर जिनको वे केन्द्र में रखते हैं उनमें से कइयों को पाठक पढ़ता ही नहीं है।

दूसरे, एक बड़ी चुनौती अंग्रेजी साहित्य के दबाव की है। आज प्रचार और विज्ञापन बहुत बढ़ गया है। अंग्रेजी साहित्य का बाजार अन्तर-राष्ट्रीय है। हिंदी के साहित्य का अनुवाद अंग्रेजी में किया जाता है, वहाँ भी गिरोह के माध्यम से ही यह सब होता है। इससे अनेक अच्छी पठनीय पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं हो पाता। आज लेखकों को इन दोनों ही प्रकार की चुनौतियों का सामना करने, मुकाबला करने की जरूरत है।

हिंदी आलोचना और उसके आर-पार:

डॉ. 'शीतांशु' से साक्षात्कार : प्रदीर्घ चिंतन की मंजूषा

डॉ. अर्चना पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग

खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता

‘हिंदी आलोचना और उसके आर-पार: डॉ. ‘शीतांशु’ से साक्षात्कार’ साक्षात्कार विधा में साहित्य की अन्य एवं सर्वाधिक सशक्त विधा ‘आलोचना’ पर केंद्रित है। फलतः उक्त पुस्तक की समीक्षा से पूर्व ‘साक्षात्कार-विधा’ तथा ‘पुस्तक समीक्षा’ दोनों पर कतिपय संदर्भों में परिचयात्मक ज्ञान समीचीन है।

प्रथमतः साक्षात्कार का विकास एक विधा के रूप में सर्वप्रथम साहित्य में हुआ। हिंदी में बनारसीदास चतुर्वेदी ने ‘विशाल भारत’ के सितंबर १९३१ के अंक में रत्नाकर जी से हुई बातचीत को प्रकाशित किया, जिससे इसका आरंभ हुआ।

साक्षात्कार में संवाद प्रणाली कार्यरत रहती है जिसमें वाग्मिता (Speech-communication) का होना अनिवार्य है। वर्तमान समय में साक्षात्कार (Interview) अत्यंत प्रसार पा चुका है। यह मीडिया, रोजगार, अनुसंधान तथा व्यवसाय के विविध क्षेत्रों के लिए होता है। किंतु, साहित्य के क्षेत्र में यह अत्यंत व्यापक रूप में प्राप्त होता है, इस क्षेत्र में यह विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित होता है और एक ही विषय पर अनेक प्रकार के उत्तरों को सगुंफित करता चलता है तथा उक्त क्षेत्र में यह व्यक्ति और विषय केंद्रित होता है।

तद्विषयक वैशिष्ट्य की सोद्देश्यता का परिज्ञान साक्षात्कृत (विधा चूँकि प्रश्नोत्तर प्रणाली में है। अतः हम साक्षात्कारदाता को लेखक कहने की स्वतंत्रता नहीं ले सकते) (साक्षात्कारदाता) के कथन में निहित है- ‘मेरे भीतर कुछ ऐसा है, जो मेरे द्वारा न तो अब तक बोला जा सका है और न अब तक लिखा ही जा पाया है। इस कुछ में ऐसा तथ्य है, तो सत्य भी है, ज्ञान है, तो मेरा अपना दृष्टिकोण भी है। पर ये मेरे प्रत्येक वाचिक और लिखित माध्यम की मर्यादा के कारण अब तक अभिव्यक्त ही रहे हैं। इन्हें पूरी तरह न तो मेरी जिह्वा स्वर दे पायी है और न मेरी लेखनी ही रूपाकार। इसलिए आज से दो दशक पहले इसे अभिव्यक्त करने की आकुलता मेरे अन्तर्मन में पहली बार प्रकट हुई।... तभी मुझे लगा कि यदि कोई प्रबुद्ध पात्र मुझसे साहित्य से जुड़े प्रश्न समुचित रूप में करे और मेरा साक्षात्कार ले ले, तो यह रहा सहा अनकहा मेरे जीवन में ही मेरे द्वारा कह दिया जायेगा।’ (हिंदी आलोचना और उसके आर-पार: डॉ. शीतांशु से साक्षात्कार, पृ. ०६)

तात्पर्यार्थ यह कि ‘अनकहा’ जब ‘कथन’ रूप में परिणत हुआ तो ‘समालोचना’ को ही समालोचित कर गया; जिसमें ‘आलोचना’ स्वरूप, विकास और अवदान तीनों ही पक्ष ‘तत्त्वमयी’ रूप में उद्भासित हुए हैं।

द्वितीयतः ‘पुस्तक-समीक्षा’ की वर्तमान समय में अन्य ज्ञानानुशासनों के सापेक्ष हिंदी में जो स्थिति है उसका संज्ञान भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है। अन्य ज्ञानानुशासनों में कृति समीक्षा एक महत्वपूर्ण विधा है।

किंतु साहित्य में इसका जो अर्थ ध्वनित होता है वह है 'कृति-प्रशंसा' जिससे पुस्तक 'अति चर्चित' हो और अधिकाधिक 'प्रचार-तंत्र' से निबद्ध हो सके। वर्तमान समय में कृति-समीक्षा की जो धारा हिंदी में पल्लवित, पुष्पित हो रही है इस ओर संकेत समीक्ष्य कृति में प्राप्त होता है- 'हिंदी आलोचना में कृति-समीक्षा का स्तर बहुत सतही किस्म का है और राग-विराग से जुड़ा हुआ है। फलतः इसमें आलोचनधर्मिता का सम्यक निर्वाह नहीं हो पाता। किसी-कृति को घटिया सिद्ध करना या किसी कृति को बढ़िया घोषित करना जैसे समीक्षक का लक्ष्य होता है।' (वही, पृ. १७) शीतांशु जी ने तो केवल 'राग-विराग को संकेतित किया है, किंतु एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ने एक अन्य सत्य को भी उद्घाटित किया है- "Literary criticism vary widely ranging from the reviewing of books as they are published to systemetic theoretical discussion. Though reviews may some times determine whether a given book will be widely sold, many works succeed commercially despite negative reviews, and many classic works, have aquired appreciative public long after being unfavourably reviewd and at first neglected." (The new Encyclopaedia Britannica- vol-23, Macropaedia 15th edition-1992, page 194) अर्थात् 'पुस्तक-समीक्षा' 'क्रय-विक्रय' को भी ध्यानांकित कर की जाती है।

इतनी प्रदीर्घ भूमिका लिखने के परिपार्श्व में यही कारण निहित है कि हिंदी समीक्षा-क्षेत्र में पुस्तक समीक्षा को 'सतही' रूप से लिया जाता है, जबकि समीक्षक को सम्यक विश्लेषणीय दृष्टि द्वारा उसमें निहित मर्म का उद्घाटन कर मूल्य-निर्णय करना चाहिए। बहरहाल अब कृति का सांगोपांग समीक्षण अपेक्षित है। यद्यपि समीक्ष्य कृति की समीक्षा मेरे लिए यदि तुलसी के शब्दों में कहें तो 'जिमि पिपीलिका सागर थाहा ही है' तथापि 'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु व्याल।' साक्षात्कृत (साक्षात्कारदाता) की रचनाओं में जिस प्रकार अनेकायामी (Many dimensional) पाठालोचन प्राप्त होता है उसी प्रकार उक्त मुद्रित साक्षात्कार भी विविधायामी गवाक्षों का उद्घाटन करती है।

समीक्ष्य कृति को यदि 'सामान्य कृति समीक्षा' की भाँति अध्यायों के माध्यम से वर्णित किया जाए तो यह प्रश्नोत्तर पूर्वा-१ से प्रश्नोत्तर अनुक्रमणिका तक मूल ग्यारह अध्याय के साथ १५ अध्यायों तक प्रसरित है किंतु यदि इसकी मूल भित्तिक आधारभूत संप्रणाली की बात की जाए तो विवेच्य कृति में काव्यशास्त्र, दर्शन, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, हिंदी-समीक्षा शास्त्र, अद्यतन हिंदी एवं पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र एवं नव-विकसित मानदण्डों से संबंधित गहन-चिंतन परक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है।

साक्षात्कृत ने विभिन्न आलोचना की प्रणाली, प्रवृत्ति, दृष्टि आदि को केंद्रित कर प्रश्नों के उत्तर दिए हैं- ऐतिहासिक, व्यावहारिक, तुलनात्मक, सैद्धांतिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, मिथकीय, फंतासीपरक आलोचना, समाजशास्त्रीय, सर्जनात्मक, निर्वचनात्मक आलोचना आदि तथा मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, गांधीवादी, मनोविश्लेषणवादी, संरचनावादी, शैली वैज्ञानिक, सौंदर्यशास्त्रीय, रूपवादी, विसंरचनावादी, विमर्शवादी आलोचना के साथ शिविर-बद्ध एवं शिविर-मुक्त आलोचना को केंद्रीकृत किया है। अन्तरज्ञानानुशासनीय आलोचना को भी परिभाषित किया है साथ ही प्रत्यालोचना एवं आलोचना का पार्थक्य भी दर्शाया है। इस वर्गीकरण के साथ ही वे काव्यालोचक, कथालोचक, नाट्यालोचक जैसे विधागत आलोचकों को भी वर्गीकृत करते चलते हैं, जिससे पाठक की समझ परिष्कृत होकर दृष्टि की वैकासिक अवस्था का परिचायक बन सके।

उपर्युक्त समस्त समालोचकीय मानदण्डों के विवेचन के क्रम में उनकी मूल्य-मीमांसा परक दृष्टि सर्वत्र व्यंजित हुई है। अतः आलोच्यकृति में प्रसरित साक्षात्कृत की अन्वेषण परक, तलस्पर्शी, अन्तर्विश्लेषणीय दृष्टि के द्वारा उपर्युक्त प्रणालियों, प्रवृत्तियों, दार्शनिक-मतों एवं अद्यतन समकालीन आलोचन पद्धतियों पर प्राप्त उनके अभिमतों का क्रमशः समीक्षण अपेक्षित है।

प्रथमतः साक्षात्कृत ने समकालीन आलोचना के समक्ष उपस्थित चुनौतियों को आकलित करते हुए निम्न बिंदुओं का रेखांकन किया है-

१. आलोचक के पास समीक्षा-विवेक हो, जिससे वह वर्तमान हिंदी आलोचना के यथार्थ को ज्ञापित कर सके। जिसका उल्लेख उन्होंने मिथकीय आलोचना के समक्ष उपस्थित संकट को केंद्रित कर किया है- "हिंदी की

मिथकीय आलोचना रचना में प्रयुक्त मिथक के अर्थों को ही नहीं खोल पायी है। चाहे वहाँ मिथक के पुनस्सर्जन की स्थिति है या वहाँ मिथक-भंजन किया गया हो। इन सिद्धांतों के मॉडल को रचना पर लागू करते हुए, उनके निहितार्थों तक को उद्घाटित नहीं किया जा सका है। हुआ बस इतना भर है कि उन सिद्धांतों का उदाहरण खोज-खोज कर निकाल दिए गए हैं। पर जब तक मॉडल के आधार पर पूरी रचना की परीक्षा नहीं हो जाती तब तक न तो इनकी सैद्धांतिक-सफलता घोषित की जा सकती है और न आलोचक अपने दायित्व और कर्तव्य की सार्थकता प्राप्त कर पाता है। यह भी समकालीन हिंदी आलोचना के लिए एक बड़ी चुनौती है। (वही, पृ. २२)

२. पुरस्कार हेतु कृति-निर्णय में निष्पक्षता का आधार हो।

३. लेखकीय संघों से अलग हटकर आलोचन कर्म करने वाले आलोचकों की पहचान हो।

४. अनुवाद-कर्म का सटीक ज्ञान हो, इसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है- “आज हिंदी आलोचना अपने सिद्धांत पक्ष के लिए अनुवाद पर निर्भर है। पश्चिम में जो चिंतन पहले फ्रांसीसी भाषा में आता है वह अंग्रेजी में अनूदित होता है, फिर वह अंग्रेजी से हिंदी में आता है। पर हिंदी में ऐसे आलोचकों का अभाव है, जो नए सिद्धांतों को पढ़कर इसका ठीक-ठीक अनुवाद कर सकें।” उदाहरणार्थ उन्होंने कहा है- “उत्तर-आधुनिकता पर लिखते हुए डॉ. सुधीश पचौरी ने भाषा-विज्ञान के दो पारिभाषिकों- १. Paradigmatic और Syntagmatic की मूल अवधारणा को उलट दिया है। ऐसे अधिकचरे अनुवाद से या मूल की गलत समझ से हिंदी के पाठकों को दिग्भ्रांत होने से बचना भी समकालीन आलोचना की चुनौती है। (वही, पृ. २३-२४)

५. साक्षात्कृत ने प्रसिद्ध, महत्वपूर्ण एवं कालजयी रचनाओं के मर्मोद्घाटन को भी समकालीन आलोचना के समक्ष चुनौती के रूप में स्वीकारा है। इसका उल्लेख उन्होंने, ‘गोदान’, ‘पूँस की रात’, ‘कफन’, ‘ईदगाह’, ‘कामायनी’, ‘राम की शक्तिपूजा’, ‘तोड़ती पत्थर’ तथा ‘असाध्य-बीणा’ आदि के संदर्भ में किया है।

६. वर्ण्य हिंदी-आलोचना के समक्ष ‘पाठकों की कमी’ होना भी एक चुनौती ही है, क्योंकि इन पाठकों का त्रि-वर्गीय आधार है। एक वर्ग विद्यार्थी, शोधार्थी तथा अध्यापकों

का है। दूसरा वर्ग शिविर बद्ध आलोचकों का है तथा तीसरा वर्ग सर्जनात्मक साहित्य के रचनाकारों का है।

७. हिंदी आलोचना को ऐतिहासिक स्तर पर तीन चरणों में विभक्त किया है-

प्रथम चरण में विषयनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ आलोचना होती थी रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी तथा डॉ. नगेन्द्र इस कोटि के आलोचक हैं। द्वितीय चरण में प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) आलोचना का विकास हुआ तथा तृतीय चरण में हिंदी आलोचना प्रणालियों पर आधारित हुई किंतु रचना की सही समझ विकसित नहीं हो पाई। अतः यह एक रेखांकन योग्य चुनौती है।

८. पूर्वनिर्मित समस्त भारतीय-पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय एवं सौंदर्य शास्त्रीय मानदंड मात्र सिद्धांत के रूप में ही लागू हुए हैं। उनका प्रयोग कर किसी कृति का मूल्यांकन नहीं हुआ है। अतः समकालीन समीक्षा के समक्ष यह भी एक बड़ी चुनौती है। उदाहरणार्थ- “हिंदी में पश्चिमी सैद्धांतिक आलोचना को लेकर समकालीन आलोचकों ने अपने जिस ज्ञान का प्रदर्शन किया है, उसमें ऐसे प्रयास भी देखने को मिले हैं, जहाँ मूल अवधारणागत समझ ही आलोचकों को नहीं है, फिर भी वे इस विषय पर लिखने के लिए कटिबद्ध हैं। वे न केवल लिखते जा रहे हैं, बल्कि वैसे सैद्धांतिक विषय पर शोध-निर्देशन का गहन दायित्व भी संपन्न कर रहे हैं। पश्चिमी सिद्धांतों का अध्ययन करते समय हिंदी के आलोचकों को एक साथ अपने सैद्धांतिक चिंतन के तुलनात्मक संदर्भ में उसे समझने-परखने की अपेक्षा है, तो दूसरी ओर उसकी अनुप्रयोगात्मक शक्ति-सीमा पर भी विचार करने की अपेक्षा है और यह कार्य तब तक संपन्न नहीं हो सकता जब तक उसे किसी रचना पर लागू कर परखा न जा सके। इस दृष्टि से भी इन दोनों साहित्य सिद्धांतों की बुनियादी स्वरूपगत मान्यताओं, अवधारणाओं, प्रवृत्तियों, अभिलक्षणों, घटकतत्त्वों और कार्यप्रणालियों को समझने की अपेक्षा है। हिंदी में चाहे शैलीवैज्ञानिक आलोचना पर लिखा गया है, या तथाकथित विसंरचनावादी या विखंडनवादी (Deconstructionist) आलोचना पर लिखा गया है, मेरे द्वारा कथित ये कमियाँ इन दोनों में भी प्राप्त होती हैं। (पृ. ४१)

९. आलोचक को आलोचन दृष्टि से संपन्न होना चाहिए। एक समर्थ आलोचक की विशिष्टताओं की ओर संकेत

करते हुए साक्षात्कृत ने कहा है- “आलोचन कर्म करने वाले आलोचक को पहले इस दृष्टि से संपन्न होना पड़ता है...साहित्य संवेदना विहीन और भावकत्व विहीन आलोचक चाहे जिस किसी आलोचना-प्रविधि का सहारा ले ले वह आलोचन कर्म सम्पन्न नहीं कर सकता।” (वही, पृ. ४२) अतः प्रविधि समर्थ नहीं होती अपितु आलोचन-दृष्टि समर्थ होती है। इसकी भी परिगणना समकालीन आलोचना की चुनौतियों के क्षेत्र में करनी चाहिए।

१०. समकालीन हिंदी आलोचना के समक्ष मूल्य-मान-निर्णय का भी गहरा संकट है। उनके अनुसार- “निश्चय ही समकालीन हिंदी आलोचना की चुनौती मूल्य की भी है। पिछले वर्षों में उत्तर-आधुनिक प्रभाव छाया में जो कुछ उत्तरआधुनिक साहित्य पर लिखा गया है उसकी आलोचना करते समय आलोचकों ने मूल्य के अतिक्रमण पर ही ध्यान रखा है मूल्य-निरूपण और मर्यादा के पक्षधर के रूप में वे सामने नहीं आए हैं। भारतीय समाज की जो संरचना रही है उससे आगे आकर यह समाज बाह्य प्रभावों से एक सीमा तक प्रभावित भी हुआ है। पर भारतीय संस्कृति और परंपरा के अनुरूप आलोचकों को यह देखने की भी आवश्यकता है कि भारतीय मूल्यों का बिलकुल ध्वंस न हो जाए। आलोचकों को मूल्य-ध्वंस (Axioclasm) करने वाले रचनाकारों पर अंकुश लगाने की भी आवश्यकता है, न कि उसका बढ़-चढ़कर गुणगान करने की। कभी नई कहानी के प्रवक्ताओं ने जैनैन्द्र के कथा-साहित्य को कथा-लेखन में हिंदी का रीतिकाल कहा था, पर आज जब समसामयिक लेखन में घोर रीतिकाल चल रहा है तब कोई क्यों नहीं बोल रहा है? जब उत्तर-आधुनिकता के स्वरूप और अवधारणा को लेकर आज से एक दशक पूर्व हिंदी में विचार-विमर्श आरंभ हुआ था तब विवेचकों ने मूल्य-मर्यादा की बात उठायी थी। पर सर्जनात्मक लेखन की विशिष्ट कृतियों के संदर्भ में आलोचक चुप क्यों लगा जाते हैं?” (वही, पृ. ४४)

११. साक्षात्कृत ने अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना की सम्यक भूमिका का निर्वाह न हो पाने पर भी प्रकाश डाला है- “हिंदी आलोचना ने संदर्भ-विशेष में अनुसंधान की प्रेरणा देने का प्रयास तो किया है। पर अनुसंधान धर्मिता का दायित्व बोध कराने वाली आलोचना प्रत्यक्षतः हिंदी में

विरल ही रही हैं।” (वही, पृ. ४९) यह एक चुनौती बनी हुई है।.....- “आज हिंदी आलोचना के क्षेत्र में ऐसी पुस्तकें लिखी जा रही हैं, जो नकल ही नहीं, नकल की भी नकल हैं। पाँच-छह पुस्तकों से सामग्री और संदर्भ उठाकर एक नयी पुस्तक लिख ली जाती है और इसे प्रकाशित करवा लिया जाता है। इसका उद्देश्य लेखक का आलोचक के रूप में प्रतिष्ठापित होना नहीं होता, बल्कि कॉलेज में लेक्चरशिप प्राप्त करना, प्रमोशन से रीडर पद प्राप्त करना होता है। हिंदी आलोचना में यह सर्वाधिक भ्रष्ट किस्म का लेखन है, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नियमावली के तहत बाध्य होकर किया जाता है। इसके लिए उन्हें प्रेरणा देने वाले उनके अध्यापक या गुरुजन ही होते हैं। यह आलोचनात्मक लेखन ठीक वैसा ही है जैसे आर्थिक जगत में कालाधन (Black Money) की दुनिया होती है, जो सामान्य अर्थव्यवस्था के समानान्तर दूसरे नंबर की अर्थव्यवस्था बनाती है। ऐसे आलोचनात्मक लेखन को न केवल नियंत्रित करने, बल्कि पूरी तरह निरुत्साहित करने की अपेक्षा है।” (वही, पृ. ५०)

१२. साक्षात्कारदाता ने आलोचना की भाषा को भी समकालीन आलोचना के समक्ष एक समस्या एवं चुनौती दोनों ही रूपों में वर्णित किया है। यथा- “उसमें (भाषा) वर्गीकरण, विश्लेषण और विवेचन की प्रामाणिकता होनी चाहिए। उसे न तो काव्यात्मक होनी चाहिए, न ही रूपात्मक या आलंकारिक। हाँ कभी-कभी सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से ऐसी तर्क सम्मत स्थापना अवश्य की जा सकती है, जहाँ सूक्ति-भाषा और स्थापनागत व्यवस्था की गुंजाइश हो। ...आलोचना न तो कविता की भाषा में लिखी जा सकती है और न कथा-साहित्य या नाट्य-साहित्य की भाषा में।... आलोचना की भाषा के संबंध में मैं शुक्ल जी की मान्यताओं के साथ खड़ा हूँ और नामवर जी की मान्यताओं के पक्ष में बिलकुल नहीं हूँ, क्योंकि ऐसा करना मैं आलोचना के ज्ञानानुशासन की हत्या मानता हूँ।” (वही, पृ. ५१-५२)

१३. हिंदी की वर्तमान आलोचना की समस्याओं की ओर ध्यानाकृष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि आलोचना के लिए एक प्रकार की निरपेक्षता यानी पूर्व ग्रहणीयता और दृष्टि-अन्वेषिता अपेक्षित होती है। हिंदी की वर्तमान आलोचना में इसका अभाव है।

...इसमें एक जबरदस्त बाधा है बाड़े बंदी और शिविरबंदी की।...कविता जिस तरह सहज स्फुरित होती है, कहानी या उपन्यास का प्लॉट जिस तरह रचनाकार के भीतर तैयार होता चलता है, उस प्रकार सर्जनात्मक आलोचना बिना साहित्य को पढ़े और सैद्धांतिक आलोचना बिना शास्त्र का गहन मंथन किये नहीं लिखी जा सकती।

काव्य-सर्जना के क्षेत्र में जो स्थान कभी भाटों, चारणों का रहा है या गलाबाज कवि सम्मेलनी कवियों का रहा है, वही स्थान आज हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचकों का है, पर यह कथ्य भी उनके लिए एक विशेष प्रकार का होना चाहिए, जिसको वे अपने पारिभाषिक में सामाजिक यथार्थ कहते हैं। इसके साथ ही रचना में मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिए। यह प्रतिबद्धता विचारधारा के प्रति होनी चाहिए। साहित्य में बस आधार ही महत्वपूर्ण है, अधि संरचना (Super Structure) का वहाँ महत्व नहीं है। कभी रीतिकाल में ठाकुर को यह कहना पड़ा था- 'डेल सो मेलत बनाय आत। सभा के बीच। लोगन कवित्त कीबो खेल करि जान्यो हैं।' आज यही स्थिति मार्क्सवादी साहित्य के तथाकथित म्रष्टा और तथाकथित आलोचकों की है।

मैं यह नहीं कहता कि मार्क्सवाद के आधार पर आलोचन-धर्मिता का निर्वाह नहीं किया जा सकता। पर मार्क्सवाद में साहित्य को समझने की तो अन्तर्दृष्टि है, उस ओर जाने का अवकाश और उसकी चिंता हिंदी के आलोचकों को नहीं है। वे टेरी इगलटन और जैम्सन का नाम जानते हैं अपने को उनका अध्येता सिद्ध करने के लिए वे समय-समय पर उनको उद्धृत भी कर देते हैं। पर उनके आलोचन-कर्म जैसी ईमानदारी और गहराई हिंदी के आलोचकों में नहीं है। साहित्य को समझने के लिए टेरी इगलटन, जो घटक-तत्त्व सामने रख चुका है, उसके बारे में हिंदी के किसी मार्क्सवादी आलोचक ने उस पर अमल करना और लिखना तो दूर रहा, उसका सूत्र-संकेत भी नहीं दिया है।" (वही, पृ. ५५-५७)

वर्तमान समय में केवल उपर्युक्त समस्या ही नहीं है अपितु 'कृति-समीक्षा' का सतही मूल्यांकन और सैद्धांतिक आलोचना के पुनर्मूल्यांकन की समस्या की ओर भी संकेतित किया गया है।

१४. साक्षात्कृत ने भारतीय काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर भी समकालीन समय में साहित्य का मूल्यांकन न हो पाने की प्रवृत्ति को भी समकालीन आलोचना की चुनौतियों में से स्वीकारा है और उनका मानना है कि काव्यशास्त्रीय आधार पर नवीन एवं अद्यतन कृतियों का विश्लेषण संभव है, जिसे उन्होंने व्यक्त करते हुए कहा है- "हिंदी में यह कहा गया है कि नई कविता के लिए अलग से प्रतिमान चाहिए। फिर यह बताया गया कि मुक्तिबोध जैसे कवि के काव्य के लिए बिलकुल अलग प्रतिमान की आवश्यकता है और आलोचकों ने कविता के नए प्रतिमान की भी बात कर डाली। पर नयी कविता के आलोचन-क्रम में पुराने प्रतिमानों से भी उसके वैशिष्ट्य को उजागर किया जा सकता है। इस दिशा में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी और डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर नयी कविता का विश्लेषण-विवेचन कर दिया है, जबकि नयी कविता के प्रतिमान के आधार पर उसकी इतनी तलस्पर्शी आलोचना आज तक संभव नहीं हो सकी है। इसी तरह मुक्तिबोध के काव्य के आधार पर अब तक नए प्रतिमान नहीं गढ़े जा सके हैं। हिंदी में इतने सारे मार्क्सवादी आलोचकों के रहते हुए भी मुक्तिबोध के काव्य का विवेचन उस आलोक में नहीं किया जा सका है।" (वही, पृ. ७२)

उपर्युक्त विश्लेषणोपरांत साक्षात्कृत द्वारा हिंदी के आधार-भित्तिक आलोचकों के प्रद्वेय को एवं उनके सांगो-पांग मूल्यांकन के क्रम में जो दृष्टि प्राप्त होती है उसका समीक्षण समीचीन है। प्रो. शीतांशु ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. नगेन्द्र तथा नामवर सिंह के आलोचन-क्षेत्र में किए गए 'कृत-कार्य' का सम्यक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जिसके लिए एकाध प्रमाण संगत है- "आलोचकीय दायित्व भी एक नैतिक दायित्व है। इस दायित्व का सर्वाधिक निर्वाह मेरी दृष्टि में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया है। इसके निर्वाह में द्विवेदी जी से यत्र-तत्र स्खलन हुआ है। पर वाजपेयी जी से हुए ऐसे स्खलनों को दोनों ध्रुवांतों में देखा जा सकता है।..." किंतु "रामविलास जी अधीती व्यक्तित्व हैं।"

रामविलास जी मार्क्सवादी दार्शनिक हैं। वह साहित्य का मूल्यांकन मार्क्सवाद की कसौटी पर करते हैं। पर कहीं भी साहित्य की संवेदना को उसकी साहित्य धर्मिता को कुचलकर नहीं।” (वही, पृ. ८५, ८७-८८)

साक्षात्कृत ने नलिन विलोचन शर्मा के आलोचनात्मक प्रदेय के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्यों का प्रकाशन किया है- “वह अधीती पुरुष थे, शास्त्रज्ञ थे, पर आलोचन-कर्म के लिए वह रचना पर ही केंद्रित रहते थे। हाँ, हिंदी में अंतर-ज्ञानानुशासनात्मक आलोचना का आरंभ करने वालों में वह उसके आद्यपुरुष भी थे।” (वही, पृ. ९०)

जहाँ तक प्रणालीबद्ध आलोचना और आलोचकों का प्रश्न है, तो साक्षात्कारदाता ने हिंदी आलोचना के परिप्रेक्ष्य में इन पद्धतियों और उनके जुड़े आलोचकों का सम्यक समीक्षण प्रस्तुत किया है। इन प्रणालीमूलक आलोचकों में बच्चनसिंह, शिवकुमार मिश्र, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, नंदकिशोर नवल, मैनेजर पांडेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल, सुधीश पचौरी, चंचल चौहान, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, विद्यानिवास मिश्र, कृष्ण कुमार शर्मा, डॉ. नगेन्द्र, कुमार विमल, रमेश कुंतल मेघ, निर्मला जैन, रामस्वरूप चतुर्वेदी, वीरेन्द्र सिंह, आनंद प्रसाद दीक्षित, राममूर्ति त्रिपाठी, देवेन्द्रनाथ शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, माता प्रसाद गुप्त, सियाराम तिवारी, इन्द्रनाथ चौधरी, ओशो, आचार्य विष्णुकांत शास्त्री, गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ. सत्येन्द्र, डॉ. गोविंद चंद्र पाण्डेय, चंद्रकांत बादिवडेकर तथा नंदकिशोर आचार्य प्रभृति आलोचकों के आलोचन-कर्म का सम्यक एवं सांगोपांग विवेचन किया है, जिससे इन समीक्षकों के वैशिष्ट्य का निरूपण हो सका है और अनेक भ्रांतियों का निराकरण भी।

समीक्ष्य-कृति में साक्षात्कृत के द्वारा एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन हुआ है, आलोचकों के विधायी वर्गीकृत रूप में। उन्होंने काव्यालोचक, नाट्यालोचक एवं कथालोचक की कोटिया निरूपित कर हिंदी साहित्यालोचना में यह पहचानने का प्रयत्न किया है कि किस विधा का कौन-सा आलोचक है, जिससे आलोचना की सही-समझ भी विकसित होती है। इसके अन्तर्गत साक्षात्कृत ने रघुवंश, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, मुक्तिबोध, अज्ञेय, रामधारी सिंह दिनकर, रामदरश मिश्र, बिजेंद्र नारायण सिंह, रमेशचंद्र

शाह, अशोक वाजपेयी, प्रभाकर श्रोत्रिय, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, इन्द्रनाथ मदान, नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी, निर्मल वर्मा, परमानंद श्रीवास्तव, गोपाल राय, मधुरेश, धनंजय वर्मा, कमल किशोर गोयनका, नवल किशोर, नेमिचंद्र जैन, जयदेव तनेजा, गिरीश रस्तोगी, दशरथ ओझा तथा विपिन कुमार अग्रवाल का नाम परिगणित किया है। साथ ही साक्षात्कारदाता ने ‘नवलेखन’ (के नयी कविता, नयी कहानी एवं नवगीत) आलोचकों को भी संकेतित किया है, जिनमें शिवप्रसाद सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, लक्ष्मीकांत वर्मा एवं गिरिजाकुमार माथुर का नाम उल्लेखनीय है।

आलोच्य कृति में साक्षात्कृत ने नामवर सिंह की स्थापना कि ‘ऐतिहासिक आलोचना’ की कोई सरणि नहीं होती का सप्रमाण खण्डन किया है, जो अपने आप में विशेष महत्व रखता है। यथा- “जब किसी एक रचना की आलोचना समय-समय पर आलोचकों द्वारा की जाती है और उसमें जो आलोचनात्मक दृष्टि से पाठ की समझ की भिन्नता और विकसनशीलता स्पष्ट होती जाती है, उसे ऐतिहासिक आलोचना कहा जाता है।”

ऐतिहासिक आलोचना अपने प्रतिपाद्य में जीवन-वृत्तीयता को भी समेटती है। इस दृष्टि से डॉ. रमेशकुंतल मेघ के द्वारा जयशंकर प्रसाद की ‘आँसू’ शीर्षक कविता और उनकी प्रेमिकाओं को लेकर लिखा गया निबंध ऐतिहासिक आलोचनात्मक निबंध है। इसी तरह ‘दूसरी परंपरा की खोज’ में स्वयं नामवर सिंह द्वारा हजारी प्रसाद द्विवेदी के विषय में उठाए गए जीवन-वृत्तीय प्रसंग भी ऐतिहासिक आलोचना का ताना बाना बुनते हैं।” (वही, पृ. १६७, १६९) आलोच्य-कृति में प्रणालीमूलक आलोचना के अन्तर्गत प्रो. शीतांशु ने तुलनात्मक आलोचना, फंतासीपरक आलोचना, सर्जनात्मक आलोचना, निर्वचनात्मक आलोचना के साथ ही प्रत्यालोचना पर भी विशेष रूप से उनके स्वरूप एवं विशिष्टताओं को संकेतित किया है। प्रत्यालोचना के संदर्भ में उनका उत्तर विशेषीकृत का स्थान प्राप्त करता है यथा- “प्रत्यालोचना अंग्रेजी ‘काउंटर क्रिटिसिज्म’ (Counter Criticism) का हिंदी रूपांतर है। वास्तव में यह आलोचना की आलोचना है। जब कभी आलोचना पक्षपातपूर्ण तर्कविहीन,

असंगत, त्रुटिपूर्ण स्खलनों से भरी होती है तब पाठक-वर्ग को गुमराह होने से बचाने के लिए और सही वस्तुस्थिति को उद्घाटित करने के लिए प्रत्यालोचना अपेक्षित हो उठती है। इसकी प्रणाली निषेधात्मक या खण्डनात्मक होती है। इस दृष्टि से आप चाहें तो प्रत्यालोचना को आलोचना की खण्डनात्मक प्रणाली मान सकती हैं।” (वही, पृ. १७६-१७७) प्रत्यालोचना वे स्वरूप विवेचन के साथ उसका इतिहास भी साक्षात्कृत ने प्रस्तुत किया है और हिंदी प्रत्यालोचना के क्षेत्र में डॉ. रामविलास शर्मा को उसका ‘शिखर-पुरुष’ स्वीकार किया है- “एक प्रत्यालोचक के लिए पूर्ण अधीती व्यक्तित्व अपेक्षित होता है। इसके साहित्येतिहास, सिद्धांत रचना और उसके भावन की क्षमता के साथ-साथ पूर्ण साहित्य-विवेक भी अपेक्षित होता है। रामविलास जी इन सारी क्षमताओं से लैस रहे हैं। इसलिए वह प्रत्यालोचना के अकेले शिखर-पुरुष हैं। (वही, पृ. १७६, १७७-१७८)

समीक्ष्य-कृति में साक्षात्कृत ने हिंदी के अभिनव साहित्यांदोलनों उत्तर आधुनिकतावाद, स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श और आदिवासी विमर्श से सम्बद्ध भी अपने मंतव्यों को प्रकाशित किया है। उनके अनुसार “उत्तर-आधुनिकतावाद महानगरों के एक सिमटे हुए वर्ग का जीवन-मूल्य है। किंतु जहाँ तक आलोचना का संबंध है, उत्तर-आधुनिकता ने आलोचना के कुछ मूल्यमान विकसित और निर्धारित किए हैं। मैं इन्हें समर्थ और सशक्त मूल्यमान के रूप में देखता हूँ।” स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श तथा आदिवासी विमर्श को जिस रूप में विभाजित करके देखा जाता है। शीतांशु जी उसके पक्षधर नहीं हैं, अपितु वे इनको विभिन्न मुद्दों के साथ जोड़कर देखने के पक्षधर हैं। यहीं नहीं भूमण्डलीकरण के प्रभावस्वरूप उत्पन्न साहित्यालोचन की प्रवृत्तियों पर भी उन्होंने ध्यानकेंद्रित किया है तथा उससे उत्पन्न संकट का समाहार वह गाँधीवादी दर्शन में प्राप्त करते हैं- “जब मैं गाँधी की पुस्तक ‘हिंद स्वराज’ में अभिव्यक्त उनके विचारों का स्मरण करता हूँ तब मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि

स्वतंत्र भारत के राजनेता और प्रधानमंत्री नेहरू ने जिस पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरजीह दी और भारतीय नैतिक शिक्षा और मूल्यों की घोर उपेक्षा की, ‘स्वराज’ के गाँधीवादी अर्थ को खारिज किया, उसने ही हमें अंततः इस मुकाम पर लाकर खड़ा कर दिया। आज हम भूमण्डलीकरण से बच तो नहीं सकते, पर यदि गाँधी की मान्यता को आचरित करें तो अपनी भारतीयता को बचाए रखने की स्थिति में अवश्य हो सकेंगे।” (वही, पृ. १८६)

साक्षात्कृत ने साहित्येतिहास गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिंदी साहित्य तथा स्वयं की आलोचना वैशिष्ट्य से सम्बद्ध प्रश्नों का भी समुचित साभिप्राय एवं सप्रमाण उत्तर दिया है, किंतु उसका मूल्यांकन उक्त कृति को पढ़कर ही किया जाए तो अत्यधिक उपयुक्त होगा। विवेच्य कृति की एक अन्य विशिष्टता को संकेतित करना समीचीन होगा कि इसमें कथा-सूत्र की अन्विति बनी रहती है, जो पाठक को ‘आलोचना’ जैसी सर्वाधिक ‘कठिन’ विषय भी कहानी जैसी रोचकता के साथ हृदयंगम कराती है।

वस्तुतः समीक्ष्य कृति समसामयिक युग में हिंदी आलोचना की गति-अगति, उसके समक्ष उत्पन्न संकट एवं उसके दिशा-निर्धारण पर गंभीरतापूर्वक अनेक क्षितिजों का उद्घाटन करती है। अतः यह कहना समीचीन होगा कि उक्त कृति हिंदी आलोचना को समग्रता में समझने की दिशा में एक ‘माइल स्टोन’ है। और यदि तुलसी के शब्दों में विपर्यस्त रूप में कहा जाय तो यही कहा जा सकता है- “जौं कृति के गुन सब कहऊँ। बाढ़ि कथा पार नहिं लहऊँ।” यह कोरा प्रशस्ति वाचन नहीं है अपितु यथार्थतः सत्य है।

पुस्तक : हिंदी आलोचना और उसके आर-पार: डॉ. ‘शीतांशु’ से साक्षात्कार (साक्षात्कार)

साक्षात्कारकत्री एवं संपादिका: डॉ. सपना शर्मा

समीक्षक: डॉ. अर्चना पाण्डेय

प्रकाशक: भारत पुस्तक भंडार, नई दिल्ली

संस्करण: प्रथम (२०११)

मूल्य: ४५० रुपये मात्र

संपर्क: द्वारा श्री प्रदीप कुमार पाठक

311, रबीन्द्र सरणी, नूतन बाजार,

कोलकाता- 700006, मो. 9830839032

हलाला: स्त्री-शोषण का आख्यान

आरती (शोधार्थी)

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

भगवानदास मोरवाल का नवीनतम उपन्यास 'हलाला' है। जो धर्म की आड़ में स्त्री-शोषण का आख्यान है। इससे पूर्व भी भगवानदास मोरवाल अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन के दुःख-दर्द और उनके संघर्षों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर चुके हैं। आमतौर पर, मुसलमान स्त्रियों के बुरका-प्रथा, बहुविवाह-प्रथा, तीन तलाक जैसी कुप्रथाओं से हम सभी भली-भांति परिचित हैं। लेकिन मुस्लिम समाज में 'हलाला' की जानकारी बहुत कम लोगों को है। भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'हलाला' मुस्लिम स्त्रियों की व्यथा, उनके संघर्ष और जीवन की त्रासदी की कहानी है। अपने लेखन के विषय में गहरे सामाजिक सरोकार, लोकजीवन के रंग और किस्सागोई शैली से युक्त उनका यह उपन्यास भी एक गंभीर समस्या पर विचार-विमर्श करता है।

मुस्लिम समाज में 'हलाला' का अर्थ है- यदि कोई व्यक्ति गुस्से में, आपसी झगड़े में या फिर नशे में अपनी पत्नी को तीन तलाक देता है और बाद में अपनी गलती सुधारने के लिए वह व्यक्ति अपनी तलाक दी हुई पत्नी से पुनः शादी करना चाहता है, तो उसके लिए उसकी पत्नी को किसी दूसरे पुरुष से शादी कर उसके साथ संभोग करना अनिवार्य है। इसके बाद उसका दूसरा पति उसे अपनी मर्जी से तलाक दे या उसकी मृत्यु हो जाये तब जाकर वह स्त्री अपने पहले पति से पुनः शादी कर सकती है। इसी प्रथा को 'हलाला' कहा जाता है। जिसमें गलती पुरुष करता है और सजा स्त्री को भुगतनी पड़ती है। पुरुष वर्ग ने कुरान और हदीसों अर्थात् धर्म की आड़ में स्त्री को एक भोग्य की वस्तु मात्र बना दिया है। 'हलाला' को वेश्यावृत्ति की संज्ञा दी जाये तो यह गलत न होगा। प्रस्तुत उपन्यास में नजराना को तीन तलाक और हलाला जैसी अमानवीय प्रथा का शिकार होना पड़ता है।

भगवानदास मोरवाल इस उपन्यास के माध्यम से भारतीय मुस्लिम स्त्रियों की समस्याओं और संघर्षों की नयी कहानी रचते हैं, लेकिन पूरे उपन्यास के केन्द्र में नजराना के अलावा डमरू का चरित्र भी आरंभ से लेकर अंत तक सजीव और साकार बना रहता है। उपन्यास का आरंभ भी डमरू से होता है। जो अपने सगे भाइयों और भावजों के साथ रहता है। डमरू दिखने में कुरूप और काला है। इसलिए पूरा गाँव उसे कलसंडा कह कर बुलाता है। यहाँ तक उसकी भावज आमना भी उसे जब तब कलसंडा कहकर ही चिढ़ाती रहती है। पूरे घर में बड़ी भावज नसीबन ही है जो चाहती है कि कहीं से भी उसके देवर डमरू का घर बस जाये। घर के अन्य सदस्य यह नहीं चाहते क्योंकि इससे घर का चौथा हिस्सा भी होगा। जो आमना और फातिमा बिल्कुल नहीं चाहते हैं। अब डमरू को दुनियादारी में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह अपना अधिक से अधिक समय अल्लाह की इबादत में लगाता है। डमरू सिर्फ सभी कि हितों की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह जाता है। घर से लेकर खेत तक कि जिम्मेदारी उठाने वाला डमरू घर की सम्पत्ति का भागीदार तो दूर, उचित मान-सम्मान के लिए भी तरसता रहता है।

उपन्यास में लपरलेंडी एक ऐसा पात्र है जिसे पूरे गाँव-मोहल्ले की छोटी से लेकर बड़ी हर बात की जानकारी सबसे पहले पता चलती है। डमरू को लपरलेंडी से ही ज्ञात होता है कि हाजी खुदा बख्श उर्फ टटलू सेठ के घर में उनके मझले बेटे और बहू नजराना के बीच झगड़ा तलाक तक पहुँच गया है। वह डमरू पर जोर देकर कहता है कि पूरी बात का पता करके मुझे बताए। डमरू अपनी बड़ी भावज से पूछता है तब नसीबन

बताती है, “वैसे तो दुनिया सेठ बणी डोले है...सो मूसान्ने खाके हाजी बणा हाँडे है और करम ऐसा कि बताते हुए भी सरम आवे है। वैसे ये सारा बीज या हरामी टटलू का बोया हुआ है। वाही की ही बेटाबहू पै गलत नजर...जब बहू काबू में न आयी तो ई अफवाह उड़ा दी के वाको चाल-चलन ठीक ना है। ऐसा रावणन् सू हम कहान् तलक बचती डोलें...” (पृ. ७७) इस तरह स्त्रियाँ घर के बाहर तो असुरक्षित और भययुक्त जीवन जीती ही हैं लेकिन नजराना जैसी अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं जो आज भी अपने ही घर में असुरक्षित जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं।

कुरान में लिखा है, “मर्द औरतों के सिरधरे (कव्वाम) हैं। इसलिए अल्लाह ने एक को दूसरे पर प्रमुखता दी है। तो जो नेक औरतें होती हैं। वे अपने शौहरों का आज्ञा पालन करने वाली और उनकी गैर-मौजूदगी में अल्लाह की तौफ़ीक से उनके हकों की हिफाजत करने वाली होती हैं।” (पृ. ३३) कुरान में जिस नेक और भली औरत का चित्रण किया गया है वह नजराना पर पूरी तरह उचित बैठता है। उसके आने से टटलू सेठ के घर में उन्नति हुई। यह बात पूरा गाँव जानता है। तीन-तीन बच्चों की माँ होने पर भी किसी ने नजराना को ऊँची आवाज में बात करते हुए नहीं सुना। वह अपने पति के साथ निबाह करने के सारे तौर तरीकों का मन से पालन करती रही है। उसके बावजूद टटलू सेठ उस पर झूठा आरोप लगाते हैं। उस आरोप में नियाज भी अपने पिता का साथ देता है। सारे कानून और नियम केवल स्त्रियों के लिए बनाए गए हैं। ऐसा लगता है कि कुरान की सारी आदातें महिला-विरोधी हैं। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण है कि इस्लाम एक कट्टरपंथी धर्म है। कट्टरपंथी धर्म-ग्रंथों में लिखी गयी बात पत्थर की लकीर है, जिसे मिटाना असंभव है। यही विचार देश के कानून-नियमों में हस्तक्षेप करती पाई जाती हैं। इसलिए मुस्लिम स्त्रियों से संबंधित कानूनों और नियमों में इस धर्मग्रंथों का पूर्ण रूप से हस्तक्षेप अद्यतन जारी है। मुस्लिम स्त्रियाँ अपने ही समाज में असमानता की पीड़ा झेल रही हैं और धार्मिक कट्टरपन के स्थायी रूप के कारण अपने संवैधानिक अधिकारों पाने में भी वंचित हैं।

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सदियों से शोषित और प्रताड़ित होती आयी है। उसे समाज में द्वितीय प्राणी का

दर्जा दिया गया है। यही सदियों से स्त्री की नियति बन गयी है। लेकिन अब धीरे-धीरे स्त्री की स्थिति में परिवर्तन आने लगा है। स्त्री अपने अधिकारों और स्वतंत्रता के प्रति सचेत हुई है। यह परिवर्तन तब तक अधूरा है जब तक भारत में मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में सुधार नहीं हो जाता है। मुस्लिम निजी कानून भारत में एकमात्र ऐसा कानून है। जिसमें बहुविवाह, तीन तलाक, हलाला आदि को मान्यता प्राप्त है। इसके कारण भारतीय मुस्लिम स्त्रियों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उसे दूर करने के लिए उचित कदम नहीं उठाये गये हैं। उपन्यास में नजराना के बिना किसी गलती के नियाज उसे तलाक देता है। बाद में टटलू सेठ और नियाज अपनी गलती सुधारने के लिए नजराना से भरी पंचायत में माफी माँगते हैं और अपने घर उसे दोबारा लेना चाहते हैं। तभी पंचायत हलाला की बात करने को बोलती है। नजराना की सास कल्लो और टटलू सेठ का ऐसे पुरुष की तलाश करना, कल्लो का नसीबन के पास जाना, डमरू को निकाह के लिए मनाना, नसीबन का कल्लो को आश्वासन देना, डमरू का जमात से वापस आना, नसीबन के कहने पर डमरू का निकाह के लिए राजी होना। अतः नजराना और डमरू का निकाह होना और फिर इमाम यानी याहिया खुर्रम को बुलाना। इमाम का संबंध मेवात से नहीं है। उन्हें तो दारुल उलम से इसलिए बुलाया गया है कि बहुत से चंद्रवंशियों और सूरजवंशियों को लगता है कि वे पूरी तरह मुसलमान नहीं बन पाये हैं। तो यही इमाम तलाक से पहले डमरू से पूछते हैं कि तुम अपनी पत्नी के साथ ‘हमबिस्तर’ हुए हो? इमाम की इस बात पर पूरा गाँव चौंक जाता है। तब वह पुनः कहते हैं, “मियाँ डमरू जाओ! पहले शरीअत और हदीसों के मुताबिक हलाला करो। यह तभी जायज माना जायेगा, और तभी तुम्हारी बीबी अपने पहले शौहर के लिए हलाल होगी। बिना हमबिस्तर के तलाक के बारे में सोचना भी गुनाह है।” (पृ.सं. १३०) इमाम की यह बात सुनकर कल्लो जो पहले अपने बहू को घर लाने के लिए नसीबन के आगे गिड़गिड़ाती है ताकि डमरू निकाह के लिए मान जाए, उसे मनाने के लिए कल्लो डमरू के पाँवों में सिर से दुपट्टा तक उतारकर डाल देती है। आज उसी कल्लो को नजराना को फिर से बहू के रूप में स्वीकार नहीं है क्योंकि उसे हलाला

के लिए अपने दूसरे शौहर के साथ हमबिस्तर होना पड़ेगा। इसके लिए नजराना डमरू के पास तक जाती है लेकिन डमरू टस से मस नहीं होता। डमरू को लगता है कि वह अपने भाइयों और भावजों के कहने पर फँस गया है। निकाह तो उसने इसलिए कर लिया था कि इससे एक औरत की जिंदगी खराब होने से बच जायेगी। पर अब उसे हमबिस्तर होना पड़ेगा जो उसे स्वीकार नहीं था।

धर्म की आड़ में फंसी नजराना अब कहाँ जाये? उसका भविष्य क्या होगा और उसके बच्चों का क्या होगा? नसीबन के मनाने पर नजराना स्वयं डमरू के पास जाती है। कैसी विडंबना है कि एक स्त्री स्वयं अपने दैहिक शोषण के लिए एक पराये पुरुष के सामने प्रस्तुत है और यह सब उस पति के लिए, जिसके कारण उसकी स्थिति इतनी दयनीय हो गयी है। कुरान में लिखा है, “तो अगर उसे (स्त्री) तलाक दे दो तो फिर उसके (पहले शौहर) लिए यह जायज नहीं है जब तक कि दूसरे मर्द से निकाह न कर ले। फिर अगर वह (दूसरा शौहर) उसे तलाक दे दे, तो फिर इन दोनों के लिए एक-दूसरे की और पलटने में कोई बुराई न होगी।” (पृ. सं. १४४) उपर्युक्त आयत में यह कहीं नहीं लिखा है कि हलाला के लिए स्त्री को अपने दूसरे शौहर के साथ हमबिस्तर होना आवश्यक है वरन् तलाक नहीं होगा। वस्तुतः सब नियम मुल्ले-मौलवी की देन है। जिन्होंने हलाला को व्यवसाय बना लिया है और साथ में दस-बीस बेकार नौजवान पाल रखे हैं। जो रुपये लेकर हलाला का धंधा करते हैं। जहाँ भी तलाक की सूचना मिलती है वहीं यह मुल्ले-मौलवी हलाला करने धमक जाते हैं। अल्लाह का हुक्म समझकर और आर्थिक परावलम्बन के कारण बेबस मुस्लिम स्त्रियाँ सब कुछ चुपचाप सहती हैं। धर्म-ग्रंथों की आड़ में मौलवी और इमाम अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। इन्हीं के कारण स्त्रियों की दशा में कोई सुधार नहीं हो रहा है।

उपन्यास के अंत में लेखक की मौन नजराना विद्रोह करती है और स्वयं पंचायत के सामने प्रश्न करती है,

“मेरी आबरू तो या आदमी ने वाही दिन तार-तार कर दी ही, जा दिन याने चौड़ा में मेरो आसरा छीन लियो हो, और मैं एक पराया मरद के संग सोण कू मजबूर कर दी ही। मैं तो उल्टो सारा पंचन सू पूछणो चाहरी हूँ के तम सब अपणा-अपणा दिल पे हाथ धर के ईमानदारी सू पूछो के कोहे ऐसा आदमी के संग जानो चाहिए, या ना?” (पृ. सं. १७८) सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि हलाला पूरा होने के बाद क्या गारंटी थी कि नियाज़ अपनी पत्नी नजराना को अपना लेता या फिर उसके चरित्र पर कभी सवाल न उठता। यही कारण है कि नजराना अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेती है और डमरू के साथ रहने का निश्चय करती है।

प्रस्तुत उपन्यास में भगवानदास मोरवाल ने पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष-वर्चस्व के आतंक के भीतर शोषित स्त्रियों के जीवन की व्यथा को चित्रित किया है। लेखक यह महसूस करते हैं कि हमारे धर्मग्रंथ भी पुरुष-वर्चस्व का ही समर्थन करते हैं। और रही सही कसर धर्म को हथियार बना कर मौलवी-इमाम अपने स्वार्थ सिद्ध करते हैं। वस्तुतः इन सब के बीच स्त्री ही प्रताड़ित और शोषित होती है। लेखक ने भारतीय मुस्लिम स्त्रियों के शोषण और समस्याओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। अन्य देश की मुस्लिम स्त्रियों की तुलना में भारतीय मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। स्त्रियों के लिए तुर्की, इराक, सीरिया, पाकिस्तान, बंगलादेश आदि देशों में कई प्रकार के सुधार लागू किये गये हैं। वहीं भारत में जब भी मुस्लिम स्त्रियों की सुधार की मांग उठती है तो शरीअत और हदीसों का हवाला देकर इसे दबाने की कोशिश की जाती है।

पुस्तक : हलाला (उपन्यास)

लेखक: भगवानदास मोरवाल

समीक्षक : आरती

प्रकाशक: वाणी प्रकाशन

संस्करण: प्रथम, २०१६

मूल्य: १७५ रुपये मात्र

संपर्क: बी-136 विकास विहार (ईस्ट), विकास नगर,
उत्तर नगर, नई दिल्ली- 110059, मो. 9716668064

‘मुक्तांचल’ का जनवरी-मार्च २०१७ अंक मिला। धन्यवाद! अंक कुल मिलाकर बेहतर लगा। इसमें प्रकाशित अधिकांश आलोचनात्मक लेख व टिप्पणियाँ अच्छे लगे। प्रो. राकेश भारतीय, व्यासमणि त्रिपाठी और मीना कुमारी के आलोचनात्मक लेख खास तौर पर पसंद आये। इसमें प्रकाशित गंगा प्रसाद विमल से लक्ष्मण प्रसा गुप्ता की बातचीत और रामदरश मिश्र, पूनम सिंह की कहानियाँ तथा शोभा सिंह व राजेश जोशी की कविताएँ अच्छी लगीं।

रामनिहाल गुंजन, आरा, बिहार

‘मुक्तांचल’ का नया अंक मिला। अन्य वैचारिक रचनाओं के अलावा सबसे ज्यादा आकर्षण ‘पिछले पन्ने से’ ने ज्यादा खींचा है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण स्तंभ है अपने विरासत को याद रखने के लिए। हम पुरानी रचनात्मक सृजन को भूलते जा रहे हैं। यह स्तंभ प्रत्येक साहित्यिक पत्रिकाओं को आजमाना चाहिए। इससे नये लेखकों को ऊर्जा मिलती है। दस्तावेज की खोज का उत्साह बढ़ता है। संभव हो तो इसे कायम रखिए।

सिद्धेश, कोलकाता

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति ब्याज

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सरणी, कोलकाता- 700007

पूजा बुक हाउस : 454, रवीन्द्र सरणी, नियर बी.के. पॉल, कोलकाता- 700005

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

राजकमल प्रकाशन : शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-१७

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन: 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,

धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

प्रभात बुक सेंटर : सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,

मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल: आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

गोविंद न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैंट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतराज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतराज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतराज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतराज्यों की भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoynanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...

सुधीश पचौरी

आधुनिक हिंदी समीक्षा जो मूलतः यूरोप के आधुनिकतावादी विभिन्न संप्रदायों से प्रभावित रही है, यदि आज की स्थितियों की कोई सर्वाश्लेषी व्याख्या में नाकाम नजर आती है, और अपने जगत की सांस्कृतिक समस्याओं के समक्ष दयनीय नजर आती है तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि आधुनिक हिंदी समीक्षा जहाँ से उधार लेती रही है, आज समीक्षा का संकट वहीं ज्यादा गहराया है। पश्चिमी समीक्षाशास्त्र में कल तक बेहद दबाव रखने वाले तमाम संप्रदाय और समीक्षक-चिंतक तथा एफ.आर. लीविस, आई.ए. रिचार्ड्स, अमरीकी नव्यालोचना और संरचनावादी संप्रदायों से प्रेरित-प्रभावित समीक्षाएँ अब अपने समय से बहुत पीछे नजर आती हैं। हिंदी की समीक्षा में तो अभी संरचनावाद भी पूरी तरह से प्रवेश नहीं कर पाया है, लेकिन जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ भी अधिकचरापन अधिक है।

हमारी समीक्षा अभी रूप और अंतर्वस्तु की कभी न पाई जाने वाली द्वंद्वात्मकता, प्रतिबद्धता और स्वतंत्रता, अनुभववाद और इतिहासवाद के युग्मों के उजाड़ में किसी बिजुके की तरह खड़ी है। नव्यालोचना ने साहित्य को भाषा का पर्याय नहीं माना और साथ ही उसकी स्वायत्तता की रक्षा भी करनी चाहिए। रिचार्ड्स ने अपनी पहली पुस्तक 'द मीनिंग ऑफ द मीनिंग' में भाषा के दो कार्यों को बताया। एक प्रतीकात्मक अथवा संदर्भात्मक जो बाहरी दुनिया के बारे में कहती है। दूसरी भाषा भावात्मक है जो व्यक्तिगत भावनाएँ जगाती है। पहले का उदाहरण विज्ञान की भाषा है। दूसरे का उदाहरण काव्यभाषा है। भावात्मक भाषा, रिचार्ड्स के लिए काव्यभाषा है जो कर्म तथा दर्शन की भाषा से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह हमारे भावक्षेत्र के स्वास्थ्य का संस्कार करती है। यही उसका मानवतावाद है। यही उसका मूल्यबोध है।

आलोचना से आगे

RNI NO. WBHIN/2014/70173

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।
संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा